तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

दूरस्थ शिक्षा

एम.ए. (उत्तरार्ध) जैनोलॉजी

(चतुर्थ पत्र)

-विषय-

जैन दर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-विभिन्न धर्म-दर्शन में आत्मा का स्वरूप	(कुल पाठ-3)
इकाई – 2	-प्रमाण-नय मीमांसा	(कुल पाठ-4)
इकाई – 3	-अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत : विभिन्न दृष्टिकोण	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-धर्म एवं विज्ञान से संबंधित महत्त्वपूर्ण विषय	(कुल पाठ-5)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (नवम्बर-2014)**

मूल्य- 300/-रुपये

ISBN-978-93-84003-44-9

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

एवं

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि अब तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी इस कोर्स को तैयार कराने में अपनी सहभागिता के साथ-साथ सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनी ज्ञानमती)

प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर द्वितीय वर्ष की इस चतुर्थ पुस्तक में 4 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं–

1. विभिन्न धर्म-दर्शन में आत्मा का स्वरूप
2. प्रमाण-नय मीमांसा
3. अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत : विभिन्न दृष्टिकोण
4. धर्म एवं विज्ञान से संबंधित महत्त्वपूर्ण विषय

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से विश्व में प्रचलित जैन एवं जैनेतर मान्यताओं के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के द्वितीय वर्ष की इस चतुर्थ पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

-8 अक्टूबर 2014, शरदपूर्णिमा

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1 — विभिन्न धर्म-दर्शन में आत्मा का स्वरूप	**1-37**
पाठ-1 जैनदर्शन में आत्मा का स्वरूप	1-17
पाठ-2 भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन	18-28
पाठ-3 आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा	29-37
इकाई 2 — प्रमाण-नय मीमांसा	**38-87**
पाठ-1 प्रमाण का लक्षण एवं परोक्ष प्रमाण के भेद : विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में	38-52
पाठ-2 प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन	53-59
पाठ-3 नय व्यवस्था	60-76
पाठ-4 नयों का समन्वयवादी दृष्टिकोण	77-87
इकाई 3 — अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत : विभिन्न दृष्टिकोण	**88-145**
पाठ-1 विभिन्न धर्म–दर्शन में अहिंसा का स्वरूप	88-100
पाठ-2 जैनधर्म में अहिंसा का विवेचन	101-110
पाठ-3 अपरिग्रह	111-118
पाठ-4 अनेकांतवाद : एक दार्शनिक विश्लेषण	119-145
इकाई 4 — धर्म एवं विज्ञान से संबंधित महत्त्वपूर्ण विषय	**146-178**
पाठ-1 मानव जीवन को संस्कारित करने के षोडश सोपान	146-151
पाठ-2 बहत्तर कलाएँ एवं चौंसठ लिपियाँ	152-161
पाठ-3 छन्द विज्ञान एवं कतिपय छन्दों के प्रयोग	162-168
पाठ-4 मानव क्लोनिंग	169-172
पाठ-5 दिगम्बर–श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर	173-178

इकाई–1 विभिन्न धर्म-दर्शन में आत्मा का स्वरूप

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) जैनदर्शन में आत्मा का स्वरूप

(2) भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन

(3) आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा

पाठ-1–जैनदर्शन में आत्मा का स्वरूप

1.1 जैनाचार्यों ने इस जगत के स्वरूप को सुस्पष्ट करने के लिए चार अपेक्षाओं से कथन किया है। द्रव्य–अपेक्षा से पंचास्तिकाय का, काल–अपेक्षा से नव पदार्थ का और भाव–अपेक्षा से सप्त तत्त्व का। जीव के मुक्तिमार्ग में इन सबका सम्यग्ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अतएव इन्हें 'प्रयोजनभूत' भी कहा जाता है। भव्य जीवों को इन्हें रत्नमाला के समान धारण कर अपने हृदय की शोभा बढ़ानी चाहिए, जैसा कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने कहा है—

अर्थ—इस प्रकार जिनमार्गरूपी समुद्र में से षड्द्रव्य रूपी रत्नों की माला भव्यों के कण्ठाभरण हेतु पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक बाहर निकाली है।

जैन आगम में इन सभी षड् द्रव्यादिकों का वर्णन 'पूर्वगत' कहलाता है, जिसका अभिप्राय है कि ये सभी पूर्व (अनादि परम्परा) से ही चले आ रहे हैं। इनका स्वरूप और कथन किसी ने नया नहीं किया है।

1.2 जैन दर्शन के अनुसार यह लोक षट् द्रव्यात्मक है—

'षड् द्रव्यात्मको लोकः'।

इसके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये छहों द्रव्य (जाति की अपेक्षा 6, संख्या की अपेक्षा अनन्तानंत) अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इनका उत्पत्ति–विनाश सर्वथा नहीं होता, मात्र अवस्था–परिवर्तन होता रहता है। ये सभी द्रव्य यद्यपि एक–दूसरे को अवगाहन देते हुए एक–दूसरे में प्रवेश करते रहते हैं, परस्पर मिल भी जाते हैं परन्तु फिर भी कभी भी कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है। यथा—

"अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।"

अर्थ—वे छहों द्रव्य एक–दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक–दूसरे को अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं तथापि अपने–अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। इसे एक उदाहरण द्वारा हम इस प्रकार समझ सकते हैं—एक संगीत सभा हो रही है। ध्वनियन्त्र (माइक) के माध्यम से सभा में विविध वाद्ययन्त्रों और गायक/गायिका की भी आवाजें पूरी सभा में प्रसरित हो रही हैं। वहाँ वे सभी आवाजें ध्वनियन्त्र के एक पतले से तार में प्रवेश करके ही परस्पर एकमेक होकर ही सर्वत्र हो रही हैं; तथापि ध्यान से देखा जाए तो वे सभी आवाजें पृथक्–पृथक् ही हैं, कोई किसी से मिली नहीं हैं; इसीलिए प्रबुद्ध श्रोता उन्हें भलीभांति पहचानते भी हैं कि यह बाँसुरी है, यह ढोलक है, यह हारमोनियम है, इत्यादि।

इसी प्रकार इस लोक में भी सर्व द्रव्य एक–दूसरे में प्रवेश करते और परस्पर मिलते हुए भी दिखाई देते हैं, पर परमार्थ से सर्व द्रव्य स्वतन्त्र हैं, पृथक्–पृथक् हैं और कोई किसी में कथमपि नहीं मिलता है। जैन दर्शन के इस

प्रतिपादन में सर्व द्रव्यों की स्वतन्त्रता का मंगल उद्घोष सुनाई देता है।

षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, नव पदार्थ और सप्त तत्त्व सम्बन्धी विवेचन को पढ़ते समय एक यह भी बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि उक्त सभी में सर्वप्रथम जीव को गिनाया गया है, जीव को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है; क्योंकि उसे समझना सर्वप्रथम जरूरी है, वही हमारा मूलभूत श्रद्धेय, ज्ञेय, ध्येय है; शेष अन्य सभी को जानने का मूल प्रयोजन भी तो एक जीव को ही जानना है; जैसा कि आचार्य श्री रामसेन ने 'तत्त्वानुशासन' में स्पष्टतया लिखा है—

पुरुष पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथाम्बरम्।
षड्विधं द्रव्यमाख्यातं तत्र ध्येयतमः पुमान्।।
सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।।

अर्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश—इस प्रकार द्रव्य के छह भेद कहे गये हैं। उन सबमें एक जीव ही ध्येयतम है। ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है इसलिए एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ध्येयतम है।

श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने भी अपने समयसारादि ग्रंथों में एक आत्मा को ही जानने की प्रबल प्रेरणा भव्य जीवों को प्रदान की है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' आदि ग्रंथों में भी इसी अपेक्षा से जीव को सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य और सर्व तत्त्वों में परमतत्त्व या अत्यन्त सारभूत कहा है। इतना ही नहीं, श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने तो अपने आध्यात्मिक ग्रंथों में यहाँ तक कह दिया है कि जो एक अपने आत्मा को जानता है, वह सब कुछ जानता है। समझ लो कि उसने द्वादशांगरूप सम्पूर्ण जिनवाणी को ही जान लिया है। यथा—

''जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।''

'जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया'—यह बात कोई भावुकता से भरकर यूँ ही नहीं कह दी गयी है; अपितु पूर्णतया युक्तिसंगत भी है। 'जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब जान लिया'—इस कथन को परमात्मप्रकाश, दोहा 1/99 की टीका में आचार्य श्री ब्रह्मदेवसूरि ने भलीभाँति 4 तर्कों द्वारा सिद्ध किया है, जो गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने योग्य है। यथा—

1. सम्पूर्ण लोक में या सर्व ग्रंथों में सार एक आत्मा ही है अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

2. आत्मा को जानने पर स्व और पर के भेद से विद्यमान सब कुछ जान लिया जाता है अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

3. आत्मा को जानने पर श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञान से सर्व लोकालोक जानने में आ जाता है अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

4. आत्मा को जानने पर शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त होता है जो लोकालोक को जानता है अतः जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

अतः हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर एक अपने आत्मतत्त्व को ही भलीभांति जानने का पुरुषार्थ करना चाहिए। हमारी समस्त क्रियाओं का एक मात्र लक्ष्य (प्रयोजन) अपने आत्मा को जानना ही होना चाहिए। यहाँ तक कि स्वाध्याय करते समय भी, ग्रंथों के विभिन्न विषयों को पढ़ते, सुनते–समझते समय भी, एक अपने आत्मतत्त्व के श्रद्धान–ज्ञान–ध्यानरूप मूलभूत प्रयोजन का स्मरण सदैव रखना चाहिए।

1.3 आत्मा के पर्यायवाची शब्द—

जैन शास्त्रों में 'आत्मा' के अनेक पर्यायवाची या समानार्थक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम हमें उनको जान लेना चाहिए क्योंकि उनके द्वारा भी आत्मा का स्वरूप—बोध स्पष्टतर होता है। संक्षेप में आत्मा के कुछ प्रमुख पर्यायवाची इस प्रकार हैं—

(1) जीव—आत्मा के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। आत्मा जीता था, जीता है और भविष्य में भी सदा काल जीता रहेगा अतः इसे जीव कहते हैं।

(2) ज्ञ—आत्मा सदा काल जानता है, आत्मा के अतिरिक्त संसार का कोई भी अन्य पदार्थ जानने का कार्य नहीं करता इसलिए आत्मा को 'ज्ञ' भी कहते हैं।

(3) ज्ञानी—आत्मा ज्ञान गुण का स्वामी है, उसमें ज्ञान गुण पाया जाता है, उसके अतिरिक्त संसार के किसी भी अन्य पदार्थ में ज्ञान गुण नहीं पाया जाता है इसलिए आत्मा को 'ज्ञानी' भी कहते हैं। यहाँ 'ज्ञानी' का अर्थ 'विद्वान्' नहीं है अपितु 'ज्ञान गुण का स्वामी' या 'ज्ञान गुण से सहित' है।

(4) ज्ञाता—आत्मा ज्ञान क्रिया का कर्ता है अतः ज्ञाता कहलाता है।

(5) प्राणी—वास्तव में आत्मा दो प्रकार का है—संसारी और मुक्त। 'प्राणी' संसारी आत्मा का पर्यायवाची है क्योंकि संसारावस्था में यह आत्मा प्राणों से सहित अथवा प्राणों का धारक होता है। प्राण चार प्रकार के कहे गये हैं—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रियाँ पाँच होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण; बल तीन होते हैं—मनबल, वचनबल एवं कायबल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास। इस प्रकार कुल मिलाकर प्राणों की सख्या दस भी कही जाती है। मुक्त आत्माएँ इन सर्व प्राणों से रहित होती हैं अतः उन्हें 'प्राणी' कहना ठीक नहीं है।

(6) शरीरी—शरीर सहित होने के कारण संसारी आत्मा को 'शरीरी' भी कहते हैं।

(7) देही—देह भी शरीर को ही कहते हैं। संसारी आत्मा सदा देह सहित रहता है अतः उसे 'देही' कहते हैं।

(8) जन्तु—चतुर्गतिरूप संसार में जन्म-मरण करते रहने के कारण संसारी आत्मा का एक पर्यायवाची नाम 'जन्तु' भी प्रचलित है।

(9) अग्र—'अग्र' शब्द का अर्थ है—गमन करना या जानना। आत्मा ही ऐसा पदार्थ है जो गमन (परिणमन) भी करता है और जानता भी है; अतः उसे अग्र कहते हैं। छहों द्रव्यों, सातों तत्त्वों और नवों पदार्थों में अग्र अर्थात् प्रधान होने से भी आत्मा को 'अग्र' कहा जाता है।

(10) पुरुष—आत्मा का एक नाम पुरुष भी है। पुरु का अर्थ है—ज्ञान या चेतना। जो ज्ञान या चेतना में शयन करे, निवास करे, उसे पुरुष कहते हैं। आत्मा सदैव ज्ञान या चेतना में ही निवास करता है, कभी भी ज्ञानरहित नहीं होता अतः आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं।

'पुरुष' शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी किया गया है कि जो उत्तम गुणों में शयन करे, उनका भोग भोगे वह पुरुष है। आत्मा सदैव अपने ज्ञान-आनन्दादि उत्तम गुणों में शयन करता है अतः इस दृष्टि से भी आत्मा को पुरुष कहते हैं।

(11) पुमान्—'पुरुष' की भाँति 'पुमान्' का भी अर्थ 'आत्मा' ही होता है क्योंकि जो आत्मा को पवित्र करे वही तो 'पुमान्' है।

(12) समय—'समय' शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ होते हैं—काल, युद्ध, मत, अधिकार आदि, परन्तु समयसारादि अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों में 'समय' शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया गया है। तदनुसार 'समय' शब्द 'सम् + अय' से बना है। 'सम्' का अर्थ है एक साथ और 'अय्' का अर्थ है जानना एवं परिणमन करना। विश्व के

समस्त पदार्थों में से एक आत्मा ही ऐसा पदार्थ है जो एक साथ जानता एवं परिणमन करता है अतः आत्मा को 'समय' कहते हैं।

(13) चेतन—जो पहले भी चेतता (जानता) था, अभी भी चेतता है और भविष्य में भी सदा चेतता रहेगा उसे चेतन कहते हैं और वह आत्मा ही है—

''यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा।
चेततीत्थं यदत्राऽद्य तच्चिदद्रव्यं समस्म्यहम्।।''

'जीव' और 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति और उनका विशेष अभिप्राय

शास्त्रों में यद्यपि जीव के उपर्युक्त अनेक पर्यायवाची शब्द गिनाए गये हैं परन्तु प्रयोग, जीव और आत्मा—इन दो शब्दों का ही सर्वाधिक हुआ है अतः इन दो शब्दों को विशेषरूप से समझना आवश्यक है। 'जीव' शब्द की व्युत्पत्ति और अभिप्राय इस प्रकार बताया गया है कि जो जीता है, जीता था और भविष्य में भी जिएगा, वही जीव है। यथा—

''णाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।।''

अर्थात् जो चार प्राणों से जीता है, जिएगा और पहले जीता था, वह जीव है। अथवा—

'दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति, अजीवीत् जीविष्यति इति वा जीवः।''

अर्थात् जो तीनों कालों में जीवन का अनुभवन करने वाला होने से पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन दस प्राणों में से अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार गृहीत प्राणों से जीता है, जीता था और जिएगा; वह जीव है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि संसारी जीव ही इन चार या दस प्राणों से जीता है, सिद्ध जीव नहीं; सिद्ध जीव तो अपने चैतन्य प्राणों से जीते हैं अतएव वृहद् द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथों में जीव की परिभाषा इस प्रकार लिखी गई है कि जो व्यवहार से इन्द्रियादि प्राणों से जीता है और निश्चय से अपने चैतन्य प्राणों से जीता है, वह जीव है। यथा—

''तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।''

'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति और अभिप्राय यह है कि जो सदा ज्ञानादिरूप से गमन (परिणमन, परिवर्तन या उत्पाद-व्यय) करे, वह आत्मा है। 'आत्मा' शब्द संस्कृत की 'अत्' (अत सातत्यगमने) धातु से बना है, जिसके दो अर्थ होते हैं—गमन और ज्ञान। यहाँ दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं; जैसा कि वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 57 की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने स्पष्ट किया है—

''अथात्मशब्दार्थः कथ्यते—'अत्' धातु सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इति वचनात्। तेन कारणेन यथासम्भवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः, स आत्मा भण्यते।''

अर्थ—अब 'आत्मा' शब्द का अर्थ कहते हैं—'अत्' धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में है और 'सब गमनार्थक धातुएँ ज्ञानात्मक अर्थ में होती हैं'—इस वचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासम्थव ज्ञान सुखादि गुणों में सर्व प्रकार वर्तता है, वह आत्मा है।

इसी प्रकार का भाव अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रगट किया गया है।

1.4 जीव और आत्मा में अन्तर—

यद्यपि जीव और आत्मा वस्तुतः एकार्थवाची हैं, उन दोनों का स्वरूप एक ही है, उन दोनों के स्वरूप में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है; तथापि प्रयोग के स्तर पर इन दोनों शब्दों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर दिखाई देता है, जिसे

समझना यहाँ अत्यन्त लाभदायक होगा।

'जीव' शब्द का प्रयोग तब किया जाता है, जब शास्त्रीय, सैद्धान्तिक या दार्शनिक चर्चा होती है किन्तु आत्मा शब्द का प्रयोग तब किया जाता है, जब आध्यात्मिक चर्चा हो रही हो। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जीव ज्ञान का विषय है, अध्ययन का विषय है; परन्तु आत्मा ध्यान का विषय है, अनुभूति का विषय है अथवा इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि जीव विश्वविद्यालयों का विषय है और आत्मा आश्रमों का।

वस्तुतः जीव तो हम सभी हैं पर आत्मा सिर्फ अपने जीव को, स्वयं को ही कहा जाता है। जिस प्रकार पुरुष तो बहुत हैं, सभी को पुरुष कहा जाता है लेकिन पति सिर्फ अपने ही पुरुष को कहा जाता है; स्त्रियाँ तो बहुत हैं, सभी को स्त्री कहा जाता है लेकिन पत्नी, सिर्फ अपनी ही स्त्री को कहा जाता है; मकान तो बहुत हैं, सभी को मकान कहा जाता है लेकिन घर सिर्फ अपने मकान को ही कहा जाता है; उसी प्रकार जीव तो अनन्त हैं, सभी को जीव कहा जाता है पर आत्मा केवल स्वयं को ही कहा जा सकता है; मैं अपने लिए आत्मा हूँ पर आपके लिए जीव। इसी प्रकार अपने लिए आत्मा हैं, पर मेरे लिए जीव।

'आत्मा' शब्द में निजता या अपनत्व का भाव समाविष्ट है; जैसा कि हम आत्मकथा, आत्मप्रशंसा, आत्मश्लाघा, आत्मरक्षा, आत्मनिन्दा, आत्मवंचना, आत्महत्या, आत्महित, आत्मतुष्टि आदि शब्दों के प्रयोगों में भी स्पष्टतया देखते हैं।

जीव और आत्मा के अन्तर को हम गणित की भाषा में इस प्रकार भी प्रदर्शित कर सकते हैं कि—

जीव + अपनत्व = आत्मा।

आत्मा –अपनत्व = जीव।

न्यायशास्त्र की शब्दावली में हम जीव और आत्मा के अन्तर को इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं कि आत्मा और जीव में व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध है। आत्मा व्याप्य है जबकि जीव व्यापक। जो भी आत्मा है, उसको जीव कह सकते हैं परन्तु जो भी जीव हैं, उनको हम आत्मा नहीं कह सकते, आत्मा सिर्फ अपना जीव है। जिस प्रकार नीम और वृक्ष में व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध है अतः जो भी नीम है उसे तो वृक्ष कहा जा सकता है परन्तु जो भी वृक्ष हैं, उन सबको नीम नहीं कहा जा सकता।

1.5 आत्मा का स्वरूप—

अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं और आत्मा के स्वरूप को बिन्दुवार ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। ध्यातव्य है कि प्रत्येक बिन्दु गहन चिन्तन–मनन की अपेक्षा रखता है—

(1) आत्मा सत्‌रूप है; उसे असत्‌रूप, अभावरूप, माया अथवा शून्यरूप नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग (चार्वाक) कहते हैं कि वस्तुतः आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, वह तो असत् है, मात्र भूतचतुष्टय के मिश्रण से ही चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति हो जाती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार गुड़, जौ आदि वस्तुओं के संयोग से उनमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—इन चार भूतों के संयोग से ही चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो मृत्यु के समय इन चारों के संयोग के बिखर जाने से स्वयमेव नष्ट भी हो जाती है; अतः इन चारों भूतों से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

लेकिन उनकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, शास्त्रों में विस्तारपूर्वक इस मत का निराकरण किया गया है। संक्षेप में उसका सार यह है कि चारों भूत अचेतन हैं और अनेक अचेतन मिल कर भी किसी तरह चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकते। अचेतन से अचेतन की ही उत्पत्ति हो सकती है, चेतन की कदापि नहीं।

इस विषय में एक तर्क और भी दिया गया है कि भूतचतुष्टय को आप जीव की उत्पत्ति में उपादान कारण मानते हैं या निमित्त ? यदि उपादान कारण मानते हैं तो जीव में भी इन चार भूतों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाए जाने चाहिए और

फिर उस जीव को भी इन्द्रियगोचर होना चाहिए तथा यदि निमित्त कारण मानते हैं तो उपादान कारण कोई दूसरा ही होगा और वह इनसे अलग जीव ही होगा।

(2) आत्मा एक नहीं है, अनन्तानन्त हैं। यद्यपि वे सभी स्वभाव से समान हैं अतः उन्हें 'एक जैसे' तो कहा जा सकता है पर पूरे विश्व में एक ही आत्मा है—ऐसा नहीं कह सकते। यदि सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा हो तो सभी जीवों को एक साथ दुःखी, सुखी, बद्ध, मुक्त आदि होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है। जिस समय एक जीव सुखी होता है उसी समय दूसरा जीव दुःखी होता है; एक का जन्म होता है तो दूसरे का मरण होता है; एक आसक्त होता है दूसरा विरक्त होता है; एक मिथ्यादृष्टि होता है दूसरा सम्यग्दृष्टि होता है। सभी के सुख-दुःख आदि के परिणाम अलग-अलग चलते हैं। इससे पता चलता है कि इस लोक में जीवों की संख्या तक नहीं, अनेक है और वे सभी जीव अपना-अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व धारण करते हैं। प्रायः सभी दर्शनों में (वेदान्त को छोड़कर) भी जीवों की संख्या एक नहीं, अनेक स्वीकार की गई है। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में तो अनेक-आत्मवाद को अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध भी किया गया है।

(3) प्रत्येक आत्मा एक स्वतन्त्र परिपूर्ण सत्ता है, उसे ब्रह्म या ईश्वर आदि अन्य किसी का भी अंश नहीं माना जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हम सभी आत्माएँ वस्तुतः किसी एक ब्रह्म का अंश हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होता है और सौ घड़ों में दिखाई पड़ने वाले सभी चन्द्रमा उसी एक मूल चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब होते हैं उसी प्रकार मूल आत्मा एक ब्रह्म है और हम सब उसके प्रतिबिम्ब या अंश हैं।

परन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक जीव के सुखी-दुःखी होने पर सभी जीवों को सुखी-दुःखी होना चाहिए, एक जीव मुक्त व पूर्ण सुखी हो जाए और अन्य जीव संसार में दुःखी रह जाएँ, ऐसा नहीं होना चाहिए, इत्यादि अनेक आपत्तियाँ आती हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विरचित 'पंचास्तिकाय संग्रह' की संस्कृत टीका का निम्नलिखित अंश (हिन्दी अनुवाद) भी ध्यानपूर्वक पठनीय है—

''**प्रश्न**—जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा बहुत से जल के घड़ों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है वैसे ही एक ही जीव बहुत से शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है ?

उत्तर—बहुत से जल के घड़ों में तो वास्तव में चन्द्रकिरणों की उपाधि के निमित्त से जलरूप पुद्गल ही चन्द्राकार रूप से परिणत होता है, आकाशस्थ चन्द्रमा नहीं। जैसे कि देवदत्त के मुख का निमित्त पाकर नाना दर्पणों के पुद्गल ही नाना मुखाकार रूप से परिणमन कर जाते हैं, न कि देवदत्त का मुख स्वयं नाना रूप हो जाता है। यदि ऐसा हुआ होता तो दर्पणस्थ मुख-प्रतिबिम्बों को चैतन्यत्व प्राप्त हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार एक चन्द्रमा का नानारूप परिणमन नहीं समझना चाहिए। दूसरी बात यह भी तो है कि उपर्युक्त दृष्टान्तों में तो देवदत्त एवं चन्द्रमा दोनों प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तभी उनका प्रतिबिम्ब दर्पण व जल में पड़ता है परन्तु 'ब्रह्म' नाम का कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखाई ही नहीं देता जो कि चन्द्रमा की भाँति नानारूप होवे।''

(4) प्रत्येक आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता है। कोई भी आत्मा किसी भी अन्य आत्मा के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी नहीं होता। इससे प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता भी सिद्ध होती है। यदि यह आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता न हो और कोई अन्य इसके सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता हो तो यह आत्मा सदा पराधीन सिद्ध हो और कभी कोई आत्मा अपना दुःख मिटाकर सुखी न हो सके।

(5) आत्मा वास्तव में अमूर्तिक सत्तारूप वस्तु है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भौतिक वस्तुओं के गुण नहीं

पाये जाते हैं। जो कुछ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिमान् है, वह सब पुद्गल है।

(6) आत्मा उपयोगमय है, चैतन्यमय है, ज्ञानदर्शनमय है; वह स्वभाव से निरन्तर जानने-देखने का ही कार्य करता है।

यह बिन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसे विशेष सावधानीपूर्वक समझना चाहिए। आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह उसका अन्तस्तत्त्व है, बाह्य तत्त्व नहीं। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, उसे कोई दे या ले नहीं सकता।

इसी प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् वह सदा सब आत्माओं में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, कोई भी आत्मा इससे पूर्णतः रहित नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ज्ञानावरण कर्म का प्रबल उदय होने पर भी उसका कभी पूर्णरूप से अभाव नहीं होता। चाहे न्यूनरूप में ही रहे पर रहता अवश्य है, उसका कभी अभाव नहीं होता, मुक्तावस्था में भी उस ज्ञान का अभाव नहीं होता।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् वह दुःख का कारण नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं। जो जिसका स्वभाव हो, वह उसके दुःख का कारण कैसे हो सकता है ? ज्ञान के साथ यह संसारी आत्मा अपनी गलती से जो कषायभाव (राग-द्वेष) करता है, वे ही दुःख के कारण होते हैं।

आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् वह सदा सर्व पदार्थों का मात्र ज्ञाता ही होता है, कर्ता-भोक्ता आदि नहीं हो सकता।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है, उसके अतिरिक्त जो मोह-राग-द्वेषादि होते हैं, वे उसके स्वभाव नहीं, विभाव हैं।

(7) प्रत्येक आत्मा में एक संकोच-विस्तार नाम की शक्ति होती है, जिससे वह धारण किये हुए अपने शरीर के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है। चींटी के शरीर में चींटी जितना संकुचित हो जाता है और हाथी के शरीर में हाथी जितना विस्तृत।

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश कक्ष के आकार के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने शरीर के अनुसार सहज ही संकुचित या विस्तृत हो जाता है।

आत्मा में संकोच-विस्तार की यह शक्ति, हम सब स्वयं भी साक्षात् अनुभव करते हैं। बालक अवस्था से लेकर वृद्धावस्था तक शरीर में लघुता-दीर्घता या कृशता स्थूलता आदि होने पर आत्मा में भी वैसा ही संकोच-विस्तार सहज ही होता रहता है।

ध्यान रहे कि आत्मा छोटा-बड़ा नहीं होता, वह तो एक जैसा ही होता है किन्तु उसमें रबर जैसी संकोच-विस्तार की एक ऐसी शक्ति (Elasticity) है जिससे वह प्राप्त शरीर के अनुसार संकुचित या विस्तृत हो जाता है।

मुक्तावस्था में आत्मा जब शरीर रहित हो जाता है तब उसका परिमाण अन्तिम शरीर के अनुरूप रहता है।

कुछ लोग आत्मा को अणु-परिमाण या वट कणिका मात्र आदि मानते हैं परन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सभी प्राणियों को सुख-दुःखादि की अनुभूति सर्वात्म प्रदेशों से होती देखी जाती है। यदि आत्मा अणु परिमाण होता तो उसे शरीर के उसी भाग में होने वाली संवेदना का अनुभव हो पाएगा जिस भाग में वह रहेगा अतः आत्मा को अणु परिमाण मानना ठीक नहीं है।

इसी प्रकार कुछ लोग आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, कहते हैं कि आत्मा आकाश की तरह अमूर्त द्रव्य है अतः आकाश की तरह सर्वव्यापक भी है परन्तु वह भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता क्योंकि सभी को अपने ही शरीर में सुख-दुःखादि की प्रतीति होती है, उससे बाहर दूसरे के शरीर में और अन्यत्र कहीं किसी स्थान पर नहीं।

दरअसल आत्मा को सर्वलोकव्यापी कहने का एक समीचीन अभिप्राय यह हो सकता है कि वह सर्व लोक को जान सकता है अतः वह जानने की अपेक्षा सर्वव्यापक है, न कि आकार की अपेक्षा। इस सन्दर्भ में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है—

"आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं।।"

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है तथा ज्ञेय लोकालोक है इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है।

यदि वस्तुतः ही आत्मा सर्वव्यापक हो तो भोजनादि व्यवहार में भी संकर (मिश्रण) दोष आता है। यथा—एक व्यक्ति खाएगा तो सबको उसका रसास्वादन होना चाहिए।

1.6 आत्मा के नौ विशेष गुण—

आत्मा के स्वरूप को और अधिक स्पष्टता एवं सुगमता से समझने के लिए हमें आत्मा के नौ विशेष गुणों को भलीभाँति समझना चाहिए, जिनका विस्तृत विवेचन विशेष रूप से जैन ग्रंथों में ही पाया जाता है। वहाँ इन्हें जीव के नौ अधिकार भी कहा जाता है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(1) जीवत्व—आत्मा सदा जीवित रहता है। संसार अवस्था में वह इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन चार प्राणों से जीवित रहता है—यह व्यवहार है परन्तु निश्चय से वह सदा अपने चैतन्य प्राणों से जीवित रहता है, जिनका कभी भी, मुक्तावस्था में भी अभाव नहीं होता।

(2) उपयोगमयत्व—आत्मा उपयोगमय है। 'उपयोग' का अर्थ यहाँ पारिभाषिक रूप से 'चेतना' ही ग्राह्य है। चेतना या उपयोग दो प्रकार का है—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। इन दोनों के पुनः अनेक भेद–प्रभेद होते हैं, जैनाचार्यों ने इस उपयोग या चेतना को ही जीव या आत्मा का वास्तविक लक्षण कहा है क्योंकि यह संसारी (निगोदिया) से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों में हर अवस्था में अनिवार्यतः पाया जाता है, कभी भी किसी भी जीव में इसका पूर्णतः अभाव नहीं होता तथा जीव से भिन्न अजीव पदार्थों में कदापि नहीं पाया जाता है। यथा—

'उपयोगो लक्षणम्।
'चेतनालक्षणो जीवः।'

(3) अमूर्तिकत्व—आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है; उसमें स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण आदि नहीं पाये जाते। यद्यपि संसारावस्था में कर्मबद्ध होने के कारण वह मूर्तिक भी कह दिया जाता है।

(4) कर्तृत्व—आत्मा निश्चय से अपने भावों का ही कर्ता है, अन्य के भावों का नहीं परन्तु व्यवहार से उसे पुद्गल कर्मों का कर्ता भी कहा जाता है।

(5) स्वदेहपरिमाणत्व—संसारावस्था में यह आत्मा सदैव अपने शरीर के बराबर रहता है, छोटे शरीर में छोटा और बड़े शरीर में बड़ा। यद्यपि आत्मा कोई छोटा–बड़ा नहीं होता तथापि उसमें एक ऐसी ही संकोच–विस्तारशक्ति पायी जाती है। मुक्तावस्था में यह आत्मा अपने अन्तिम शरीर के बराबर रहता है।

(6) भोक्तृत्व—आत्मा निश्चय से अपने शुद्धाशुद्ध भावों का और व्यवहार से पुद्गल कर्मों का भोक्ता है।

(7) संसारित्व—अनादिकाल से अशुद्धावस्था में यह आत्मा संसार में रहता है और निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है—ऐसी अवस्था को संसारित्व कहते हैं।

(8) सिद्धत्व—पूर्ण शुद्धावस्था या मुक्तावस्था प्राप्त होने पर यह आत्मा सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञ, वीतराग और परम सुखी अवस्था में अनन्त काल तक रहता है: पुनः संसार में नहीं आता।

(9) ऊर्ध्वगमन स्वभावत्व—यह आत्मा यद्यपि संसारावस्था में कर्माधीन होने के कारण अधोगमन एवं तिर्यक्गमन भी करता दिखाई देता है परन्तु इसका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना ही है—अग्निशिखावत्।

आत्मा के इन नौ अधिकारों को आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने एक ही गाथा में कुशलतापूर्वक इस प्रकार समाहित करके प्रस्तुत किया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगदी।।

आत्मा के इन नौ अधिकारों को भलीभाँति समझ लेने पर आत्मा सम्बन्धी सर्व अज्ञान दूर हो जाता है।

1.7 आत्मा के भेद-प्रभेद—

अब हम आत्मा के भेद-प्रभेदों की भी संक्षेप में चर्चा करना चाहते हैं, ताकि आत्मा का स्वरूप कुछ और स्पष्ट हो सके।

आत्मा के भेद-प्रभेद की चर्चा जैन शास्त्रों में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उपलब्ध होती है—(1) शास्त्रीय दृष्टि से और (2) आध्यात्मिक दृष्टि से।

1.7.1 शास्त्रीय दृष्टि से जीव दो प्रकार के हैं—

संसारी और मुक्त। जो संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे जीव संसारी हैं और जो उससे मुक्त हो गये हैं, वे शुद्ध-बुद्ध जीव मुक्त हैं। मुक्त जीवों के कोई और भेद प्रभेद नहीं हैं, क्योंकि वे सब एक से होते हैं परन्तु संसारी जीवों के पुनः दो भेद होते हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर जीव मात्र एक इन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) के धारक होते हैं अतः एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं और स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।

यहाँ एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि बहुत से लोग पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति का अनाप-शनाप दोहन करते हैं, जो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने से पर्यावरण तो प्रदूषित या असन्तुलित होता ही है, जीव हिंसा भी बहुत होती है क्योंकि ये पाँचों स्वयं भी जीव हैं और उनके अन्दर भी असंख्य जीव रहते हैं।

त्रस जीव चार प्रकार के होते हैं—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। स्पर्शन और रसना—इन दो इन्द्रियों के धारक जीव को द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे—कृमि, लट, सीप, शंख, गण्डोला आदि। स्पर्शन, रसना और घ्राण—इन तीन इन्द्रियों के धारक जीव को त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे—चींटी, जूँ, खटमल, दीमक, झल्ली, झींगुर आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु—इन चार इन्द्रियों के धारक जीव को चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे—मक्खी, मच्छर, भ्रमर, पतंगा, टिड्डी, ततैया आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण—इन पाँचों इन्द्रियों के धारक जीव को पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं; जैसे—गाय, भैंस, चिड़िया, कबूतर, शेर, बन्दर, देव, मनुष्य आदि।

पंचेन्द्रिय जीवों को भी पुनः चार प्रकार से समझना चाहिए—

(1) नारकी—ये सभी अधोलोक में स्थित नरकभूमियों में निवास करते हैं और सदैव अपनी अशुभ क्रियाओं और मलिन परिणामों से महादुःखी रहते हैं।

(2) तिर्यंच—समस्त पशु, पक्षी, वृक्ष आदि। ये भी वध, बन्धन, छेदन, भेदन आदि के अपार दुःख सहते हैं और किसी से कह भी नहीं सकते।

(3) मनुष्य—हम, आप आदि। हम सभी लोक के मध्य भाग में निवास करते हैं।

(4) देव—ये प्रायः स्वर्गों में निवास करते हैं और चार प्रकार के होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

जीव के उक्त समस्त भेद-प्रभेदों को संक्षेप में निम्नलिखित सारिणी से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—

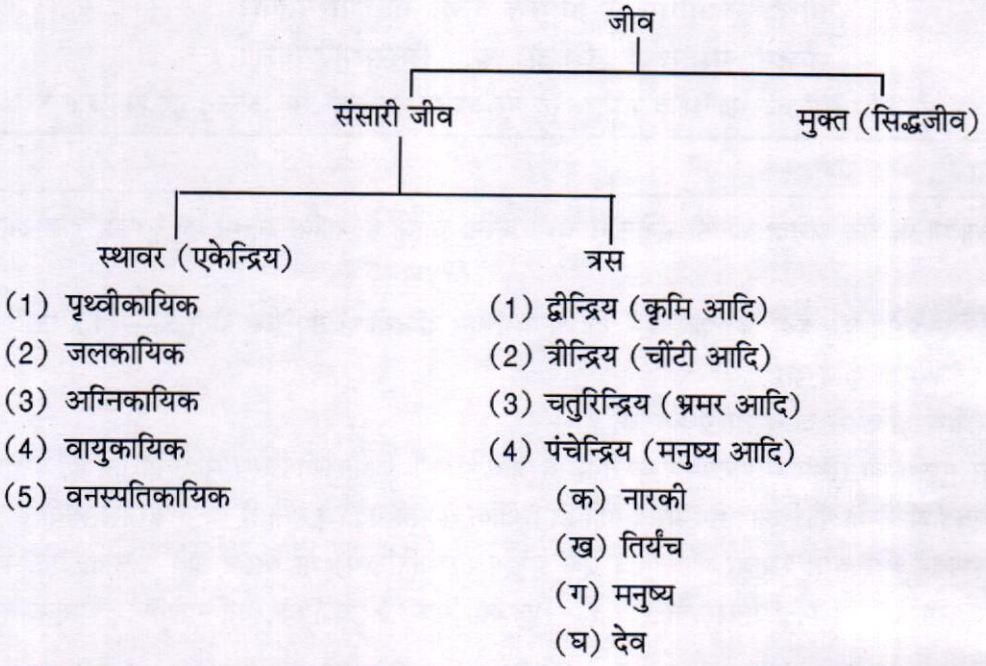

यहाँ यह सर्वथा नहीं भूलना चाहिए कि उक्त सभी जीव स्वभाव की दृष्टि से एक जैसे हैं, समान हैं, उनमें छोटे-बड़े आदि का कोई अन्तर नहीं है; मात्र बाह्य अवस्था या पर्यायदृष्टि से ही जीव के इतने भेद-प्रभेद समझाए गए हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से उक्त सर्व भेद-प्रभेदों को भलीभाँति समझ लेने के बाद अब आध्यात्मिक दृष्टि से भी आत्मा के भेद-प्रभेद समझना उपयोगी है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के भेद-प्रभेदों का वर्णन मुख्य रूप से आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार (गाथा 149-150), मोक्षपाहुड (गाथा 4-8), रयणसार (गाथा 14), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा 193-194), और मुनिराज योगीन्दु देव कृत परमात्मप्रकाश (दोहा 1/13-15) व योगसार (दोहा 7-8) आदि में मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी प्राय: सभी आध्यात्मिक ग्रंथों में ऐसा ही मिलता है।

1.7.2 आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा तीन प्रकार का है—

(1) बहिरात्मा—जो शरीरादि बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है, वह बहिरात्मा है। यह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

(2) अन्तरात्मा—जो शरीर-आत्मा के अन्तर को भलीभाँति पहचान लेता है, वह अन्तरात्मा है। यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है।

(3) परमात्मा—जो वीतराग-सर्वज्ञ या शुद्ध-बुद्ध है, वह परमात्मा है। परमात्मा दो प्रकार का है—सकल और निकल। जो 'कल' अर्थात् शरीर से सहित हैं, वे अरहन्त भगवान सकल परमात्मा हैं और जो शरीर से भी रहित हो चुके हैं, वे सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं।

इनमें से बहिरात्म अवस्था सर्वथा हेय है, अन्तरात्म अवस्था एकदेश उपादेय है और परमात्म अवस्था पूर्ण उपादेय है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—वस्तुत: आत्मा के इन तीन भेदों के वर्णन में आत्मा के उत्थान की सम्पूर्ण प्रक्रिया भी समझा दी गई है। यह आत्मा अनादिकाल से शरीरादि बाह्य पदार्थों में एकत्व-ममत्व करने के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। बाद में जब यह तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्व बाह्य पदार्थों को अपने से भिन्न जानता है और अन्तर

में विद्यमान ज्ञानस्वभावी निज तत्त्व को ही अपना मानता है तब अन्तरात्मा बनता है। इसके बाद यह अन्तरात्मा भी और अधिक पुरुषार्थ करता हुआ शनैः-शनैः अपने राग-द्वेषादि सर्व विकारी भावों को पूर्णतः नष्ट कर देता है तो परमात्मा कहलाता है। पहले सकल परमात्मा बनता है और बाद में शरीर से भी रहित हो जाने के कारण निकल परमात्मा कहलाता है।

आत्मा की उक्त तीन अवस्थाओं को हम संक्षेप में केवल इन दो अवस्थाओं के रूप में भी सरलतया समझ सकते हैं—

1. अशुद्धता (मलिनात्मा), और 2. शुद्धात्मा।

अनादिकाल से यह आत्मा मोह-राग-द्वेषादि सहित होने के कारण अशुद्धात्मा या मलिनात्मा कहलाता है। जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण अपने जन्मकाल से ही किट्ट कालिमा सहित होने से अशुद्ध होता है और बाद में स्वर्णकार, अग्नि आदि उचित निमित्तों का संयोग पाकर शनैः-शनैः अपने मोह, राग, द्वेषादि सहित होने से अशुद्ध रहता है और बाद में सद्गुरु, सत्शास्त्र आदि से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर, शनैः-शनैः अपने मोह राग द्वेषादि का त्याग करता हुआ शुद्ध होने लगता है और अन्त में अपने सर्व रागादि विकारों का पूर्णतः त्याग कर पूर्ण शुद्ध हो जाता है।

चूँकि स्वर्ण पाषाण अचेतन है अतः उसे अशुद्धावस्था में दुःख और शुद्धावस्था में सुख का अनुभव नहीं होता परन्तु आत्मा चेतन है अतः उसे अशुद्धावस्था में अत्यन्त दुःख और शुद्धावस्था में परम सुख का अनुभव भी होता है।

अशुद्धावस्था में यह आत्मा अपनी गलती से निरन्तर परपदार्थों को इष्टानिष्ट मान कर उनसे राग-द्वेष करता है और यही इसके सर्व दुःखों का मूल कारण है। इसी से यह अनादिकाल से इस संसार में जन्म-मरणादिक दुःख सहता हुआ भटक रहा है। अब यदि इसे समीचीन तत्त्वज्ञान हो जाए तो यह कहीं भी राग-द्वेष न करे और और पूर्ण सुखी हो जाए।

स्वर्ण-पाषाण को शुद्ध करने हेतु स्वर्णकार, अग्नि, गन्धक आदि अनेक बाह्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, परन्तु आत्मा को शुद्ध करने हेतु परमार्थ से किसी बाह्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती, सद्गुरु और सत्शास्त्र भी मात्र मार्गदर्शक के रूप में निमित्त मात्र होते हैं।

आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वप्रथम तो आत्मा के ज्ञानादि असली स्वभावों का और रागादि विभावों का अन्तर जानना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक यह आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव में और रागादि विभावों में भेद/अन्तर नहीं जानता है तब तक अज्ञानी ही रहता है और आत्मा की शुद्धता के मार्ग में बिल्कुल आगे नहीं बढ़ सकता है।

अतः सर्वप्रथम ज्ञानादि स्वभावों और रागादि विभावों के अन्तर को भलीभाँति पहचानना चाहिए। तदनन्तर रागादि विभावों को अशुचि, अध्रुव, दुःखरूप एवं दुःख का कारण आदि जानकर उनसे निवृत्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही आत्मशुद्धि का समीचीन मार्ग है, अन्य कोई नहीं। यही कहा भी है—

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलः।।
स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा।
परद्रव्यबहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा।।

अर्थात् वास्तव में आत्मा आत्मज्ञान से ही शुद्ध होता है, किसी अन्य से नहीं। जो लोग किसी अन्य चीज से आत्मशुद्धि चाहते हैं वे सब विपरीत दृष्टि (मिथ्यादृष्टि) हैं। आत्मा परद्रव्य से बहिर्भूत है अतः किसी भी प्रकार के परद्रव्य से—चाहे वह मलिन हो या निर्मल—स्पर्शित और शुद्ध नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग समझते हैं कि अमुक तीर्थादि में जाकर स्नानादि करने से आत्मा शुद्ध होता है परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्नानादि से चर्ममल (बाह्य मैल) तो कदाचित् दूर हो सकता है पर कर्ममल कदापि नहीं। कर्ममल धोने के लिए तो आत्मारूपी नदी में सम्यग्ज्ञानरूपी जल से ही स्नान करना होता है।

वही 'महाभारत' में भी कहा है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।।

अर्थात् आत्मा को सदैव पवित्र ज्ञानजल से स्नान कराओ ताकि जन्मान्तरों में भी निर्मलता प्राप्त हो जाए।

इसी प्रकार आचार्य श्री अमितगति ने भी कहा है कि जो लोग आत्मशुद्धि के लिए अपने निर्मल आत्मतीर्थ को छोड़कर अन्य तीर्थ की ओर देखते हैं वे मानो पवित्र सरोवर को छोड़कर गन्दे नाले में स्नान करते हैं अतएव सदा मलिन ही रहते हैं। यथा—

स्वतीर्थमलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये।
ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले।।

सारांश यह है कि आत्मशुद्धि का उपाय परमार्थ से एक आत्मानुभूति ही है, अन्य कुछ नहीं। आत्मानुभूति से ही आत्मशुद्धि का प्रारम्भ होता है, आत्मानुभूति से ही आत्मशुद्धि की वृद्धि होती है और आत्मानुभूति की पूर्णता से ही आत्मशुद्धि की पूर्णता भी होती है।

1.8 आत्मा की अनुभूति और उसका उपाय—

आत्मशुद्धि में आत्मानुभूति की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। यही कारण है कि शास्त्रों में आत्मा की अनुभूति करने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि सच्ची सुख–शान्ति आत्मानुभूति से पहले कैसे भी प्राप्त नहीं हो सकती। सच्ची सुख–शान्ति तो दूर, आत्मानुभूति हुए बिना तो कोई व्यक्ति भले ही आत्मा के बारे में कितनी ही विस्तारपूर्वक जानकारी रखता हो, आत्मज्ञानी भी नहीं कहला सकता। आत्मानुभूति से पहले होने वाली उसकी सारी जानकारी और सारी सुख–शान्ति वास्तव में मात्र ऊपरी–ऊपरी ही है।

दरअसल, आत्मा के बारे में जानना अलग बात है और आत्मा को जानना अलग बात है। आत्मानुभूति के बिना हम आत्मा के बारे में तो बहुत कुछ जान लेते हैं—शास्त्रों या गुरुओं के माध्यम से, पर आत्मा को यथार्थ जानना तो आत्मानुभूति से ही सम्भव है अतः शास्त्रों में आत्मानुभूति पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। आत्मानुभूति होने पर ही जीव को सच्चा आत्मज्ञान हुआ कहा जाता है और तभी उसे सच्ची सुख–शान्ति प्राप्त होती है; अतः कैसे भी कोटि उपाय करके भी जीवन में आत्मानुभूति अवश्य करनी चाहिए। आत्मानुभूति करके ही हम अध्यात्मविद्या का प्रथम पाठ पढ़े हुए कहला सकते हैं।

आत्मानुभूति की प्रेरणा देते हुए 'समयसार' की आत्मख्याति टीका में तो मुहावरे की भाषा में यहाँ तक कह दिया गया है कि हे भाई ! तुम कैसे भी करके, मरकर भी आत्मानुभूति करो, तभी तुम्हारे मोहादि विकारों का सही रूप में विनाश होगा। यथा—

''अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्, अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।

अर्थ—अरे, कैसे भी मरकर भी तत्त्व के कौतूहली बन कर, एक मुहूर्त के लिए शरीरादि के पड़ोसी बनकर उन शरीरादि से सर्वथा पृथक् अपने आत्मा का शीघ्र अनुभव करो ताकि तुम्हारा शरीरादि पर पदार्थों से मोह छूट जाए।

इस आत्मानुभूति को जीवन में कभी एक बार कुछ क्षणों के लिए ही कर लेना पर्याप्त नहीं है अपितु जितना अधिक हो सके उतना बारम्बार उसका आनन्द लेना चाहिए। जब तक हमारा उपयोग पूरी तरह आत्मा में ही लीन न हो जाए, सदा–सदा के लिए आत्मा में ही मग्न न हो जाए, कभी बाहर आने की सम्भावना ही न रहे; तब तक आत्मानुभूति को वृद्धिंगत करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। शास्त्रों में तो इस आत्मानुभूति को सदा काल निरन्तर करने का उपदेश

दिया गया है। आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं—

''एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं।।''

अर्थात् सदैव इस आत्मा में ही रत रहो, इस आत्मा में ही तृप्त रहो; इसी से तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

'भगवद्गीता' में भी इसी प्रकार कहा गया है—

''यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।''

अर्थात् जो मनुष्य आत्मा में ही रति करता है, आत्मा में ही तृप्त होता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है; उसे कुछ भी कार्य करना शेष नहीं है।

आत्मानुभूति पर जोर देते हुए शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि आत्मानुभूति ही सर्व धर्म का मूल है और इसी से धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके बिना नहीं। आत्मानुभूति के बिना कोई कितनी ही बाह्य धर्म क्रियाएँ करे, उसे धर्म और धर्मजन्य फल प्राप्त नहीं होता। जो जीव, आत्मा को अनुभव करके जानता है, समझ लीजिए कि उसने सब कुछ जान लिया, सम्पूर्ण शास्त्र जान लिए सारा लोकालोक ही जान लिया, वह एक दृष्टि से मुक्त ही हो गया किन्तु जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया, वह दुनिया भर की विद्याओं या सर्व शास्त्रों का पण्डित होते हुए भी अज्ञानी ही है अतः आत्मा की अनुभूति जीवन की सबसे पहली और अनिवार्य आवश्यकता है, व्यक्ति को लाख कार्य छोड़कर भी, कोटि उपाय करके भी आत्मा का अनुभव अवश्य करना चाहिए। जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होगा तब तक सच्चे सुख के मार्ग पर जरा भी आगे नहीं बढ़ा जा सकेगा।

आत्मा की इस अनुभूति का क्या उपाय है अथवा यह किस प्रकार होती है-इस पर भी आध्यात्मिक ग्रंथों में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। उसमें सर्वप्रथम तो दृढ़तापूर्वक यह कहा गया है कि यह आत्मानुभूति किसी भी बाह्य साधन या शरीरादि की क्रियाओं के आलम्बन से कदापि सम्भव नहीं है अपितु मात्र एक अपने ज्ञानस्वभाव के ही आलम्बन से सम्भव है।

आत्मा की अनुभूति के लिए साधक को इस प्रकार की भावना करनी चाहिए कि जो ज्ञाता-द्रष्टा है, वही मैं हूँ, शेष सभी भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

भिन्नता की ऐसी सम्यक् भावना ही वस्तुतः आत्मानुभूति का सही उपाय है। भिन्नता की यह भावना क्रम-क्रमपूर्वक भी आगे बढ़ाई जा सकती है। जैसे सर्वप्रथम इस स्थूल शरीर से स्वयं को भिन्न देखना, उसके बाद सूक्ष्म शरीरों से भी स्वयं को भिन्न देखना और उसके बाद रागादि भावकर्मों से भी स्वयं को भिन्न देखना।

इस प्रकार जब यह जीव स्वयं को सम्पूर्ण पर पदार्थों और अपने रागादि विकारी भावों से भी भिन्न मात्र एक चैतन्य रूप जानता है, अनुभव करता है, तब उसकी इसी अवस्था को आत्मानुभूति की अवस्था कहते हैं। आत्मानुभूति के काल में हमारा ज्ञान मात्र आत्मा को ही जानता है, अन्य किसी भी बाह्य पदार्थ को नहीं जानता, इन्द्रिय-मन का व्यापार भी उस समय रुक जाता है अतः इसे आत्मलीनता भी कहते हैं। यह आत्मलीनता यद्यपि प्रारम्भ में बहुत ही कम समय के लिए होती है परन्तु अभ्यास करते-करते इसका काल बढ़ता चला जाता है, जो अन्त में पूर्ण हो जाता है।

आत्मानुभूति को स्वसंवेदनज्ञान, आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मध्यान, आत्मसमाधि, आत्मरसपान, आत्मोपलब्धि, तत्त्वोपलब्धि, शुद्धोपयोग, निर्विकल्प आत्मभावना आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

आत्मानुभूति को ही आत्मप्राप्ति अर्थात् आत्मा की प्राप्ति भी कहा जाता है, परन्तु ध्यान रहे कि आत्मा हमसे स्वयं से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है जिसकी हमें आत्मानुभूति के काल में प्राप्ति होती हो। वस्तुतः आत्मा को जानना या

अनुभवना ही आत्मा की प्राप्ति है। अनादिकाल से हम स्वयं आत्मा होते हुए भी उसको जानते नहीं थे और अब जान गए हैं—इसी का अर्थ है आत्मा की प्राप्ति होना। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के घर में धन हो पर उसे पता न हो तो वह निर्धनवत् जीवनयापन करता है तथा पता चल जाने पर कहा जाता है कि अब उसे धन की प्राप्ति हो गई है; उसी प्रकार आत्मा तो सदा ही है, स्वयं ही है, प्राप्त ही है परन्तु जब तक उसका ज्ञान नहीं होता तब तक हम दु:खी रहते हैं और ज्ञान होने पर सुखी हो जाते हैं तो कहा जाता है कि अब हमें आत्मा की प्राप्ति हो गई है। शास्त्रों में भी जब ऐसा उपदेश दिया जाता है कि हे भव्य जीवों! तुम आत्मा की प्राप्ति करो तो उसका अभिप्राय मात्र यही होता है कि तुम आत्मा को जानो, उसका अनुभव करो।

इस प्रकार यह भलीभांति स्पष्ट है कि भेदविज्ञान ही आत्मा की अनुभूति या प्राप्ति का असली उपाय है अत: आत्मानुभूति के अभिलाषी को भेदविज्ञान पर विशेष ध्यान देना चाहिए। शास्त्रों में भेदविज्ञान के गीत अनेक आचार्यों द्वारा बारम्बार गाये गये हैं। यथा आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते।।
भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा: ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।

अर्थात् जब तक हमारा ज्ञान सर्व परपदार्थों से छूटकर अपने आत्मस्वरूप में ही पूरी तरह लीन न हो जाये तब तक हमें निरन्तर भेदविज्ञान की भावना करनी चाहिए। जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं तथा जितने भी जीव इस संसार में बद्ध (बँधे हुए) हैं, वे सब एक भेदविज्ञान की कमी से ही बद्ध हैं।

पं. बनारसीदासजी ने भी भेदविज्ञान के सन्दर्भ में एक सुन्दर दोहा लिखा है—

''भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर।।''

अर्थात् ज्ञानी आत्मा भेदज्ञानरूपी साबुन से समतारूपी जल के साथ अपने आत्मगुण रूपी वस्त्रों को निर्मल करते हैं।

दरअसल, आत्मानुभूति आत्मज्ञानपूर्वक ही होती है, आत्मज्ञान के बिना नहीं होती। जिसे अभी आत्मा के स्वरूप का समीचीन ज्ञान ही नहीं हुआ है उसे लाख कोशिश करने पर भी आत्मानुभूति नहीं हो सकती। यही कारण है कि यहाँ भेदविज्ञान पर इतना अधिक जोर दिया गया है।

ध्यातव्य है कि यहाँ भेदविज्ञान का अभिप्राय मात्र स्व और पर पदार्थों का भेद जान लेना ही नहीं है अपितु आत्मा में विद्यमान स्वभाव–विभाव परिणति का भी भेद पहचान लेना है; क्योंकि आत्मा परपदार्थों से तो भिन्न है ही, परमार्थत: अपने रागादि विभावों से भी भिन्न ही है। जिस प्रकार गर्म चाशनी (चीनी का घोल) में विद्यमान मधुरता और उष्णता एक साथ रहते हुए भी भिन्न–भिन्न हैं, ज्ञानादि आत्मा का अपना स्वभाव है और रागादि परपदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। वे आत्मा के अपने मूल स्वभाव नहीं हैं।

इस प्रकार सर्वप्रथम तो आत्मा के स्वरूप का समीचीन ज्ञान होना चाहिए, आत्मा के स्वभाव और विभाव की भी सच्ची पहचान होनी चाहिए और उसके बाद तीव्र रुचि के द्वारा अपने उपयोग को अन्य सर्व भावों से हटाकर आत्मोन्मुख करना चाहिए तभी निर्विकल्प आत्मानुभूति सम्भव है। इसके अतिरिक्त आत्मानुभूति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

आत्मानुभूति के काल में साधक को आत्मा का स्वसंवेदन इस प्रकार होता है—

''अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।''

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ , दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य कोई परभाव परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

देखो आत्मानुभूति की महिमा ! यद्यपि यह आत्मा अभी अशुद्ध है, रागादि सहित है, शरीरादि सहित है, मूर्तिक है, परोक्ष भी है; तथापि स्वयं को सर्व शरीरादि एवं रागादि भावों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध अमूर्तिक रूप में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभव करता है और यही तो सच्चा मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार समस्त परपदार्थों और अपने रागादि विभावों से भी भिन्न आत्मा के स्वभाव को भलीभाँति पहचान कर उसका निर्विकल्प अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, वास्तविक सुख-शान्ति का मार्ग है।

1.9 मुक्तावस्था में आत्मा का स्वरूप—

आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी मुक्तावस्था में कैसी स्थिति रहती है।

दार्शनिकों में इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यथा—कुछ लोग कहते हैं कि उसका अभाव हो जाता है, कुछ कहते हैं कि वह जड़वत् हो जाता है, कुछ कहते हैं कि उसके ज्ञानादि का अत्यधिक उच्छेद हो जाता है, कुछ कहते हैं कि वह एक अद्वैत ब्रह्म में मिल जाता है, कुछ कहते हैं कि वह ईश्वर या भगवान् के पास जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा शुश्रूषा करता रहता है, कुछ कहते हैं कि एक निश्चित समय के बाद पुनः इस संसार में आकर जन्म-मरण करना प्रारम्भ कर देता है, इत्यादि।

परन्तु उक्त प्रकार के सभी विचार युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होते हैं अतः जैन ग्रंथों में उनका सयुक्तिक निराकरण किया गया है। यथा—

आत्मा को एक अनादिनिधन स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध किया जा चुका है अतः स्पष्ट है कि उसका सर्वथा अभाव कदापि नहीं हो सकता, मात्र अवस्था परिवर्तन होता है। आधुनिक विज्ञान भी यह भलीभाँति सिद्ध कर चुका है कि किसी भी मूलभूत सत् वस्तु का कभी पूर्ण नाश नहीं हो सकता।

आत्मा का जड़ हो जाना भी असम्भव है क्योंकि जगत् में अनादिकाल से ही दो प्रकार के मूलभूत तत्त्व हैं— 1. चेतन और 2. अचेतन (जड़)। चेतन कभी भी अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन कभी भी चेतन नहीं हो सकता। चाहे कुछ भी हो पर कोई द्रव्य/तत्त्व कभी भी अपना मूल स्वभाव नहीं छोड़ता। हाँ, यदि जड़वत् हो जाने का अर्थ संसारावस्था में पाये जाने वाले राग-द्वेषादि सर्व विकल्पों से रहित हो जाना है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं।

इसी प्रकार ज्ञानादि गुण तो जीव या आत्मा के मूलभूत स्वभाव हैं, उनका अभाव कैसे हो सकता है ? यदि ज्ञानादि गुणों का ही अभाव हो जाएगा तो आत्मा गुणी है, उसका भी अभाव सिद्ध होगा। उष्णतादि गुणों से रहित अग्नि और मधुरतादि गुणों से रहित चीनी का अस्तित्व कहाँ और कैसे सिद्ध हो सकता है ?

दरअसल कुछ लोग ज्ञानादि को ही दुःखों का कारण समझते हैं अतः मुक्तावस्था में उनका अभाव कहते हैं परन्तु वस्तुतः ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं जो दुःख का कारण कदापि नहीं हो सकते। हमें भ्रम से ऐसा लगता है कि ज्ञानादि दुःख के कारण हैं, जबकि दुःख के असली कारण तो रागादि ही हैं। वर्तमान में हमारे जीवन में ज्ञानादि और रागादि दोनों एक साथ रहते हैं अतः हमें ऐसा भ्रम हो जाता है कि ज्ञानादि दुःख के कारण हैं। उदाहरणार्थ—हमारे किसी रिश्तेदार की मृत्यु हो जाए अथवा हमारी जेब कट जाए तो हमें जब तक उसका ज्ञान नहीं होता तब तक दुःख नहीं होता और जैसे ही ज्ञान होता है तो दुःख हो जाता है अतः हमें लगता है कि यह ज्ञान ही दुःख का कारण है, यदि ज्ञान ही नहीं तो दुःख भी नहीं होता; परन्तु यहाँ भी वस्तुतः दुःख का कारण ज्ञान नहीं है, राग है। हमें अपने रिश्तेदार से अथवा जेब में रखे रुपये से राग था अतएव दुःख हुआ है। यदि राग नहीं होता तो दुःख नहीं होता।

विचारणीय है कि यदि ज्ञान ही दु:ख का कारण हो तो ज्ञान तो सदा एक सा होता है, फिर दु:ख एक सा क्यों नहीं होता। कभी कम और कभी ज्यादा क्यों होता है ? अथवा ज्ञान तो अनेक लोगों को होता है, सभी को दु:ख एक सा क्यों नहीं होता, किसी को कम और किसी को ज्यादा क्यों होता है ? अथवा ज्ञान तो बाद में भी जीवन भर बना रहता है पर हमारा वह दु:ख कम क्यों हो जाता है ? अत: स्पष्ट है कि दु:ख का कारण ज्ञान नहीं, राग है। यदि अधिक राग हो तो अधिक दु:ख होता है और कम राग हो तो कम दु:ख होता है तथा जब जिसे जितना राग होता है तभी उसे ही उतना ही दु:ख होता है। इस प्रकार दु:ख की व्याप्ति राग के साथ ही घटित होती है, ज्ञान के साथ नहीं।

अत: मुक्तावस्था में ज्ञानादि गुणों का अभाव नहीं माना जा सकता, मात्र रागादि विकारी भावों का ही अभाव मानना चाहिए। मुक्तावस्था तो जीव की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम है अत: वहाँ उसकी सर्व अशुद्धता—मलिनता का तो नाश माना जा सकता है परन्तु जीव/आत्मा नामक मूलभूत वस्तु का ही अथवा उसके ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों का ही अभाव मानना तो कथमपि उचित नहीं है।

इसी प्रकार मुक्तावस्था में यह जीव किसी एक परमब्रह्म या परमशक्ति में जाकर मिल जाता है—यह बात भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती क्योंकि किसी भी वस्तु का अन्य वस्तु में मिल जाना उसका नाश होना ही तो है। किसी में मिल जाना और अभाव हो जाना—इन दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सदा पूर्ण और स्वतन्त्र होता है, आंशिक और परतन्त्र नहीं। जीव किसी का कोई अंश नहीं है—यह हम पहले भी भलीभाँति सिद्ध कर चुके हैं अत: मुक्तावस्था में जीव का किसी एक परमब्रह्म में मिल जाना भी सही नहीं माना जा सकता है। मुक्तावस्था में तो यह जीव पूर्ण स्वतन्त्र और अपने ज्ञान, आनन्दादि स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न रूप में स्थित रहता है।

मुक्त जीव किसी ईश्वर/परमब्रह्म के पास जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहता है—यह कथन भी हास्यास्पद ही है क्योंकि इससे मुक्तावस्था में भी जीव की पराधीनता सिद्ध होती है और 'पराधीन सपने हु सुख नांही'—यह बात बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है।

मुक्तावस्था तो पूर्ण स्वाधीन एवं सुखस्वरूप होती है। यदि वहाँ भी किसी की पराधीनता शेष रही तो वह सुखरूप अवस्था कैसे कही जा सकती है ? वह तो दु:खरूप ही सिद्ध हुई।

इसी प्रकार मुक्तात्माओं का कुछ काल बाद पुन: संसार में आकर जन्म-मरण करना भी समीचीन सिद्ध नहीं होता है क्योंकि जो एक बार पूर्ण शुद्ध हो गया, समस्त रागादि विकारों और जन्म-मरणादि दु:खों से रहित हो गया, वह पुन: क्यों और कैसे अशुद्ध होगा—यह समझ में नहीं आता। समस्त रागादि विकारों से पूर्णत: रहित हो चुका जीव पुन: कैसे, किससे राग-द्वेष करेगा ? अत: ऐसा होना तो असम्भव है तथा यदि यूँ ही पुन: संसार में आकर जन्म-मरण धारण करना पड़े तो मुक्त होने का क्या लाभ/अर्थ हुआ ? मुक्तावस्था तो शाश्वत सुखरूप अवस्था का ही नाम है तथा यदि अन्य कोई व्यक्ति या वस्तु मुक्तात्माओं को पुन: संसार में लाकर जन्म-मरण करवाता हो तो भी मुक्तात्माएँ पराधीन हो गईं; अत: ऐसा मानना भी समीचीन सिद्ध नहीं होता।

मोक्ष तो आत्मा की समस्त विकारों से रहित पूर्ण शुद्ध-बुद्ध एवं शाश्वत अवस्था का नाम है, जहाँ जीव की सम्पूर्ण परतन्त्रताएँ और सर्व विभाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा एक बार शुद्ध हुआ जीव पुन: कभी भी संसार में आकर जन्म मरण धारण नहीं करता। जिस प्रकार स्वर्ण एक बार पूर्ण शुद्ध स्वर्ण हो जाने पर पुन: अशुद्ध स्वर्ण नहीं बनता, धान से चावल बनने के बाद वह चावल पुन: धान नहीं बनता, दूध से घी बनने के बाद वह घी पुन: दूध नहीं बनता, तिल से तेल बनने के बाद वह तेल पुन: तिल नहीं बनता उसी प्रकार संसारी जीव मुक्त हो जाने पर पुन: कभी भी संसारी नहीं बनता।

यहाँ एक और प्रश्न है कि मुक्त जीव किस आकार में और कहाँ निवास करते हैं ? तथा अनन्तकाल तक वे क्या

करते रहते हैं, वहाँ उनका क्या कर्त्तव्य रहता है ?

उत्तर—संसारी जीवों का आकार अपने-अपने शरीर के अनुरूप होता है। मुक्त जीव के शरीर नहीं होता तथापि वह अपने अन्तिम शरीर के आकार में रहता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि साँचे में डाली गई वस्तु साँचे के हट जाने के बाद भी साँचे के आकार में अवस्थित रह जाती है।

मुक्त जीवों का निवास स्थान लोक का सर्वोपरि भाग कहा गया है क्योंकि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। संसारावस्था में आत्मा कर्माधीन होने के कारण अधोगमन और तिर्यक्गमन भी करती है परन्तु मुक्तावस्था में सर्व कर्म रहित हो जाने से और अपने सर्व स्वभाव प्रकट हो जाने से ऊर्ध्वगमन ही करती है और इसीलिए लोक के सर्वोपरि भाग में जाकर निवास करती है। अधिकांश जैनेतर दर्शनों में भी मुक्त जीवों की स्थिति लोक के अग्र भाग में ही मानी गई है।

मुक्त जीव कृतकृत्य हो चुके हैं, वे जगत् का कोई कार्य नहीं करते। पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर वे सम्पूर्ण लोक को जानते-देखते तो हैं परन्तु किसी परमाणु मात्र का भी कुछ परिवर्तनादि नहीं करते। जगत् के किसी भी पदार्थ के प्रति किंचित् भी इष्ट-अनिष्ट भाव उन्हें उत्पन्न नहीं होता। सर्व पदार्थ अपने-अपने हिसाब से परिणमित होते रहते हैं और वे अत्यन्त सहज भाव से उनके ज्ञाता-द्रष्टा मात्र बने रहते हैं। मात्र जानना-देखना और अपने आत्मोत्पन्न स्वाभाविक सुख का भोग करना ही मुक्त जीवों का कर्त्तव्य है।

1.10 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन आगम में षड् द्रव्यादिकों का वर्णन.....कहलाता है।

(क) नव पदार्थ ☐
(ख) पंचास्तिकाय ☐
(ग) पूर्वगत ☐

प्रश्न 2-तत्त्वानुशासन ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) कुन्दकुन्दाचार्य ☐
(ख) ब्रह्मदेव सूरि ☐
(ग) आचार्य श्री रामसेन ☐

प्रश्न 3-छह द्रव्यों में से एक-

(क) आकाश ☐
(ख) आत्मा ☐
(ग) स्वाध्याय ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आत्मा के पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 2-जीव और आत्मा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 3-त्रस जीव कितने प्रकार के होते हैं, भेद-प्रभेद सहित बताइए ?

प्रश्न 4-आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा कितने प्रकार का है, परिभाषित कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आत्मा के नौ विशेष गुण कौन-कौन से हैं, सविस्तार बताइए ?

पाठ-2–भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन

2.1 सभी भारतीय दर्शनों में आत्माविषयक समानताएँ—

1. प्रायः सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। न केवल स्वीकार करते हैं, उसके अस्तित्व की सिद्धि हेतु अनेक अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं।

2. प्रायः सभी दर्शनों में आत्मज्ञान पर विशेष बल प्रदान किया गया है। आत्मज्ञान को ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य बनाने की प्रेरणा दी गई है। दर्शनशास्त्र के उद्भव का मूल कारण एवं प्रयोजन आत्मज्ञान ही माना गया है। आत्मज्ञान के बिना सब कुछ असार एवं निष्फल निरूपित किया गया है।

3. प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा को अनादिनिधन या अजर–अमर और शरीरादि सर्व बाह्य पदार्थों से भिन्न अमूर्तिक तत्त्व माना गया है।

4. सभी दर्शनों में आत्मा का असली स्वरूप चैतन्य ही माना गया है। चार्वाक दर्शन भी जो आत्मा को भूतचतुष्टय का विशिष्ट परिणमन मात्र कहता है, स्वरूपतः आत्मा को चैतन्य ही स्वीकार करता है।

5. प्रायः सभी दर्शन आत्मा का पूर्वजन्म–पुनर्जन्म भी स्वीकार करते हैं तथा मुक्त होने पर उसे जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा मिल जाता है, यह भी स्वीकार करते हैं।

6. प्रायः सभी दर्शन मोक्ष को आत्मा का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह भी स्वीकार करते हैं कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने सम्पूर्ण विकारों या दोषों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप में पूर्ण विकसित हो जाती है। दूसरे शब्दों में आत्मलाभ का ही नाम मोक्ष है जिसे मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि अनेक शब्दों में जाना जाता है।

7. मोक्ष का साधन भी प्रायः सभी दर्शनों में तत्त्वज्ञान, भेदज्ञान, ब्रह्मज्ञान या अल्पज्ञान को ही माना गया है तथा इसीलिए प्रायः सभी दर्शनों में तत्त्वज्ञान की भरपूर प्रेरणा भी दी गयी है।

2.2 सांख्य–योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

सांख्य–योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

2.2.1 समानताएँ—सांख्य–योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शनों में आत्मा को प्रकृति या जड़ (अचेतन) पदार्थों से भिन्न माना गया है।

2. दोनों ही दर्शनों में उसे चैतन्यस्वरूप ही स्वीकार किया गया है।

3. दोनों ही दर्शनों में चैतन्य को आत्मा का मूल स्वभाव स्वीकार किया गया है, न्याय–वैशेषिकों की भाँति आगन्तुक गुण नहीं माना गया है।

4. दोनों ही दर्शनों में संख्यापेक्षा अनन्त आत्माएँ मानी गई हैं।

2.2.2 असमानताएँ—सांख्य–योग दर्शन और जैन दर्शन में आत्मविषयक निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ या निष्क्रिय मानता है किन्तु जैनदर्शन निश्चयनय से अथवा द्रव्य–अपेक्षा से ही आत्मा को उक्त प्रकार का मानता है तथा व्यवहार नय से अथवा पर्याय की अपेक्षा से तो उसे अनित्य या परिणामी भी मानता है।

2. सांख्य दर्शन आत्मा को सत्त्व-रज-तम गुणों से रहित और सर्वथा शुद्ध-बुद्ध मानता है किन्तु जैन दर्शन आत्मा को निश्चयनय से ही वैसा स्वीकार करता है और साथ ही व्यवहार नय से राग-द्वेषादियुक्त अशुद्ध अज्ञानी भी स्वीकार करता है।

3. सांख्य दर्शन ज्ञान को आत्मा (पुरुष) का गुण नहीं मानता बल्कि प्रकृति का परिणाम कहता है किन्तु जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का अपना ही स्वभाव या गुण स्वीकार करता है।

4. सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानता है पर जैन दर्शन में आत्मा को निश्चयनय से अकर्ता और व्यवहार नय से कर्ता दोनों ही स्वीकार किया गया है।

5. सांख्य दर्शन के अनुसार बन्ध-मोक्ष तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति ही बँधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है, आत्मा तो सर्वथा बन्ध-मोक्ष से रहित है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार बन्ध-मोक्ष आत्मा का ही होता है।

6. सांख्य दर्शन आत्मा को निर्गुण-निराकार सर्वव्यापक मानता है किन्तु जैन दर्शन में आत्मा को सगुण-साकार और देह परिमाण माना गया है।

7. सांख्य दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा सर्व दुःखों से रहित हो जाता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार सर्व दुःखों से रहित होने के साथ-साथ अतीन्द्रिय सुख से सहित भी हो जाता है।

2.3 न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.3.1 समानताएँ—न्याय-वैशेषिक और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शन आत्मा को एक ऐसा अभौतिक द्रव्य मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सर्व भौतिक द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है।

2. दोनों ही दर्शन संख्यापेक्षा अनेक आत्माएँ स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा है।

3. दोनों ही दर्शन आत्मा को अपने-अपने कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता भी स्वीकार करते हैं।

4. दोनों ही दर्शन आत्मा को स्वभावतः अमूर्तिक मानते हैं। यद्यपि जैन दर्शन में संसारी आत्मा को कर्मसहित होने से कथंचित् मूर्तिक भी माना गया है।

2.3.2 असमानताएँ—न्याय-वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है किन्तु जैन दर्शन में उसे आत्मा का स्वाभाविक गुण माना गया है।

2. न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को सर्वथा नित्य और अपरिणामी मानते हैं किन्तु जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् (पर्याय-अपेक्षा से) अनित्य और परिणामी भी मानता है।

3. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा विभु है, व्यापक है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह परिमाण है।

4. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता अपितु आत्मा के विशेष गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो जाता है। वैसे जिन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि विशेष गुणों का अभाव होना न्याय-वैशेषिक दर्शन में बताया गया है उनका अभाव तो जैन दर्शन भी मानता है। हाँ, ज्ञान-दर्शन आदि उसके स्वाभाविक विशेष गुणों का अभाव वह नहीं मानता।

2.4 मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.4.1 समानताएँ—मीमांसा और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों दर्शन मानते हैं कि आत्मा है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत या अजर–अमर है, स्वयं प्रकाशमान आत्मज्योतिरूप है।

2. संख्यापेक्षा अनेक आत्माएँ हैं।

3. आत्मा स्वयं अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही भोक्ता भी है। आत्मा को कर्मफल प्राप्ति किसी ईश्वरादि के द्वारा नहीं होती।

4. आत्मा अपने इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्मों तक में भी भोग सकता है।

5. भाट्ट मीमांसक और जैन दर्शन दोनों ही इस बात में भी एकमत हैं कि आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है।

2.4.2 असमानताएँ—मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. भाट्ट मीमांसक आत्मा को परिणामी और नित्य मानते हैं तथा प्राभाकर मीमांसक आत्मा को अपरिणामी नित्य मानते हैं किन्तु जैन दर्शन में द्रव्यापेक्षा से अपरिणामी नित्य और पर्यायापेक्षा से परिणामी अनित्य माना गया है।

2. प्राभाकर मीमांसक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं परन्तु जैन दर्शन चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं, अपितु उसका अपना मूल स्वभाव मानता है।

3. मीमांसा दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह परिमाण है।

4. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा सर्व दुःखों से रहित हो जाती है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुखादि गुणों से सहित भी हो जाती है।

5. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता अपितु आत्मा के विशेष गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो जाता है। वैसे जिन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख–दुःख, धर्म–अधर्म आदि विशेष गुणों का अभाव होना न्याय–वैशेषिक दर्शन में बताया गया है, उनका अभाव तो जैन दर्शन भी मानता है। हाँ, ज्ञान–दर्शन आदि उसके स्वाभाविक विशेष गुणों का अभाव वह नहीं मानता।

2.5 मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.5.1 समानताएँ—मीमांसा और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों दर्शन मानते हैं कि आत्मा है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत या अजर–अमर है, स्वयं प्रकाशमान आत्मज्योतिरूप है।

2. संख्यापेक्षा अनेक आत्माएँ हैं।

3. आत्मा स्वयं अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं ही भोक्ता भी है। आत्मा को कर्मफल प्राप्ति किसी ईश्वरादि के द्वारा नहीं होती।

4. आत्मा अपने इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्मों तक में भी भोग सकता है।

5. भाट्ट मीमांसक और जैन दर्शन दोनों ही इस बात में भी एकमत हैं कि आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है।

2.5.2 असमानताएँ—मीमांसा दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. भाट्ट मीमांसक आत्मा को परिणामी और नित्य मानते हैं तथा प्राभाकर मीमांसक आत्मा को अपरिणामी नित्य मानते हैं किन्तु जैन दर्शन में द्रव्यापेक्षा से अपरिणामी नित्य और पर्यायापेक्षा से परिणामी अनित्य माना गया है।

2. प्राभाकर मीमांसक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं परन्तु जैन दर्शन चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं अपितु उसका अपना मूल स्वभाव मानता है।

3. मीमांसा दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह परिमाण है।

4. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा सर्व दुःखों से रहित हो जाती है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुखादि गुणों से सहित भी हो जाती है।

5. मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता अपितु आत्मा के विशेष गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो जाता है। वैसे जिन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि गुणों का अभाव होना मीमांसा दर्शन में बताया गया है, उनका अभाव तो जैन दर्शन भी मानता ही है किन्तु ज्ञान-दर्शन आदि उसके स्वाभाविक विशेष गुणों का अभाव वह नहीं मानता।

2.6 अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.6.1 समानताएँ—अद्वैतवेदान्त दर्शन और जैनदर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. आत्मा चैतन्यस्वरूप है और उसका यह चैतन्य जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सर्व अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। आत्मा चैतन्य से रहित कभी भी नहीं होता।

2. चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है अपितु स्वाभाविक गुण है।

3. वेदान्त दर्शन के अनुसार भी आत्मा सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है और जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों की सत्तास्वरूप वस्तु है अर्थात् सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप ही है।

4. दोनों ही दर्शनों में मोक्ष को भावात्मक माना गया है, अभावात्मक नहीं। आत्मा के पूर्ण शुद्ध एवं स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति का नाम मोक्ष है जहाँ आत्मा शुद्ध चैतन्य आदि आनन्द स्वरूप में स्थित रहता है।

5. दोनों ही दर्शनों में मोक्ष की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति।

2.6.2 असमानताएँ—अद्वैतवेदान्त दर्शन में संख्यापेक्षा आत्मा को एक ही माना गया है किन्तु जैन दर्शन में अनन्त आत्मा माने गये हैं।

2. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को उपाधियों के कारण ही कर्ता-भोक्ता माना गया है, वास्तविक रूप से नहीं; किन्तु जैन दर्शन में आत्मा को मात्र शुद्ध निश्चयनय से ही अकर्ता-अभोक्ता माना है अन्यथा वह अपने रागादि भावों का कर्ता-भोक्ता तो वास्तव में है ही।

3. दरअसल अद्वैतवेदान्त दर्शन में जीव और आत्मा में बड़ा अन्तर माना गया है। जीव तो संसारी है किन्तु आत्मा शुद्ध-बुद्ध है। इसी प्रकार जीव अनेक हैं किन्तु आत्मा एक ही है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होकर अनेकत्व की प्रतीति कराता है उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक शरीरों में पहुँचकर अविद्या से अनेकत्व की प्रतीति कराता है किन्तु जैन दर्शन उनकी इस बात से सहमत नहीं है। वहाँ जीव और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, मात्र कथन शैली का ही अन्तर है। जैन दर्शन के अनुसार जीव या आत्मा संख्यापेक्षा अनेक हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न या स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पदार्थ हैं। वे मोह-राग-द्वेषादि भावों से सहित होने के कारण अशुद्ध कहे जाते हैं और मुक्त दशा में उनका अभाव हो जाने से शुद्ध-बुद्ध कहे जाते हैं।

4. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय माना गया है किन्तु जैन दर्शन में उसे सक्रिय पदार्थ स्वीकार किया गया है।

5. अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को निरवयवी और व्यापक माना गया है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा सावयवी (सप्रदेशी, बहुप्रदेशी, असंख्याप्रदेशी) और अव्यापक—मात्र देह परिमाण है।

6.अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है, जो यद्यपि स्थूल अपेक्षा से जैन दर्शन को भी मान्य है किन्तु वास्तव में जैन दर्शन के अनुसार तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।

7. अद्वैतवेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं होता अपितु जीव अपने स्वाभाविक शुद्ध–बुद्ध रूप में अनन्त काल तक स्वतन्त्रतया निवास करता है।

2.7 विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.7.1 समानताएँ—विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शन आत्मा की सत्ता में पूर्ण विश्वास करते हैं और उसे शरीर, मन, वाणी व इन्द्रियों से अत्यन्त भिन्न तथा चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक वस्तु मानते हैं।

2. संख्यापेक्षा भी दोनों दर्शनों के अनुसार इस विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं जो प्रति शरीर भिन्न–भिन्न हैं, एक ही नहीं है।

3. प्रत्येक आत्मा स्वभावतः ज्ञान–आनन्द स्वरूप हैं।

4. आत्मा ज्ञातास्वभावी होते हुए भी अपने–अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता भी है।

5. मोक्षावस्था में आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप हो जाता है, उसमें कोई अशुद्धता शेष नहीं रहती।

2.7.2 असमानताएँ—विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और जीव पर्यायवाची हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है अतः वे उसे कभी 'आत्मा' शब्द से और कभी 'जीव' शब्द से कह देते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में इसे सदा 'जीवात्मा' शब्द से ही सम्बोधित किया जाता है।

2. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार यह जीवात्मा ज्ञानानन्द स्वरूप और अपने–अपने कर्मों का कर्ता–भोक्ता होते हुए भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है अपितु ब्रह्म या ईश्वर ही उसका स्वामी या संचालक है, वही इसे कर्मों का फल प्रदान करता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों को करता है और स्वयं ही अपने कर्मों के फल को भोगता भी है। फल प्रदान करने की शक्ति भी कर्मों में ही स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है।

3. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा (जीवात्मा) अणु रूप है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार शरीर प्रमाण है।

4. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा (जीवात्मा) के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—बद्ध जीव,, मुक्त जीव और नित्य जीव, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार दो ही भेद होते हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीव को बद्ध जीव भी कह सकते हैं किन्तु बद्ध और मुक्त के अतिरिक्त नित्य जीव नाम का कोई अलग से भेद नहीं होता।

5. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार जीवात्मा को विदेह मुक्ति ही होती है, जीवन मुक्ति नहीं होती किन्तु जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति दोनों प्रकार की होती है—जीवन मुक्ति और देह मुक्ति।

6. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा मुक्तावस्था में ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म सदृश हो जाता है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् और अनादिनिधन पदार्थ है, वह मुक्तावस्था में भी अपने पूर्ण विकसित शुद्ध स्वभाव के साथ स्वतन्त्रतया निवास करता है, किसी अन्य ब्रह्मादि में विलीन नहीं होता।

2.8 बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.8.1 समानताएँ—बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. दोनों ही दर्शनों में चार्वाक जैसी शरीरात्मवाद की अवधारणा का प्रबल निराकरण किया गया है।

2. दोनों ही दर्शन आत्मा के पूर्वजन्म–पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं।

3. दोनों ही दर्शन आत्मा की दु:खमुक्ति हेतु अशुभ कर्मों से निवृत्ति और श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हैं।

4. दोनों ही दर्शन निर्वाण या मोक्ष में ही पूर्णतया दु:खमुक्ति मानते हैं और संसारदशा को दु:खरूप ही स्वीकार करते हैं।

2.8.2 असमानताएँ—उक्त दोनों दर्शनों में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. बौद्ध दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है अनात्मवाद और इसीलिए बौद्धदर्शन एक अनात्मवादी दर्शन के रूप में जाना जाता है किन्तु जैन दर्शन स्पष्टतया आत्मवादी दर्शन कहलाता है क्योंकि उसमें आत्मा के अस्तित्व, स्वरूप, भेदादि का विस्तारपूर्वक सभी जैनाचार्यों ने एक सा वर्णन किया है।

2. बौद्ध दर्शन में आत्मा सत्य वस्तु न होकर काल्पनिक मात्र है अथवा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान— इन पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं है; किन्तु जैन दर्शन में ऐसा नहीं है अपितु आत्मा एक स्वतन्त्र सत्य वस्तु चैतन्यस्वरूप है, रूपादि तो पुद्गल हैं।

3. बौद्ध दर्शन में आत्मा क्षणस्थायी या क्षणिक प्रवाह मात्र है, अत: सर्वथा अनित्य या परिणमनशील है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा द्रव्यापेक्षा नित्य त्रिकालस्थायी, अपरिवर्तनशील और पर्यायापेक्षा अनित्य या परिवर्तनशील भी है।

2.9 चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप—

2.9.1 समानताएँ—चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में प्राय: कोई समानता नहीं प्राप्त होती। दोनों ही दर्शनों की मान्यता इस सम्बन्ध में बिल्कुल अलग–अलग है।

तथापि यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि दोनों दर्शन आत्मा का चैतन्यरूप अवश्य स्वीकार करते हैं। चार्वाक दर्शन आत्मा को भले ही भूतचतुष्टय का विशिष्ट परिणमन मात्र मानता हो तथापि इतना तो कहता ही है कि उस भूतचतुष्टय के परिणमन से जो चैतन्य की उत्पत्ति होती है, वही आत्मा है अत: सिद्ध होता है कि आत्मा का चैतन्य स्वरूप तो चार्वाक को भी स्वीकृत है। कहा भी है—

चिदस्तित्वे विवादो न चार्वाकस्यापि तेन च।
भूतसंहतिकार्यस्य ज्ञानरूपस्य कल्पनात्।।

अर्थ—आत्मा को चैतन्यस्वरूप मानने में चार्वाकों को भी विवाद नहीं है क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहति का कार्य विशिष्ट ज्ञानरूप ही माना है।

यही दलसुख मालवणिया का भी चिन्तन है—

"समस्त भारतीय दर्शनों में यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमें और दूसरे दर्शनों में मतभेद यह है कि चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी वह शाश्वत तत्त्व नहीं, वह भूतों से उत्पन्न होता है।"

2.9.2 असमानताएँ—चार्वाक दर्शन और जैन दर्शन में आत्मा के विषय में निम्नलिखित असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. चार्वाक दर्शन नास्तिक एवं अनात्मवादी दर्शन के रूप में विख्यात है किन्तु जैन दर्शन स्पष्टत: आस्तिक एवं आत्मवादी दर्शन कहलाता है।

2. चार्वाक दर्शन आत्मा नामक किसी वस्तु का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता किन्तु जैन दर्शन न केवल आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है अपितु उसके समर्थन में अनेक अकाट्य युक्तियाँ भी प्रस्तुत करता है।

3. चार्वाक दर्शन में शरीर को ही आत्मा माना गया है किन्तु जैन दर्शन में शरीर को अचेतन, जड़, पुद्गल आदि कहकर आत्मा को उससे अत्यन्त भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वीकार किया गया है।

4. चार्वाक दर्शन में आत्मा पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतों का विशिष्ट मिश्रण माना गया है किन्तु जैन दर्शन के ग्रंथों में इसका सयुक्तिक निराकरण किया गया है और आत्मा को इन चारों भूतों से भिन्न एक स्वतन्त्र चेतन तत्त्व सिद्ध किया गया है।

5. चार्वाक दर्शन में आत्मा के भेद-प्रभेद भी नहीं बताये गए हैं किन्तु जैन दर्शन में अनेक अपेक्षाओं से आत्मा के अनेक भेद–प्रभेद सोदाहरण समझाये गये हैं।

6. चार्वाक दर्शन में आत्मा के पूर्वजन्म–पुनर्जन्म को भी नहीं माना गया है किन्तु जैन दर्शन में इसे स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। न केवल स्वीकार किया गया है, सयुक्तिक सिद्ध भी किया गया है।

7. चार्वाक दर्शन में आत्मा के पुण्य–पाप या शुभ–अशुभ कर्मों का कोई विवेचन नहीं मिलता है जबकि जैन दर्शन में उनका स्पष्ट विवेचन भी किया गया है और उनमें हेयोपदेय विज्ञान भी कराया गया है।

8. चार्वाक दर्शन के अनुसार मोक्ष नाम की कोई चीज नहीं होती अथवा मृत्यु का ही दूसरा नाम मोक्ष है, जो अभावात्मक है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की पूर्ण शुद्ध दशा का प्रकट होना मोक्ष है, जो सद्भावात्मक है।

9. चार्वाक दर्शन में मोक्षमार्ग का भी कोई वर्णन नहीं किया है किन्तु जैन दर्शन में मोक्षमार्ग का वर्णन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि।

2.10 आत्मा सम्बन्धी विविध वाद और उनकी जैनदृष्टि से समीक्षा—

प्रायः सभी दर्शनों में आत्मा के सम्बन्ध में अनेक बातों में एकरूपता होने के बावजूद पर्याप्त मतभेद भी पाया जाता है, फलस्वरूप अनेक वादों का भी उद्भव हो गया है। शास्त्रों में उन सभी वादों पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक ऊहापोह उपलब्ध होता है। यहाँ हम अति संक्षेप में उनकी भी चर्चा एवं समीक्षा करना उपयुक्त समझते हैं ताकि आत्मा का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सके। ध्यातव्य है कि यहाँ यह समीक्षा जैनदृष्टि से ही की जा रही है।

(1) भूतात्मवाद—इसे **भूतचैतन्यवाद** भी कहते हैं। यह चार्वाकों का सिद्धान्त है। उनका मानना है कि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार भूत ही मिलकर जब इस देह के रूप में उत्पन्न होते हैं तो उसमें सहज रूप से चैतन्य की उत्पत्ति भी हो जाती है जिसका शरीर के नाश के साथ ही नाश भी हो जाता है, पुनर्जन्म आदि कुछ नहीं होता।

परन्तु जैनाचार्यों के अनुसार यह मत समीचीन नहीं है। चार क्या, चालीस अचेतन भी मिलकर कभी एक चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकते। चेतन, चेतन ही रहता है और अचेतन, अचेतन ही तथा शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि भी अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्टतया की जा सकती है।

(2) देहात्मवाद (शरीरात्मवाद)—कुछ चार्वाक आदि शरीर को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है, शरीर का जन्म और मरण ही आत्मा का जन्म–मरण है। मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ आदि वाक्य भी हम सदैव बोलते रहते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि यह शरीर ही आत्मा है।

शरीरात्मवादियों के अनुसार यदि कोई शरीर से भिन्न आत्मा होता तो प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी मृत्यु के बाद लौट कर समाचार देने क्यों नहीं आता ? अथवा शरीर को कितना ही चीर–फाड़ करके देखो, आत्मा मिलता क्यों नहीं ? अथवा

मृत्यु के बाद आत्मा के निकल जाने पर भी व्यक्ति का वजन एक ग्राम भी कम क्यों नहीं होता ? अथवा मृत्यु से पूर्व व्यक्ति को बन्द पेटी में रखने पर भी मरते समय पेटी तोड़कर आत्मा निकलता हुआ क्यों नहीं दिखाई देता ? अतः सिद्ध होता है कि शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं, शरीर ही आत्मा है।

परन्तु जैनाचार्यों के अनुसार यह मत भी समीचीन नहीं है। यदि शरीर ही आत्मा है तो मोटे शरीर में अधिक ज्ञानादि और छोटे शरीर में कम ज्ञानादि पाये जाने चाहिए, जबकि ऐसा नहीं है। चेतना शरीर का धर्म ही नहीं है तथा मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ आदि वाक्यों का प्रयोग तो सभी लोग औपचारिक रूप से करते हैं। जिस प्रकार विश्वसनीय नौकर को मालिक यह कहने लगता है कि यह नौकर मैं ही हूँ, जबकि वे दोनों स्पष्ट अलग-अलग हैं; उसी प्रकार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं और व्यावहारिक रूप से ही अभिन्न प्रतीत होते हैं।

(3) इन्द्रियात्मवाद—कुछ चार्वाक आदि इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर ही पदार्थों का ज्ञान होता है और उनके अभाव में नहीं होता है अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। इन्द्रियाँ स्वयं चेतनस्वरूप नहीं हैं। मात्र अचेतन करण (साधन) रूप हैं। जिस प्रकार चश्मा आदि अचेतन करण भी आत्मा के ज्ञान में निमित्त होते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी आत्मा के ज्ञान में निमित्त मात्र होती हैं। यदि इन्द्रियाँ स्वयं चेतनरूप हों और जानने का कार्य करती हों तो मृतक प्राणी की इन्द्रियाँ क्यों नहीं जानतीं ? तथा यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों तो वे एक शरीर में अनेक हैं अतः आत्मा भी एक शरीर में अनेक मानने होंगे। तीसरी बात, यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों तो चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट क्यों नहीं होता ? चौथी बात, इन्द्रियों के बिना भी हमें स्मरणादि ज्ञान होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा इन्द्रियों से उसी प्रकार भिन्न है, जिसे प्रकार खिड़कियों से देखने वाला पुरुष खिड़कियों से भिन्न होता है।

(4) मानसात्मवाद—कुछ चार्वाक मन को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि मन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके, मन के सक्रिय होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषय को जान सकती हैं, अतः मन ही आत्मा है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। इन्द्रियों की भाँति मन भी करण (ज्ञान का साधन) मात्र है। तथा उन चार्वाकों ने इस मन को भी पृथ्वी आदि भूतों का ही विकार माना है अतः यह भी उन भूतों के समान अचेतन ही सिद्ध होता है, चेतन नहीं। हाँ, यदि नित्य ज्ञानमय तत्त्व को मन मानकर उसे आत्मा माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

(5) प्राणात्मवाद—कुछ चार्वाक प्राण को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राण के निकल जाने पर शरीर व इन्द्रियाँ भी सब निष्फल निष्क्रिय हो जाते हैं और 'उपनिषदों ' में भी तो प्राणों को ही आत्मा कहा है, अतः प्राण ही आत्मा हैं, प्राणों के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उनके ही अनुसार ये प्राण भी पृथ्वी आदि भूतों के विकार हैं जो अचेतन ही सिद्ध होते हैं। पाँच इन्द्रियों, मन-वचन-काय, आयु और श्वाचोच्छ्वास रूप दसों प्राणों को जैन दर्शन में पौद्गलिक एवं अचेतन ही माना है। हाँ, यदि चेतनारूप भाव प्राणों को आत्मा कहा जाए तो हमें कोई आपत्ति नहीं।

(6) अव्याकृतवाद—इसे बौद्ध दर्शन में स्वीकार किया गया है। महात्मा गौतम बुद्ध का कहना था कि आत्मा अव्याकृत है—अप्रयोजनभूत है। दुःखनिवृत्ति के लिए उसे कहने-समझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

परन्तु यह कोरी आत्मवंचना है। दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति के लिए आत्मा को जानना आवश्यक ही नहीं, एकदम अनिवार्य है। आत्मा को जाने बिना कौन, किसका, किस प्रकार दुःख दूर कर सुख की प्राप्ति कर सकेगा ?

(7) अनात्मवाद—इसे भी बौद्ध दर्शन में ही स्वीकार किया गया है। बौद्धों का कहना है कि आत्मा की बात से अहंकार और ममकार की उत्पत्ति होती है, जो संसार में आवागमन का कारण बनता है, अतः आत्मा और उसकी चर्चा में किंचित् भी मोह एवं राग नहीं रखना चाहिए।

किन्तु यह मत भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता। एक तो स्वयं ही इस मत की अवधारणा स्पष्ट नहीं है। बौद्धों में ही इस मत को लेकर अनेक मतभेद पाये जाते हैं। कोई इसका अर्थ पुद्गलनैरात्म्यवाद करता है और कोई पुद्गलास्तिवाद, आदि। दूसरी बात–आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने–समझने से अहंकार–ममकार नहीं होता, अपितु तत्त्वज्ञान होता है जो दु:खनिवृत्ति और सुखप्राप्ति के लिए परमावश्यक है। अहंकार–ममकार तो परपदार्थों को अपना मानने से होता है।

(8) नैरात्म्यवाद—यह भी बौद्धों का मत है। उनका कहना है कि आत्मा को मानना ही नहीं चाहिए, क्योंकि आत्मा को 'स्व' मानने से दूसरों को 'पर' मानना होगा। 'स्व' और 'पर' का विभाग होते ही 'स्व' का परिग्रह और 'पर' से द्वेष भी होगा और फिर उनसे ही राग–द्वेषमूलक सैकड़ों दोष और भी उत्पन्न हो जायेंगे।

परन्तु ऐसा मानना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि 'स्व' को 'स्व' मानना परिग्रह नहीं होता अपितु 'पर' को 'स्व' मानना परिग्रह होता है। इसी प्रकार 'स्व' को 'स्व' और 'पर' मानने से कोई राग–द्वेष नहीं होते, राग–द्वेष तो पर पदार्थों को इष्ट और अनिष्ट मानने से उत्पन्न होते हैं। 'स्व' को 'स्व' और 'पर' को 'पर' मानना तो सम्यग्ज्ञान है, उससे राग–द्वेष कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? उससे तो राग–द्वेष मिटते हैं।

(9) पंचस्कन्धवाद—यह भी बौद्धों का ही मत है। वे कहते हैं कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान–ये पाँच स्कन्ध हैं और आत्मा इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

परन्तु उनकी यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि यह भी चार्वाकों के भूतचैतन्यवाद जैसा ही है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तो फिर भी चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूप तो चार्वाकों के जड़भूत जैसा ही है, जिससे कथमपि चेतनतत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वैसे भी कभी आत्मा को 'अव्याकृत' कहना और कभी पंचस्कन्धरूप कहना पूर्वापरविरोधयुक्त है और जिज्ञासु को संशय में डालता है।

(10) क्षणिकात्मवाद—यह भी बौद्धों का मत है। वे आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं परन्तु यह समीचीन नहीं है। आत्मा पर्याय–अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हुए भी अपने मूल स्वभाव से नित्य भी है अन्यथा कर्म एवं कर्मफल आदि की व्यवस्था और स्मृति आदि सर्व व्यवहारों के लोप का प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा। जैनाचार्यों ने तो इसीलिए न केवल आत्म को बल्कि प्रत्येक वस्तु को ही नित्यानित्यात्मक सिद्ध किया है क्योंकि सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर वस्तु में कोई अर्थक्रिया ही सिद्ध नहीं होती।

(11) विभु–आत्मवाद—इसे व्यापक आत्मवाद भी कहते हैं। प्राय: सभी वैदिक दर्शनों में आत्मा को विभु या सर्वत्र व्यापक माना गया है।

किन्तु इसे मानने में आपत्ति यह है कि प्रत्यक्ष ही अपने आत्मा के सुख, दु:ख, ज्ञानादि गुण अपने शरीर से बाहर नहीं प्रतीत होते अत: उन गुणों का स्वामी आत्मा भी शरीर से बाहर कैसे माना जा सकता है ? यदि आत्मा को सर्व व्यापक माना जाए तो एक के भोजन करने पर अन्यों को भी तृप्ति होनी चाहिए—इत्यादि प्रकार से सर्वव्यवहार का संकर हो जाएगा। पत्नी के पेट का दर्द पति के दवाई खाने से नहीं मिटता, पत्नी को ही दवाई खानी पड़ती है—इससे सिद्ध होता है कि दोनों की आत्मा एक नहीं है, अलग–अलग है।

(12) अणु–आत्मवाद—इसे **अणुपरिमाणवाद** भी कहते हैं। कुछ वैदिक दर्शन (द्वैत वेदान्ती) मानते हैं कि आत्मा वटकणिका मात्र या अणु समान है और वह मात्र हृदय प्रदेश में रहता है, सम्पूर्ण शरीर में नहीं।

परन्तु यह भी समीचीन सिद्ध नहीं होता क्योंकि रोमांचादि के द्वारा सर्वांगों में सुख–दु:ख की अनुभूति होती देखी जाती है। यदि आत्मा मात्र हृदय में ही हो तो सम्पूर्ण शरीर में सुख–दु:ख का अनुभव होना असम्भव था।

(13) एकात्मवाद—वेदान्त दर्शन कहता है कि इस विश्व में आत्मा एक ही है, अनेक नहीं; हमें जो अनेक आत्माएँ दिखाई देती हैं, वह उसी प्रकार हैं जैसे एक ही चन्द्रमा के अनेक जलपात्रों में अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

परन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। सुखी, दुःखी, पापी, पुण्यात्मा आदि के भेद इतने स्पष्ट दिखाई देते हैं कि उनको कदापि एक नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा चन्द्र प्रतिबिम्ब के समान एक ही हो तो सबको चन्द्रबिम्ब के ही समान एक सा ही होना चाहिए था। कोई दुखी है, कोई सुखी है, कोई पापी है, कोई पुण्यात्मा है, कोई मिथ्यादृष्टि है, कोई सम्यग्दृष्टि है, कोई आसक्त है, कोई विरक्त है इत्यादि प्रकार की भिन्नताएँ क्यों दिखाई देती हैं ? सबको एक सा ही होना चाहिए था तथा यदि आत्मा एक ही हो तो जो पाप करता है वही नरकादि के दुःख क्यों भोगता है, दूसरा क्यों नहीं भोगता ? तथा पदार्थों का स्मरण भी दूसरे को क्यों नहीं होता, उसी को क्यों होता है ? इत्यादि प्रकार से सिद्ध होता है कि आत्मा वस्तुतः एक नहीं अनेक हैं।

(14) ब्रह्मांशवाद—वेदान्त दर्शन कहता है कि हम सभी आत्माएँ एक ब्रह्म या परमब्रह्म के अंशरूप हैं, उसी से निकलते हैं और उसी में समा जाते हैं परन्तु उनका मत भी एकात्मवाद के समान ही युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता।

(15) ज्ञानशून्यवाद—सांख्य, वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को स्वभाव से चेतन नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा स्वयं तो ज्ञानशून्य है परन्तु जब उसमें ज्ञानगुण का समवाय सम्बन्ध हो जाता है तब वह ज्ञानी या चेतन कहा जाता है परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि आत्मा स्वभाव से ही चेतन न हो तो जड़ और चेतन का मूल भेद ही समाप्त हो जायेगा। जिस प्रकार अग्नि स्वभाव से उष्ण है उसी प्रकार आत्मा भी स्वभाव से भी ज्ञानी या चेतन है। ज्ञान या चैतन्य आत्मा से पृथक् नहीं पाया जाता है।

(16) अकर्तावाद—सांख्य दर्शन आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानता है। उसका कहना है कि आत्मा तो मात्र भोक्ता है, कर्ता नहीं।

यद्यपि निश्चय से आत्मा को अकर्ता कहना अनुचित नहीं है पर व्यवहार से वह अपने पुद्गल कर्मों का कर्ता है ही। अपने राग-द्वेषादि भावों का तो वह निश्चय से भी कर्ता है और फिर जब उसे 'भोक्ता' माना तो 'भुज्' क्रिया का कर्ता तो हो ही गया न; अतः आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानना ठीक नहीं है।

(17) निष्क्रिय-आत्मवाद—सांख्य दर्शन में आत्मा को सर्वथा नित्य, निष्क्रिय, अपरिणामी या कूटस्थ माना गया है। उसके अनुसार कोई भी क्रिया तभी सम्भव है जब सत्, रज और तम गुण हों किन्तु आत्मा (पुरुष) में ये गुण नहीं होते अतः वह निष्क्रिय है। मात्र प्रकृति ही सक्रिय है।

किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है। आत्मा अपने मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य या शाश्वत होते हुए भी पर्यायापेक्षा से सक्रिय है, क्रियाशील है क्योंकि उसमें उत्पाद-व्यय रूप अवस्था-परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। यदि आत्मा निष्क्रिय ही होता तो उसके निमित्त से शरीर में भी क्रिया नहीं हो सकती थी।

2.11 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-दर्शनशास्त्र के उद्भव का मूल कारण एवं प्रयोजन क्या है ?

(क) भूतचतुष्टय ☐
(ख) विशिष्ट परिणमन ☐
(ग) आत्मज्ञान ☐

प्रश्न 2-किस अवस्था में आत्मा अपने सम्पूर्ण विकारों/दोषों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप में पूर्ण विकसित हो जाती है ?

(क) मुक्त अवस्था ☐
(ख) संसारी अवस्था ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 3-आत्मा को सर्वथा नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और निष्क्रिय कौन मानता है ?

(क) जैन दर्शन ☐
(ख) सांख्य दर्शन ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सांख्य-योगदर्शन और जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप में क्या समानताएं हैं ?

प्रश्न 2-मीमांसा दर्शन और जैनदर्शन में आत्मा का क्या स्वरूप माना है ? संक्षेप में समानता व असमानता दोनों को तीन-तीन परिभाषाओं द्वारा बताइए ?

प्रश्न 3-विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में एवं जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप में क्या असमानताएँ हैं ?

प्रश्न 4-बौद्ध दर्शन और जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप के संबंध में क्या-क्या समानताएँ और क्या असमानताएँ हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आत्मा संबंधी विविध वादों के नाम बताते हुए किन्हीं 5 की परिभाषा सहित जैन दृष्टि से समीक्षा लिखिए?

पाठ-3—आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा

3.1 दर्शन और विज्ञान—

आज का युग वैज्ञानिक युग है। लोग विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित और चमत्कृत हैं। बात-बात पर विज्ञान की बात करते और पूछते हैं अतः जब भी हम कोई दर्शनशास्त्र की बात करते हैं तब भी वे तुरन्त 'विज्ञान इस विषय में क्या कहता है' अथवा 'इसका वैज्ञानिक आधार/प्रमाण क्या है'—इत्यादि प्रकार की बातें करने लग जाते हैं।

विचारणीय है कि दर्शन और विज्ञान में क्या अन्तर है ? क्या दर्शन भी विज्ञान ही नहीं है ?

दर्शन भी विज्ञान ही है, दर्शन और विज्ञान में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों ही तर्क, युक्ति या परीक्षा से प्राप्त निष्कर्षों को ही स्वीकार करने पर जोर देते हैं।

दरअसल ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे आधुनिक युग में 'विज्ञान' कहते हैं, उसे ही प्राचीन युग में 'दर्शन' कहा जाता था अतः दर्शन भी वस्तुतः विज्ञान ही है और विज्ञान भी वस्तुतः दर्शन ही है, दोनों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। मात्र 'प्राचीन' और 'आधुनिक' का ही इन दोनों में अन्तर आज हो गया है। 'विज्ञान' नाम भी वस्तुतः कोई नया नहीं है, दर्शन ग्रंथों में पहले से ही अनेक स्थानों पर 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे—

जैनदर्शन को 'वीतराग विज्ञान' शब्द से बहुत बार सम्बोधित किया गया है। यथा—

(क) 'मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।'

(ख) 'तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।'

(ग) ' जय वीतराग विज्ञान पूर।'

(घ) 'वन्दूँ श्री अरिहंत पद, वीतराग विज्ञान।'

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रों में 'दर्शन' के लिए 'विज्ञान' में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि धर्म और विज्ञान में तो अन्तर है, बहुत अन्तर है; परन्तु हमारा कहना है कि दर्शन और विज्ञान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

इसके लिए सर्वप्रथम धर्म और दर्शन में अन्तर समझ लेना उपयोगी होगा। डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने धर्म और दर्शन का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया—

"सब जीवों पर दया करो, किसी जीव की हिंसा न करो, सत्य बोलो, असत्य मत बोलो आदि विधि और निषेध रूप आचार का नाम धर्म है किन्तु जब इसमें 'क्यों' का सवाल उठता है तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि जीवों पर दया करना कर्तव्य है, गुण (अच्छा) है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है किन्तु जीवों की हिंसा करना अकर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख मिलता है; इसी तरह सत्य बोलना कर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और उससे दुःख प्राप्त होता है। इस प्रकार के विचार दर्शन कहे जाते हैं।"

तात्पर्य यह है कि धर्म तो सीधे-सीधे विधि-निषेध का उपदेश देता है किन्तु दर्शन उस विधि-निषेध की अनेक तर्कों या प्रमाणों द्वारा भलीभाँति परीक्षा करता है, हमें सयुक्ति समझाता है कि वैसा ही विधि-निषेध क्यों समीचीन है, उससे भिन्न या विपरीत क्यों नहीं।

इस प्रकार धर्म को ठोस आधार देने का काम दर्शन करता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि धर्म की अनेक प्रमाणों द्वारा युक्तिसंगत परीक्षा करना ही तो दर्शन है। दर्शनशास्त्र का उद्भव ही वस्तुतः इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट धर्म की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा की जाए। स्पष्ट है कि यही कार्य आधुनिक विज्ञान का भी है, वह भी निर्दिष्ट विषय की पूर्णतः निष्पक्ष होकर सप्रमाण परीक्षा करता है। यही कारण है कि हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि दर्शन और विज्ञान में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, दोनों वस्तुतः एक ही हैं।

इस प्रकार यदि देखा जाए तो दर्शन और विज्ञान दोनों पर्यायवाची ही हैं, एक ही विधा के दो नाम हैं, उनमें प्रकृतिगत

कोई अन्तर नहीं है । अतः हमेशा हर बात को मात्र आधुनिक विज्ञान द्वारा समर्थित होने पर ही स्वीकार करने का आग्रह रखना उचित नहीं है।' अपितु सर्वत्र तार्किकता या युक्तिसंगतता को ही विशेष महत्त्व देना उचित है, क्योंकि वही हमें अज्ञानता या मधविश्वास से मुक्ति दिलाकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कराने में समर्थ है ।

दर्शन और विज्ञान में इस प्रकार कोई मौलिक अन्तर न होते हुए भी, आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में आज बड़ा अन्तर देखने में आता है । एक तो स्पष्ट अन्तर यह आ गया है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक पदार्थों के विषय में ही अध्ययन- अनुसन्धान करता है, किन्तु दर्शनशास्त्र मानता है कि इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं-1. मूर्तिक और 2. अमूर्तिक तथा वह इन दोनों का ही अध्ययन प्रस्तुत करना अपना परम कर्तव्य समझता है । यही कारण है कि दर्शनशास्त्र के कथों में मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों ही प्रकार के पदार्थों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है।

दर्शनशास्त्र का मानना है कि जब जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं- मूर्तिक और अमूर्तिक तब दोनों का ही तो अध्ययन करना आवश्यक है, उनमें से किसी भी एक को छोड़ा कैसे जा सकता है? तथा यदि छोड़ दिया जाए तो वह अध्ययन अपूर्ण अध्ययन कैसे नहीं माना जाएगा ?

यदि कोई कहे कि अमूर्तिक पदार्थ (आत्मादि अप्रत्यक्ष पदार्थ) हमारी पकड़ में ही नहीं आते, हमें बिल्कुल ही प्रत्यक्ष नहीं होते, तो हम उनका वैज्ञानिक (निष्पक्ष एवं प्रामाणिक) अध्ययन कैसे कर सकते हैं? तो उसका उत्तर दर्शनशास्त्र यह देता है कि मात्र प्रत्यक्ष से ही निणय करने का आग्रह रखना संकीर्णता है । हर वस्तु का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से ही नहीं होता, बहुत-सी बातों का निणय हम लोक में भी अनुमानादि के द्वारा करते ही हैं । अनुमानादि द्वारा ज्ञात पदार्थ भी प्रत्यक्षादि की भांति असन्दिग्ध तथा समीचीन सिद्ध होते हैं । तथा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है, उसका किया ही क्या जा सकता है? यह तो नहीं किया जा सकता कि हमें प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती तो उसका अभाव ही मान लिया जाए क्योंकि तब तो फिर हमें अपने प्रपितामहादि अनेक सद्भावरूप वस्तुओं को भी अभावरूप मानना पड़ेगा, जो अवैज्ञानिक (मिथ्याज्ञान) ही होगा । अतः जिस वस्तु की परीक्षा जिस विधि (प्रमाण) से सम्भव हो, वही विधि हमें उसकी परीक्षा हेतु अपनानी चाहिए । एक ही विधि से सबकी परीक्षा का आग्रह रखना वैज्ञानिक (समीचीन) नहीं कहा जा सकता । स्वर्ण को शुद्ध करने की विधि अलग होती है और वस्त्र को शुद्ध करने की अलग । दोनों को एक ही विधि से शुद्ध करने का आग्रह वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता । वैसे तो विज्ञान भी स्वयं यह नहीं कहता कि मैं मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करूँगा, अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में नहीं करूँगा, किन्तु यह उसकी मजबूसीदुर्बलता है कि वह अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में ठीक से अध्ययन नहीं कर पा रहा है; यद्यपि वह कोशिश बहुत कर रहा है, सम्भव है कि भविष्य में किसी-न-किसी प्रकार से सफलता प्राप्त कर सकेगा । वर्तमान में भी विज्ञान की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ अमूर्तिक वस्तुओं का अध्ययन कर रही हैं । जैसे- मनोविज्ञान और जीवविज्ञान- ये दोनों विज्ञान की ही शाखाएँ हैं और बड़ी महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं । ये दोनों प्राणियों की विविध मनोदशाओं और जैविक क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर रही हैं, जो अमूर्तिक चैतन्य का ही अध्ययन है । अतः सर्वथा यह समझना भी मिथ्या ही है कि आधुनिक विज्ञान मात्र मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन करता है, अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में अध्ययन नहीं करता है । अमूर्तिक वस्तुओं के विषय में भी वह यथासम्भव कोशिश करता ही है; परन्तु कुछ तो अभी उसमें भी अनेक कमियाँ हैं और कुछ उसके निष्कर्ष भी अधिक लोगों तक पहुँच नहीं पा रहे हैं अतः उस ओर थोड़ा ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि आधुनिक विज्ञान मूर्तिक वस्तुओं के विषय में ही अधिक अध्ययन करता है।

आधुनिक विज्ञान और दर्शनशास्त्र में बड़ा भारी अन्तर लोगों को इसलिए भी लगता है क्योंकि आधुनिक विज्ञान तो प्रायः मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के अध्ययन में ही डूबा हुआ है जबकि दर्शनशास्त्र कहता है कि हमें अपने

वास्तविक हित हेतु अमूर्तिक वस्तुओं—विशेषत: आत्मा, परमात्मा आदि के ज्ञान पर अधिक ध्यान देना चाहिए, मात्र मूर्तिक (भौतिक) वस्तुओं के ज्ञान में ही सारा समय व्यतीत करना बुद्धिमानी नहीं। जीवन छोटा है और ज्ञान का कोई अन्त नहीं है अत: हमें वही शीघ्र सीख लेना चाहिए जिससे जन्म-मरण आदि दु:खों का विनाश हो।

3.2 आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप—

हमारा प्रकरण यहाँ आधुनिक विज्ञान के मत में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट करना है। ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा और परमात्मा भी अमूर्तिक या अभौतिक (Non-Matter) वस्तुएँ हैं जो किसी भी भौतिक उपकरण द्वारा पकड़ में आने वाली नहीं हैं अत: आधुनिक विज्ञान उन्हें परखनली आदि में रखकर तो हमें नहीं दिखा सकता है किन्तु ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथ्य अवश्य प्रस्तुत करता है जिनसे आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व और स्वरूप पर विशद प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम उन्हीं तथ्यों के आधार पर अपनी बात संक्षेप में कहने का प्रयास करेंगे।

आत्मा और परमात्मा भारतीय दर्शनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है और इसलिए भारतीय जनजीवन में प्रारम्भ से लेकर आज तक निरन्तर अत्यधिक चर्चित रहता आया है। बालक से लेकर वृद्ध तक और राजा से लेकर रंक तक सभी लोग यहाँ सदैव आत्मा और परमात्मा की चर्चा करते रहते हैं अत: आधुनिक विज्ञान ने भी इन विषयों पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने का अनेक बार प्रयास किया है। यह बात अलग है कि वह अभी तक इनके सम्बन्ध में अपने कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाया है किन्तु इन विषयों की उसने उपेक्षा की हो अथवा इनकी ओर कभी कोई ध्यान ही नहीं दिया हो ऐसा नहीं है।

तथा अनेक घटनाओं और प्रयोगों के आधार पर वह इनके अस्तित्व की सम्भावना भी प्रकट कर चुका है। भले ही वह इनके स्वरूपादि को स्पष्टतया सिद्ध नहीं कर पा रहा हो किन्तु अनेक जैविक क्रियाओं और मनोभावों के आधार पर वह यह भी सशक्त सम्भावना प्रस्तुत करता है कि इस शरीर में आत्मा जैसा कोई अन्य तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए अन्यथा जीवित और मृत शरीर में और क्या अन्तर हो सकता है। जिस प्रकार हमें लगता है कि हम चश्मा आदि उपकरणों से देख रहे हैं किन्तु वस्तुत: चश्मा आदि से नहीं, आँख से देख रहे होते हैं उसी प्रकार हमें लगता है कि हम आँख से देख रहे हैं किन्तु वस्तुत: आँख से भी नहीं, किसी अन्य ज्ञान तत्त्व से देख रहे होते हैं, जो मृत्यु हो जाने पर शरीर से निकल जाता है। यदि आँख ही देखती हो तो मृत शरीर क्यों नहीं देखता, अत: सिद्ध होता है कि आँख तो चश्मा आदि के समान बाह्य निमित्त मात्र है, मूल कारण कोई अन्य ज्ञान तत्त्व है। यह अन्य ज्ञान तत्त्व ही दर्शन ग्रंथों में 'आत्मा' या 'जीव' कहा गया है।

आँख की देखना क्रिया की भाँति सारे ही शरीर की सुनना, सूँघना आदि सभी सैंकड़ों जैविक क्रियाएँ जिस तत्त्व के रहने पर चलती रहती हैं और जिसके न रहने पर (शरीर से बाहर निकल जाने पर, मृत्यु हो जाने पर) नहीं चलती हैं, रुक जाती हैं, वह अन्य चैतन्य तत्त्व ही 'आत्मा' होना चाहिए।

3.2.1 आत्मा शरीर से भिन्न एक अलग स्वतन्त्र तत्त्व है—

इसे डॉ. अनिल कुमार जैन ने निम्नलिखित तीन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा सशक्त रूप से इस प्रकार सिद्ध किया है—

1. पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ—पृथ्वी पहले तपता हुआ आग का गोला था। इसके पर्याप्त शीतल हो जाने पर अनुकूल वातावरण में कई प्रकार के जटिल प्रोटीन बनने लगे। इन जटिल प्रोटीनों के संघटन से कोशिका का निर्माण हुआ और अमीबा जैसे सूक्ष्म जीव अस्तित्व में आये। कई वैज्ञानिकों का मत है कि जीव तत्त्व का निर्माण जटिल रसायनों के संश्लेषण द्वारा नहीं हुआ है बल्कि यह किसी अन्य ग्रह से आया है। अन्य ग्रहों पर भी जीवन की पूर्ण सम्भावनाएँ हैं। यह जीव तत्त्व आत्मा ही है जो कि जड़ पदार्थों से निर्मित नहीं हो सकता है। जड़ पदार्थों से निर्मित तो मात्र शरीर है जिसका निर्माण पृथ्वी पर हुआ।

2. ब्रह्माण्ड का विस्तार—खगोल वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है। इस बात को प्रयोगों द्वारा भी सिद्ध किया जा चुका है। वैज्ञानिकों का मत है कि ब्रह्माण्ड में संकुचन एवं विस्तरण होता रहता है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मात्र जड़ तत्त्व से ही निर्मित होता तो इसमें एक स्थिरता होनी चाहिए, इसमें संकुचन–विस्तरण नहीं होना चाहिए। फिर यह विस्तार क्यों हो रहा है ? यह इस बात की ओर इशारा करता है कि ब्रह्माण्ड मात्र जड़ पदार्थ से निर्मित नहीं है बल्कि इसमें जड़ पदार्थ से भिन्न अन्य तत्त्व भी मौजूद है जिस पर भौतिकी के नियम लागू नहीं होते हैं। जड़ से भिन्न यह तत्त्व आत्मा हो सकता है।

3. अंग–प्रत्यारोपण—अंग–प्रत्यारोपण आज एक आम बात हो गई है। आँख, गुर्दा, हृदय आदि सभी अंग–प्रत्यंगों का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। सैद्धान्तिक तौर पर मस्तिष्क का प्रत्यारोपण भी सम्भव है। किसी के शरीर से पूरे का पूरा खून निकाल कर किसी अन्य के खून को डाला जा सकता है। इन सबसे जुड़ी एक दिलचस्प बात यह है कि चाहे व्यक्ति के शरीर का पूरे का पूरा खून बदल दो, चाहे उसके गुर्दे, हृदय तथा मस्तिष्क को बदल दो; फिर भी यह व्यक्ति अपना वजूद, अपनी पहचान बनाएं रखता है। उसका चित्त पहले जैसा बना रहता है। अपने परिवारीजनों एवं मित्रों के प्रति उसका प्रेम, उसकी स्मरण शक्ति यथावत् बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे सारे अंग–प्रत्यंग बदल दिये जाएँ, चाहे पूरा खून बदल दिया जाए, फिर भी कुछ ऐसा अवश्य होता है जो व्यक्ति को अपनी मूल स्थिति से अलग नहीं होने देता है, उसे अपने पूर्व संस्कारों से युक्त बने रहने को बाध्य करता है और निश्चित तौर पर यह चैतन्य युक्त आत्मा ही है।"

डॉ. जैन के उक्त तीनों ही तर्क बड़े ठोस हैं और गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने योग्य हैं।

इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत दो प्रकार के पदार्थों का निम्नलिखित वर्गीकरण भी जीव या आत्मा के अस्तित्व को अनिवार्यतः सिद्ध करता है—

1. सजीव पदार्थ (Living thing)
2. निर्जीव पदार्थ (Non-living thing)

इनके सम्बन्ध में भी डॉ. अनिल कुमार जैन ने ठीक ही लिखा है—

"अधिकतर लोगों को सजीव और निर्जीव की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर वे आसानी से यह बता सकते हैं कि मक्खी, घोड़ा और पेड़ सजीव हैं जो वृद्धि और प्रजनन जैसी कुछ क्रियाओं को करते हैं। इस प्रकार जीव (सजीव) और निर्जीव (अजीव) की पहचान तो की जा सकती है लेकिन जीवन (life) क्या है ? इसका सीधा उत्तर दे पाना कठिन है। जैव वैज्ञानिकों के पास जीव से सम्बन्धित विशद ज्ञान है, फिर भी वे जीवन को परिभाषित करने में कठिनाई महसूस करते हैं।"

वैज्ञानिक दृष्टि से जीव के लक्षणों का निरूपण करते हुए वे आगे और भी लिखते हैं—

"पृथ्वी पर अनेकों प्रकार के जीव पाये जाते हैं। अब तक बीस लाख से अधिक प्रजातियों को खोजा जा चुका है। वे सूक्ष्म बैक्टीरिया से लेकर विशालकाय व्हेल मछली तक के अनेक प्रकार में पायी जाती हैं। ये जीव विभिन्न प्रकार के वातावरण में पाये जा सकते हैं। इनमें से कुछ गर्मी से तपते रेगिस्तानों में भी मिल सकते हैं तथा कुछ अन्य बर्फीले ध्रुवों पर भी। जीवों के खान–पान तथा रहन–सहन में भी विविधता पायी जाती है। इसके बावजूद भी सभी जीवों में कुछ समानताएँ होती हैं तथा वे ही जीव के लक्षण भी निर्धारित करती हैं। प्रत्येक जीव में एक प्रकार का रसायन पाया जाता है जो कि एक ही प्रकार की रासायनिक क्रिया भी करता है। ये रसायन एक यूनिट (unit) में व्यवस्थित तरीके से रहते हैं जिसे कोशिका कहते हैं।

सभी जीवों में जो समान लक्षण पाये जाते हैं वे हैं—

(1) प्रजनन (reproduction), (2) वृद्धि (growth), (3) चयापचय (metabolism), (4) हलन-चलन (movement), (5) संवेदन (responsiveness), (6) अनुकूलन (adaptation)। लेकिन कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनमें ये सब पूर्णतः नहीं पाये जाते जबकि कुछ निर्जीवों में भी इनमें से कुछ गुण देखने को मिल जाते हैं। फिर भी ये गुण/लक्षण जीव की मूल प्रकृति को रेखांकित अवश्य करते हैं।"

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की प्रायः सभी खोजें कहीं न कहीं आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करती हैं तथा न केवल अस्तित्व को ही सिद्ध करती हैं, उसके स्वरूप को भी कुछ न कुछ स्पष्ट करती हैं। मनोविज्ञान ने क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, प्रार्थना, याचना आदि मनोभावों का जो सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है, उससे भी आत्मा का ही स्वरूप स्पष्ट होता है।

जीवविज्ञान (biology) और मनोविज्ञान (psychology) की भाँति वनस्पति विज्ञान (botony) की खोजें भी जीव या आत्मा के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालती हैं। महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु (1858–1937) ने जो स्पष्ट तौर पर अनेकानेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधों में जीव होता है क्योंकि उनमें चेतना पाई जाती है, वे जन्मते-मरते हैं, उनमें सुख-दुःख होता है, वे हँसते-रोते हैं, उन्हें भी शत्रु-मित्र की पहचान होती है आदि। इस सम्बन्ध में विश्वविख्यात लेखक सर एल्डुअस हक्सले के विचार ज्ञातव्य हैं जो कि उन्होंने स्वयं सर जगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला की परखनलियों में देखकर प्रकट किये थे—

"वह (वनस्पति) हमारे समान ही सुखी-दुःखी, क्रोधी, मिलन-बिछोह पर हँसने-रोने वाली, गाने वाली तथा स्वस्थ अथवा रोगी होती है। उस पर क्लोरोफॉर्म का प्रभाव, उसके हृदय की धड़कन, उस पर ऑक्सीजन का प्रभाव, विषैली औषधि के छिड़के जाने का दुष्प्रभाव, बिछोह की असह्य यन्त्रणा आदि सभी दशाओं को साक्षात् देखकर हक्सले ने पुनः कहा—'किसी पशु-पक्षी की मृत्यु का दृश्य देखकर हम लोग मर्माहत हो जाते हैं क्योंकि उसकी यन्त्रणा को अपनी आँखों से स्वयं देखते हैं किन्तु वनस्पतियों के जीवन-मरण को देखने के लिए तो हमारी दृष्टि लाखों गुनी तेज होनी चाहिए।'

उन्होंने आगे और कहा—'बसु महोदय की प्रयोगशाला में रखे गये यन्त्र हम लोगों को सूक्ष्मतम खूबियों के साथ वे सारी चीजें दिखा देते हैं, जो शक्तिशाली से शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी नहीं दिखा सकते। एक फूल जब जहर खाकर छटपटा-छटपटाकर हमारे सामने ही मरा तब हम लोग उसी तरह करुणा से भर उठे, जैसे हम किसी अपने ही प्रियजन की मृत्यु को देखकर बेहाल हो जाते हैं। सचमुच ही यह एक अपूर्व अनुभूति थी, जिससे हम लोग आज तक अपरिचित थे।'..... उन्होंने पुनः कहा कि 'बहुत से प्रबुद्ध व्यक्तियों को मैंने कसाईखाने में वध किये जाते हुए पशु की यन्त्रणा और तड़पना देखकर उससे द्रवित होते और उन्हें मांसभोजी से पूर्ण निरामिषभोजी बनते देखा है। यदि वे अपने आहार में और भी कमी करना चाहते हों तो उन्हें 'बसु विज्ञान मन्दिर (कलकत्ता)' में जाकर देखना चाहिए। तब वे कदाचित् शाकाहार भी छोड़ने पर मजबूर हो जावें और सिर्फ धातुओं पर ही निर्भर रहने लगें।"

सर जगदीशचन्द्र बसु के बाद तो आधुनिक विज्ञान में पेड़-पौधों पर और भी अधिक खोजें हो चुकी हैं और वैज्ञानिक मान गये हैं कि पेड़-पौधों में भी स्पष्ट रूप से जैविक क्रियाएँ और जैविक भावनाएँ अनुभव की जा सकती हैं। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो मनुष्य के छूने से मुरझा जाते हैं अथवा खिल जाते हैं, यह उनकी जैविक भावना ही प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक पौधे ऐसे होते हैं जो दूसरे (आगन्तुक) जीवों को खा जाते हैं। जैसे—ड्योसेरा (Sundew), पिचर (Pitcher), वीनस (Venus) आदि पौधे अपने पास आने वाले तितली आदि कीट-पतंगों को फिर जाने नहीं देते, उन्हें खा जाते हैं। यथा—

यह पिचर (Pitcher) का पौधा है। इसकी पत्तियाँ जग (jug) जैसी लगती हैं, जिनके ऊपर ढक्कन सा भी होता है। जब कोई मक्खी इस पर आकर बैठती है तो यह उसे अन्दर बन्द करके खा जाता है।

वीनस (Venus) की पत्तियाँ गदा जैसी होती हैं, और उस पर लम्बे–लम्बे काँटे–जैसे बाल भी होते हैं। जब भी कोई कीट–पतंगा इस पर आकर बैठता है तो यह अपने उन बालों को और फैलाकर उसे जकड़ लेता है और उसका सारा रस सोखकर फेंक देता है।

पेड़–पौधों में भी जैविक भावनाएँ बहुत गहरी होती हैं।

डॉ. अशोक जैन ने तो पेड़–पौधों में क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों और आहार, भय, मैथुन, परिग्रह—इन चार संज्ञाओं को भी बड़ी ही स्पष्टता से सिद्ध कर दिखाया है, जिनका सारांश इस प्रकार है—

चार कषाएँ-

1. क्रोध—क्वींस और न्यू साउथ वेल्स के जंगलों में डंक मारने वाले वृक्ष होते हैं। इन वृक्षों पर नुकीले काँटे होते हैं और इनकी पत्तियाँ घने बालों से युक्त होती हैं। समीप जाने पर इनकी पत्तियाँ शरीर से चिपक जाती हैं और अपने रोएँ छोड़ देती हैं। यह क्रोध है।

2. मान—बरगद का वृक्ष अपनी डालियों से शाखाएँ निकालता है जो भूमि पर आकर तने और जड़ का रूप ले लेती हैं। उसका जरा सा बीज इतना फैलाकर अपने अहं को पुष्ट करता मालूम होता है। यूकेलिप्टस वृक्ष की जड़ें इतना ज्यादा पानी अवशोषित करती हैं कि आसपास की वनस्पति का बढ़ना मुश्किल हो जाता है। यह वृक्ष बहुत तेजी से बढ़कर 200–300 फुट ऊँचाई तक तनकर सीधा खड़ा रहता है। यह मान है।

3. माया—कीटभक्षी पौधे अपने रूप, रस, गन्ध से कीट–पतंगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और समीप आने पर उन्हें पकड़कर नष्ट कर देते हैं। यह माया है।

4. लोभ—वनस्पतियाँ अपना भोजन जमीन के भीतर अपनी जड़ों और तनों में संचित कर लेती हैं। यह लोभ है।

चार संज्ञाएँ-

1. आहार—आहार संज्ञा वनस्पति में कई प्रकार की होती हैं। कुछ पौधे स्वयंपोषी होते हैं जो अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। कुछ पौधे परजीवी होते हैं जो कि आंशिक रूप से या पूरी तरह से दूसरे पौधों पर निर्भर रहते हैं। अमरबेल एक ऐसी बेल है जो अपनी जड़ें दूसरे पौधे के तने में घुसाकर वहाँ से भोज्य सामग्री चूसती रहती है।

2. भय—जिस प्रकार विपत्ति आने पर जीव भयभीत होते हैं उसी प्रकार वनस्पति भी विपत्ति की आशंका से भयभीत होकर काँपने लगती है। उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं। छुईमुई के पौधे को छूने मात्र से उसकी पत्तियाँ भय से सिमट जाती हैं। 'जवागल' वनस्पति हथेली पर रखते ही काँपने लगती है। जिस प्रकार सभी जीव अपने जीवन की रक्षा के उपाय करते हैं उसी प्रकार वनस्पति भी अपनी रक्षा के लिए उपाय करती है। काकतुरई अपनी दुर्गन्ध फेंककर रक्षा करती है। नागफनी अपने काँटों के माध्यम से अपनी रक्षा करती है।

3. मैथुन—निम्नवर्गीय एककोशीय पौधों से लेकर विशालकाय वृक्षों तक में मैथुन अर्थात् काम–वासना की इच्छा देखने में आती है। मनुष्यों एवं अन्य जन्तुओं में मुख्यतया लैंगिक जनन ही होता है परन्तु पौधों में वर्धी, अलैंगिक एवं लैंगिक तीन प्रकार से जनन माना गया है। वनस्पति में एक ही पौधे के अन्तर्गत नर व मादा का होना नपुंसक होने की सूचना है, जिसमें कामवासना स्त्री–पुरुष से भी ज्यादा होती है।

4. परिग्रह—भोजन संचित करने की प्रवृत्ति मूली, गाजर, आलू, अदरक आदि पौधों में दृष्टिगोचर होती है जो अपनी जड़ों व तने में खाद्य सामग्री एकत्रित कर लेते हैं। बंदगोभी, प्याज आदि अपनी पत्तियों में भोजन संगृहीत करते हैं। नागफनी आदि अपने तने में भोजन इकट्ठा किए रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने पेड़-पौधों में जीवत्व की सम्भावना ही व्यक्त नहीं की है, स्वीकृति भी स्पष्टतया कर ली है।

पेड़-पौधों की भाँति कुछ वर्ष पूर्व अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अग्नि में जीवत्व की सिद्धि 'अग्नि और जीवत्वशक्ति' कृति में देखा जा सकता है। **अग्नि में भी जीव है क्योंकि उसमें निम्न प्रकार के चेतन भाव पाये जाते हैं—**

1. वह दूसरों को जलाती है—यह क्रोध है।
2. सदा ऊपर लौ रखती है—यह मान है।
3. राख के नीचे भी जलती रहती है—यह माया है।
4. कितना भी ईंधन मिले तृप्त नहीं होती—यह लोभ है।
5. ऑक्सीजन मिलने पर ही रहती है—यह श्वासोच्छ्वास है।
6. तेल या ईंधन चाहिए—यह आहार है।
7. धुआँ आदि छोड़ती है—यह नीहार है।

इसी प्रकार अन्य चयापचय (metabolism), वृद्धि-हानि, जीवन-मरण की क्रियाएँ अग्नि में भी स्पष्टतया अनुभव में आती हैं अतः वह सजीव है।

ज्ञातव्य है कि भारतीय दर्शनों में विशेषतया जैन दर्शन में अग्नि को भी गाय-भैंस-मनुष्यादि की भाँति सजीव (living thing) माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान भी किसी न किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और न केवल अस्तित्व को ही स्वीकार करता है, उसके स्वरूप को भी बहुत स्पष्ट करता है जो बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि भारतीय दर्शन ग्रंथों में बताया गया है। हाँ, इतना स्पष्ट भी नहीं कर पा रहा है कि भारतीय दर्शनों का एतद्विषयक विवाद भी शान्त हो सके किन्तु ऐसा शायद सम्भव ही नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के समर्थकों ने आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध करने के लिए इसी प्रकार के और भी अनेकानेक प्रयोग और प्रयत्न पहले भी किये थे। जैसे—

1. समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाली पुनर्जन्म की घटनाओं को सूचीबद्ध करके उनकी सत्यता का अनुसन्धान करना।

2. मृत्यु से पूर्व ही गहन निरीक्षण प्रारम्भ कर देना कि मरते समय शरीर में से कौन बाहर निकलता है, कैसे निकलता है, कहाँ से निकलता है आदि। अनेक बार मरने वाले प्राणी को वायुरोधक (Air-tight) पेटी में भी बन्द किया गया, ताकि देखा जा सके कि जीव कैसे बाहर निकलता है, पेटी टूटती है या नहीं। अनेक बार मरने से पहले और बाद में वजन तोला गया और यह भी कहा गया कि इस प्रकार आत्मा का वजन 21 ग्राम सिद्ध होता है।

परन्तु ये सब प्रारम्भिक प्रयास हैं और नितान्त असफल सिद्ध हुए हैं। आज हमारा विज्ञान तब से बहुत आगे बढ़ गया है और आशा है कि आगे भी उन्नति करेगा। आशा है कि तब हमें आत्मा के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक ज्ञानाधार भी प्राप्त हो सकेगा।

3.3 परमात्मा का स्वरूप—

'परमात्मा' शब्द से यहाँ हमारा अभिप्राय उस भगवान, ईश्व, गॉड (GOD) या खुदा नामक उस परम तत्त्व से है जिसे विभिन्न हजारों नामों से प्रायः सभी धर्म दर्शनों में पूज्य, आराध्य या उपास्य स्वीकार किया गया है।

आधुनिक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को स्पष्ट करने वाले कुछ तथ्य तो फिर भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा या भगवान् के विषय में तो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से कुछ भी कहना सचमुच ही बहुत कठिन है क्योंकि आधुनिक विज्ञान को अभी तक ऐसे 'परमात्मा' के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कोई सामग्री, प्रमाणादि उपलब्ध नहीं हुए हैं।

तथापि इस सम्बन्ध में भी कुछ एक–दो बातें इस प्रकार स्पष्टतया समझी जा सकती हैं—

परमात्मा, ईश्वर या भगवान के सम्बन्ध में आज बहुसंख्यक लोगों की मान्यता है कि वह इस जगत् का कर्ता–धर्ता–हर्ता है और कुछ लोगों के अनुसार उसे इसी अर्थ में `GOD' (G = generator, O = operator, D = Destroyer कहा जाता है। ऐसे लोगों के अनुसार वह सर्वशक्तिमान है, कुछ भी कर सकता है, पल भर में राजा को रंक और रंक को राजा भी बना देता है, मूर्ख को विद्वान् और विद्वान् को मूर्ख भी बना सकता है। सम्पूर्ण जगत् का कण–कण उसी की इच्छानुसार परिणमन करता है। वही एक सबका भला–बुरा करने वाला है, सबको सुख–दुःख की सामग्री देने वाला है अथवा जैसा चाहे वैसा करने वाला है, इत्यादि।

किन्तु आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ऐसा कोई भी ईश्वर या भगवान सम्भव नहीं है क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत एक निश्चित कारण–कार्य व्यवस्था के अनुसार संचालित है, उसमें किसी अन्य की कोई आवश्यकता नहीं है तथा उस कारण–कार्य व्यवस्था के विरुद्ध कुछ भी उल्टा–सीधा कार्य कभी भी कोई नहीं कर सकता है। कभी–कभी हमें अपनी अल्पज्ञता से ऐसा प्रतीत अवश्य हो सकता है परन्तु वास्तव में उल्टा–सीधा यहाँ न कुछ होता है और न ही कथमपि हो सकता है। उदाहरणार्थ—अग्नि के ऊपर बर्तन में पानी रखा जाएगा तो वह स्वयमेव गर्म होगा, उसे कोई अन्य ईश्वरादि गर्म नहीं करेगा तथा जैसे खेत में यदि गेहूँ बोया जाएगा तो गेहूँ ही उगेगा, चना नहीं और यदि चना बोया जाएगा तो चना ही उगेगा, गेहूँ नहीं; उसी प्रकार सृष्टि के समस्त कार्य अपनी–अपनी सुनिश्चित कारण–कार्य व्यवस्था के अनुसार स्वयमेव संचालित हो रहे हैं, उन्हें कोई ईश्वर या परमात्मा संचालित करने वाला नहीं है तथा उन कार्यों को कभी कोई ईश्वर उल्टा–सीधा भी परिणमन नहीं कर सकता है क्योंकि यदि ऐसा हो तो अग्नि पर रखा दूध बर्फ बन जाएगा और फ्रिज (fridge) में रखा दूध उबल जाएगा अथवा गेहूँ बोने पर चना उग जाएगा और चना बोने पर गेहूँ उग जाएगा; जैसा कि कभी नहीं होता, कभी नहीं हो सकता।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में वस्तुतः जितने पदार्थ प्रारम्भ से थे, उतने ही आज हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक उतने ही रहेंगे; उनमें से कभी भी किसी भी पदार्थ को मूलतः न तो पैदा किया जा सकता है और न ही सर्वथा नष्ट किया जा सकता है मात्र पदार्थों का अवस्था परिवर्तन होता है (Nothing can be produced or destroyed, It's form only changes), अतः इस वैज्ञानिक दृष्टि से भी जगत् का कर्ता–धर्ता–हर्ता कोई ईश्वर आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार जब जीवों का सुखी–दुःखी होना भी अपने–अपने कर्मों और भावों पर निर्भर करता है। उसमें भी किसी ईश्वर जैसे अन्य तत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं है। स्तुति से प्रसन्न होकर भला करने वाला और निन्दा से नाराज होकर बुरा करने वाला ईश्वर वैज्ञानिक दृष्टि से भी न्यायसम्पन्न परम पूज्य सिद्ध नहीं होता है।

ज्ञातव्य है कि सांख्य, मीमांसा आदि अनेक प्राचीन दर्शनों में भी ईश्वर या परमात्मा को आरम्भतः जगत का कर्ता–धर्ता–हर्ता नहीं माना गया है और इस प्रकार की धारणा बहुत परवर्ती है और किसी प्रकार के ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं है। इस तथ्य को अनेक विद्वानों ने सिद्ध भी किया है जिनमें डॉ. याकूब मसीह की पुस्तक 'निरीश्वरवादः भारतीय एवं पाश्चात्य' विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भले ही हमें यह नहीं बता पा रहा है कि ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है आदि; किन्तु इतना अवश्य सिद्ध कर रहा है कि वह रागी–द्वेषी और जगत् का कर्ता–धर्ता–हर्ता नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि इस प्रकार की मिथ्या धारणा से मुक्ति दिलाकर भी आधुनिक विज्ञान ने हम पर बड़ा उपकार किया है।

3.4 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जिसे आधुनिक युग में विज्ञान कहते हैं, उसे प्राचीन युग में क्या कहा जाता है ?

(क) शास्त्र ☐
(ख) प्रकृति ☐
(ग) दर्शन ☐

प्रश्न 2-दर्शन किसको ठोस आधार देने का काम करता है ?

(क) धर्म को ☐
(ख) प्राणी को ☐
(ग) किसी को नहीं ☐

प्रश्न 3-जगत में पदार्थ कितने प्रकार के हैं ?

(क) 5 ☐
(ख) 3 ☐
(ग) 2 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप क्या है ? संक्षेप में बताइए ?

प्रश्न 2-आत्मा शरीर से भिन्न एक अलग स्वतंत्र तत्त्व है, इसे किन तीन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा सिद्ध किया गया है?

प्रश्न 3-सभी जीवों में कौन-कौन से समान लक्षण पाये जाते हैं ?

प्रश्न 4-पेड़-पौधों में भी जैविक भावनाएँ बहुत गहरी होती हैं, इसे 4 कषायों और चार संज्ञाओं द्वारा किस प्रकार सिद्ध किया है, किन्हीं 3 को बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-परमात्मा का स्वरूप क्या है ? विस्तृत वर्णन कीजिए ?

इकाई–2 प्रमाण-नय मीमांसा

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—

(1) प्रमाण का लक्षण एवं परोक्ष प्रमाण के भेद : विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में

(2) प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन

(3) नय व्यवस्था

(4) नयों का समन्वयवादी दृष्टिकोण

पाठ-1–प्रमाण का लक्षण एवं परोक्ष प्रमाण के भेद : विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में

1.1 प्रमाण—

1.1.1 प्रमाण का सामान्य लक्षण—जिसके द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय, विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण से केवल यथार्थ ज्ञान होता है। वस्तु का संशय, विपर्यय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है। यह प्रमाण का व्युत्पत्तिलभ्य सामान्य अर्थ है। इसी व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर सभी भारतीय दार्शनिकों ने प्रमा के करण अर्थात् साधकतम कारण को प्रमाण कहा है। प्रमाण शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु के करण में ल्युट् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है अतएव प्रमा का करण अर्थात् साधन प्रमाण कहलाता है। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना प्रमा है अथवा यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। करण का अर्थ है साधकतम। जो जिस कार्य का साधकतम अर्थात् अतिशयेन साधक या प्रकृष्ट उपकारक या कारण हो वह उस कार्य का कारण होता है। एक कार्य की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सभी करण नहीं कहलाते। फल की सिद्धि में जिसका व्यापार अत्यन्त रूप से साधक, प्रकृष्ट उपकारक होता है, वह करण कहलाता है। कलम से लिखने में हाथ और कलम दोनों चलते हैं किन्तु करण कलम ही होगा क्योंकि लिखने का निकटतम सम्बन्ध कमल से है, हाथ से उसके बाद इसलिए हाथ साधक और कलम साधकतम है।

1.1.2 प्रमा की करणता—प्रमाण के इस सामान्य लक्षण में किसी को भी विवाद नहीं है। विवाद है तो केवल प्रमा के करण के विषय में। बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यता को प्रमा का करण मानते हैं। नैयायिक–वैशेषिक इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान को करण मानते हैं। सांख्य इन्द्रिय वृत्ति को करण के स्थान में रखते हैं। प्रभाकर ज्ञाता के व्यापार को करण मानता है तो मीमांसक इन्द्रिय को। ऐसी स्थिति में जैन केवल ज्ञान को ही प्रमा का करण मानते हैं।

जैनदर्शन की मान्यता है कि जानना या प्रमारूप क्रिया चेतन है और चेतन क्रिया में साधकतम कारण कोई अचेतन नहीं हो सकता अतः अव्यवहित रूप से प्रमा का जनक ज्ञान ही करण हो सकता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमा के तीन करण माने गये हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान, किन्तु इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय और सन्निकर्ष स्वयं अचेतन तथा अज्ञान रूप हैं अतः वे अज्ञान की निवृत्तिरूप प्रमा के करण कैसे हो सकते हैं ? अज्ञान–निवृत्ति का विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है। जैसे कि अन्धकार की निवृत्ति में अन्धकार का विरोधी प्रकाश ही मुख्य करण होता है। प्रमिति या प्रमा अज्ञान–निवृत्ति रूप होती है अतः इस अज्ञान–निवृत्ति में अज्ञान के विरोधी ज्ञान को ही करण मानना उचित है।

1.1.3 जैनदर्शन सम्मत प्रमाण लक्षण—प्रमाण के लक्षण क्षेत्र में प्रमाण लक्षण की अनेक धाराएँ बहीं, तब जैन दार्शनिकों को भी प्रमाण की स्वमन्तव्यपोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पड़ी। सर्वप्रथम आचार्य श्री समन्तभद्र ने 'स्व' और 'पर' को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने भी स्वामी श्री

समन्तभद्र के इस प्रमाण लक्षण में 'बाधविवर्जित' पद जोड़कर स्वपरावभासक अबाधित ज्ञान को प्रमाण माना है।

आचार्य श्री समन्तभद्र और आचार्य श्री सिद्धसेन के उत्तरवर्ती श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी 'जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमिति मात्र है, वह प्रमाण है।' इस प्रकार प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए स्वपरावभासक ज्ञान को ही प्रमाण कहा है और इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा मात्र ज्ञान को प्रमिति का करण (प्रमाण) मानने में दोष प्रदर्शित किये हैं।

इसके बाद जैन न्याय के प्रतिष्ठापक तार्किक विद्वान् श्री अकलंकदेव ने प्रमाण लक्षण में व्यवसायात्मक पद जोड़कर अपने और अर्थ को ग्रहण करने वाले व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान को प्रमाण कहा है। उन्होंने ही पुनः अनधिगतार्थग्राही अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण बतलाया है।

आचार्य श्री अकलंकदेव के उत्तरवर्ती आचार्य श्री माणिक्यनन्दी ने 'स्व और अपूर्व अर्थ अर्थात् जो किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है।' आचार्य श्री माणिक्यनन्दी के प्रमाण लक्षण पर आचार्य श्री समन्तभद्र, श्री सिद्धसेन तथा श्री अकलंकदेव का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है क्योंकि इन्होंने अपने प्रमाण लक्षण द्वारा आचार्य श्री समन्तभद्र और श्री सिद्धसेन द्वारा स्थापित तथा श्री अकलंकदेव द्वारा विकसित प्रमाण लक्षण का समर्थन किया है। इन्होंने अपने सूत्र ग्रंथ 'परीक्षामुख' की रचना इन तीनों आचार्यों के दार्शनिक प्रकरणों का मन्थन करके ही की है। उत्तरकालीन आचार्यों ने भी प्रायः प्रमाण के इन्हीं लक्षणों को अपनाया है।

यही स्थिति श्वेताम्बर आचार्य वादिदेव सूरि की है। इन्होंने भी अपने सूत्र ग्रंथ 'प्रमाण–नय तत्त्वालोक' की रचना आचार्य श्री माणिक्यनन्दी के सूत्र ग्रंथ 'परीक्षामुख' को सामने रखकर की है। आचार्य वादिदेव सूरि ने स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस लक्षण में 'स्व' का अर्थ है ज्ञान और 'पर' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। तात्पर्य यह है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने आपको और अपने से भिन्न दूसरे पदार्थों को भी यथार्थ तथा निश्चित रूप से जाने।

आचार्य श्री विद्यानन्दि ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाकर बाद में स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। इन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है क्योंकि इनके अनुसार ज्ञान चाहे अपूर्व (अगृहीत) अर्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह 'स्व' और 'पर' का निश्चय करने वाला होने से ही प्रमाण माना जाता है।

सन्मति टीकाकार श्री अभयदेव सूरि आचार्य श्री विद्यानन्दि की तरह स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं। पर व्यवसायात्मक के स्थान पर 'निर्णीत' पद का प्रयोग करते हैं।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने अर्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण कहा है।

आचार्य श्री धर्मभूषण ने अपने 'न्यायदीपिका' ग्रंथ में आचार्य श्री विद्यानन्दि के द्वारा स्वीकृत सम्यग्ज्ञानत्व रूप प्रमाण के सामान्य लक्षण को ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परानुसार सविकल्पक, अगृहीत–ग्राही एवं स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति, प्रभाकर भट्ट और नैयायिकों के प्रमाण लक्षणों की आलोचना की है।

इस प्रकार आचार्य श्री समन्तभद्र, श्री सिद्धसेन दिवाकर और श्री अकलंक देव का प्रमाण सामान्य लक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए आधार हुआ है। प्रायः उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने इसी आचार्यत्रयी की प्रमाण लक्षण सम्बन्धी विचारधारा को अपनाकर अपने–अपने प्रमाण लक्षणों का परिष्कार किया है।

1.1.4 प्रमाण की प्रमाणता—जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में जानना ज्ञान की प्रमाणता है और अन्य रूप में जानना अप्रमाणता है। प्रमाणता और अप्रमाणता का यह भेद बाह्य पदार्थों की अपेक्षा समझना चाहिए। प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है। अतः स्व–रूप की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं। बाह्य पदार्थों की अपेक्षा

कोई ज्ञान प्रमाण होता है और कोई अप्रमाण। प्रमाणता की उत्पत्ति उन्हीं कारणों से होती है जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है। अप्रमाणता भी इसी तरह अप्रमाण के कारणों से ही पैदा होती है।

प्रमाण की इस प्रमाणता और अप्रमाणता के विषय में प्राय: सभी दार्शनिकों में मतभेद पाया जाता है।

मीमांसक कुमारिल भट्ट ज्ञान की प्रमाणता को स्वत: और अप्रमाणता को परत: मानते हैं। इस प्रकार वे स्वत: प्रामाण्यवादी हैं। उनका कहना है—'प्रमाण की अर्थ को जानने रूप शक्ति को अथवा अर्थ को जानने रूप क्रिया को प्रामाण्य कहते हैं।' यह प्रामाण्य ज्ञान, ज्ञान मात्र को उत्पन्न करने वाली सामग्री से ही उत्पन्न होता है। उसके लिए उस सामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी का नाम स्वत: प्रामाण्य है अर्थात् जहाँ ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य दोनों का ग्रहण एक ही सामग्री से हो जाता है, उसे स्वत: प्रामाण्य कहा जाता है अथवा अर्थ को ज्यों का त्यों जान लेने की शक्ति का नाम प्रामाण्य है। यह शक्ति पदार्थों में स्वत: ही प्रकट होती है। वह उत्पादक कारणों के अधीन नहीं है। तात्पर्य यह है कि सब प्रमाणों का प्रामाण्य स्वत: ही होता है क्योंकि जो शक्ति स्वयं अविद्यमान है उसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके विपरीत ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री अलग–अलग होने पर परत: प्रामाण्य होता है।

मीमांसक मत में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक एक ही सामग्री 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' है। उनका अभिप्राय यह है कि 'अयं घट:' इस ज्ञान से घट में एक 'ज्ञातता' नामक धर्म उत्पन्न हुआ है इसलिए यह 'अयं घट:' इस ज्ञान से जन्य है अर्थात् उसका कारण ज्ञान है। इस 'ज्ञातता' धर्म की प्रतीति' ज्ञातो मया घट:' इस ज्ञान में होती है। यह 'ज्ञातता' धर्म अपने कारण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है इसलिए 'ज्ञातता' धर्म अपने कारण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है इसलिए 'ज्ञातता' की 'अन्यथानुपपत्ति से प्रसूता अर्थापत्ति' ही इस ज्ञातता धर्म की ग्राहिका है और जब ज्ञाततान्यथानुपपत्ति प्रसूता अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है तब उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का ग्रहण भी उसी अर्थापत्ति से हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री समान होने से स्वत: प्रामाण्य है।

1.1.5 न्याय वैशेषिक दर्शन का मत—

न्याय–वैशेषिक दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परत: मानते हैं अत: ये परत: प्रामाण्यवादी हैं। न्याय के परत: प्रामाण्यवाद में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री अलग–अलग है। ज्ञानग्राहक सामग्री तो अनुव्यवसाय है और प्रामाण्य या अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री प्रवृत्ति का साफल्य या वैफल्यमूलक अनुमान है।

1.1.6 सांख्य और योग प्रामाण्य व अप्रामाण्य दोनों को स्वत: मानते हैं।

1.1.7 बौद्धदर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतो ग्राह्यत्व और परतो ग्राह्यत्व के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। अनेक बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वत: और प्रामाण्य को परत: मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी ज्ञान तब तक अप्रमाण ही समझा जाता है जब तक उससे प्रेरित मनुष्य ज्ञात अर्थ को प्राप्त नहीं कर लेता। ज्ञान प्रमाण तभी समझा जाता है जब वह अर्थ का प्रापक हो जाता है। इस मत का संकेत माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' में किया गया है।

परन्तु आचार्य शान्तरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों की मान्यता इससे विपरीत है। वे अभ्यास–दशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वत: और अनभ्यास–दशापन्न ज्ञान में दोनों को परत: मानते हैं। 'तत्त्व संग्रह' में इस मत का अनियम पक्ष के रूप में वर्णन किया गया है।

1.1.8 जैनदर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति तो परत: तथा ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में परत: मानी गयी है।

जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन कारणों के अतिरिक्त दूसरे कारणों से प्रमाणता का उत्पन्न होना परत:

उत्पत्ति कहलाती है। जिन कारणों से ज्ञान का निश्चय होता है, उन्हीं कारणों से प्रमाणता का निश्चय होना 'स्वतः ज्ञप्ति' कहलाती है और दूसरे कारणों से निश्चय होना 'परतः ज्ञप्ति' कहलाती है।

परिचित अवस्था को अभ्यास दशा और अपरिचित अवस्था को अनभ्यास दशा कहते हैं। हम अपने गाँव के जलाशय, नदी, बावड़ी आदि से परिचित हैं। अतः उनकी ओर जाने पर जो जलज्ञान उत्पन्न होता है उसकी प्रमाणता तो स्वतः ही होती है; किन्तु अन्य अपरिचित ग्रामादिक में जाने पर 'यहाँ जल होना चाहिए' इस प्रकार जो जलज्ञान होगा, वह शीतल वायु के स्पर्श से, कमलों की सुगन्धि से या पानी भरकर आती हुई पनिहारिनों के देखने आदि परनिमित्तों से ही होगा अतः उस जलज्ञान की प्रमाणता अनभ्यास दशा में परतः मानी जाएगी।

तात्पर्य यह है कि विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सच्चाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भली–भाँति परिचित है। वह मित्र गृह को देखते ही निःसन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। 'यह मेरे मित्र का घर है' ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सच्चाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता।

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से जब उसकी सच्चाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुँच जाता है, फिर भी उसे यह सन्देह हो सकता है कि वह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का ? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सच्चाई मालूम हो जाती है। यहाँ ज्ञान की सच्चाई का पता दूसरे की सहायता से लगा इसलिए यह परतः प्रामाण्य है।

1.2 विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य प्रमाणभेद—

एक प्रमाणवादी चार्वाक सम्प्रदाय केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है इसीलिए वह परलोक आदि का निषेध करता है।

द्विप्रमाणवादी बौद्ध तथा वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं।

त्रिप्रमाणवादी सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा आगम (शब्द)–इन तीन प्रमाणों को मानते हैं।

चतुःप्रमाणवादी नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान–इन चार प्रमाणों को मानते हैं।

पंच प्रमाणवादी प्रभाकर–मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति–इन पाँच प्रमाणों को मानते हैं।

षट् प्रमाणवादी कुमारिल भट्ट–मीमांसक तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को मानते हैं।

अष्ट प्रमाणवादी पौराणिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव और ऐतिह्य–इन आठ प्रमाणों को मानता है।

1.2.1 जैनदर्शनसम्मत प्रमाणभेद—

जैनदर्शन में आचार्य श्री उमास्वामी जी ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाते हुए प्रमाण के दो भेद किये हैं—1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष। जैनदर्शन का यह प्रमाण भेद उनकी अपनी विशेष सूझ है। प्रमाण के इन प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों में ही उपरिनिर्दिष्ट अन्य दर्शनों द्वारा मान्य विभिन्न प्रमाण भेदों का अन्तर्भाव बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किये जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए जितने अपना स्वरूप स्वतन्त्र रूप से असंकीर्ण रख सकें। महान् दार्शनिक आचार्य श्री समन्तभद्र ने सम्यग्ज्ञान रूप प्रमाण के अन्य प्रकार से भी दो भेद किये हैं—1. अक्रमभावि, 2. क्रमभावि। केवलज्ञान या आप्त ज्ञान अक्रमभावी है और शेष मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार क्रम भावि हैं। आप्त ज्ञान अक्रमभावि है और हम छद्मस्थों का प्रमाण ज्ञान क्रमभावी है।

1.2.2 विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य प्रत्यक्ष–परोक्ष लक्षण—जैनेतर दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण अनेक प्रकार से किया है। न्याय वैशेषिक दर्शन इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहता है। सांख्य दर्शन भी श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को अथवा घट, पट आदि पदार्थों में चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न बुद्धि के व्यापार को प्रत्यक्ष मानता है।

मीमांसा दर्शन इन्द्रियों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष मानता है।

बौद्ध दर्शन ने नाम, जाति आदि कल्पना से रहित निर्विकल्पक तथा भ्रान्तिरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। प्रायः सभी बौद्ध दार्शनिक विद्वानों ने निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।

1.2.3 न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान–न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद किए गये हैं—एक सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक। जिसमें वस्तु के स्वरूप की प्रतीति के साथ उसके नाम, जाति आदि का भी भान होता है उसको सविकल्पक कहते हैं। जैसे घट, पट आदि की प्रतीति के साथ उनके नाम, जाति आदि का भी भान (ज्ञान) होता है। साधारणतः व्यवहार में आने वाले सभी ज्ञान सविकल्पक के उदाहरण हैं परन्तु जहाँ केवल वस्तु का स्वरूप प्रतीत होता है उसके नाम, जाति आदि की प्रतीति नहीं होती है अर्थात् जिसमें विशेष्य–विशेषण भाव आदि की प्रतीति न हो, मात्र सामान्यावलोकन हो उसको निर्विकल्पक कहते हैं। इसी को 'आलोचन मात्र' भी कहा गया है।

ज्ञान की उत्पत्ति प्रक्रिया में सर्वप्रथम इस प्रकार का वस्तुमात्रावगाहि ज्ञान उत्पन्न होता है, इसको बौद्ध और जैनदर्शन दोनों ने स्वीकार किया है। जैनदर्शन, जो निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष नहीं मानता है वह भी इस प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व तो स्वीकार करता है इसको 'दर्शन' नाम से व्यवहृत करता है और इस 'दर्शन' को परोक्ष भी मानता है क्योंकि उसने परोक्ष 'मतिज्ञान' को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

जैनदर्शन में आत्मा के चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम विशेष को उपयोग कहा गया है। उपयोग जीव का तद्भूत लक्षण है। यह उपयोग दो प्रकार का माना गया है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग पदार्थ को विकल्प सहित जानता है और दर्शनोपयोग या दर्शन पदार्थ को विकल्प रहित जानता है। ज्ञान को साकार और दर्शन को निराकार भी कहा गया है। 'दर्शन' का स्पष्ट विवेचन करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्पक रूप से ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं अर्थात् निर्विकल्पक रूप से जीव के द्वारा जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थों की स्व–पर सत्ता का अवभासन होता है उसे 'दर्शन' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि पदार्थों में सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म एक साथ रहते हैं किन्तु सामान्य धर्म की अपेक्षा से जो स्व–पर सत्ता का अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। दर्शन पदार्थों का आकार रहित सामान्य रूप से सत्ता–मात्र का ग्रहण करता है। इसमें यह 'काला' है, यह 'गोरा' है, यह 'छोटा' है, यह 'बड़ा' है–इस प्रकार का विकल्प पैदा नहीं होता। 'कुछ' है इस प्रकार पदार्थ की सत्ता (मौजूदगी) मात्र प्रतिभासित होती है अर्थात् यह निर्विकल्पक होता है।

उक्त सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में से बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है तो जैनदर्शन केवल सविकल्पक को ही, जबकि न्याय–वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शन सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों को ही प्रत्यक्ष मानते हैं।

1.2.4 न्याय-वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष ज्ञान—न्याय–वैशेषिक मतानुसार प्रत्यक्ष के प्रकारान्तर से लौकिक और अलौकिक ये दो भेद भी माने गये हैं। अस्मदादि लौकिक पुरुषों का प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है और वह इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारण सामग्री के होने पर ही सम्भव है परन्तु योगियों के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारण सामग्री की आवश्यकता नहीं है। योगीजन अपनी योगज सामर्थ्य से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बिना भी भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म व्यवहित,

विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं को ग्रहण कर सकते हैं। उनका यह ज्ञान यथार्थ और साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक होता है। इस प्रकार लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान और उनकी कारण सामग्री के विषय में प्रायः सभी निर्विकल्पकवादी एकमत हैं।

इस प्रकार न्याय, वैशेषिकादि प्रायः सभी वैदिक दर्शनों ने इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष माना है और इसी प्रकार इन्द्रियों से परे, जहाँ इन्द्रियों की पहुँच नहीं है, ऐसे ज्ञान को परोक्ष भी कहा है अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियों के व्यापार से रहित है वह परोक्ष है। यहाँ 'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय लिया गया है किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण जैनदर्शन के अनुसार समीचीन नहीं है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष लक्षण मानने पर इन्द्रियों में से चक्षुरिन्द्रिय पदार्थों से सम्बद्ध होकर (सटकर) उनके रूपादि का ज्ञान नहीं कराती किन्तु उनसे दूर स्थित होकर ही उनका ज्ञान कराती है। यह हम स्पष्ट ही देखते हैं इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित सिद्ध होता है। इसी प्रकार उक्त लक्षण के मानने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव प्राप्त होता है क्योंकि आप्त के इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ सन्निकर्षपूर्वक पदार्थज्ञान नहीं होता। यदि उसके भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाय तो उसको सर्वज्ञ कैसे माना जा सकता है ? यदि यह कहा जाए कि उसको मानस प्रत्यक्ष होता है, उससे समस्त पदार्थों को जान लेता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मन के प्रयत्न से ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर भी सर्वज्ञत्व का अभाव ही सिद्ध होता है। यदि पुनः यह कहा जाए कि योगी प्रत्यक्ष नाम का एक अन्य दिव्यज्ञान है, उससे योगीजन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बिना भी भूत, भविष्यत् , सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट आदि सभी वस्तुओं को जान सकते हैं तो भी उनमें प्रत्यक्षता नहीं बनती क्योंकि वह इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होता है। जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रिय से होती है वह प्रत्यक्ष है। ऐसा सभी वैदिक दर्शनों ने स्वीकार भी किया है। इस प्रकार उक्त लक्षण निर्दोष सिद्ध नहीं होता है।

1.2.5 जैनदर्शनसम्मत प्रत्यक्ष-परोक्ष लक्षण—प्रत्यक्ष प्रमाण–जैनदर्शन के प्रमुख आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण करते हुए कहा है—'पर अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि की अपेक्षा से रहित आत्म मात्र सापेक्ष पदार्थज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि पर साधनों की अपेक्षा से होने वाले पदार्थज्ञान को परोक्ष कहते हैं।

इसी प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्द के भाष्यकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष का यही लक्षण किया है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के पश्चात् आचार्य श्री उमास्वामी तथा उनके भाष्यकार श्री अकलंकदेव, श्री पूज्यपाद आदि ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के व्युत्पत्तिपरक लक्षण किये हैं। 'प्रत्यक्ष' शब्द 'प्रति' और 'अक्ष' इन शब्दों के मेल से बना है। 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय है किन्तु यहाँ 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा लिया गया है अतः जो ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना केवल आत्मा के प्रति ही नियत होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसी प्रकार 'अक्ष' व्याप् और ज्ञा—ये धातुएँ एकार्थवाचक हैं इसलिए 'अक्ष' का अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशम वाले या आवरणरहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादि की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशम वाले या आवरण रहित आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

विचारणीय यह है कि इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष, जैसा कि जैनेतर दर्शन मानते हैं, नहीं माना जा सकता है; क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान से आत्मा में सर्वज्ञता नहीं आ सकती है, उसका अभाव हो जाएगा अतएव अतीन्द्रिय ज्ञान परनिरपेक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, स्वतन्त्र आत्मा के आश्रित है, पर निरपेक्ष है, जिसमें बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है वह प्रत्यक्ष है और जिसमें इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि की अपेक्षा या आवश्यकता रहती है, वह परोक्ष है क्योंकि इन्द्रिय, मन, प्रकाश और गुरुपदेशादि पर कहे जाते हैं, इन पर अर्थात् बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से 'अक्ष' अर्थात् आत्मा के जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परोक्ष कहते हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द और श्री उमास्वामी के उत्तरवर्ती आचार्यों ने तार्किक दृष्टि से भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण किये हैं।

1.2.6 आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार प्रत्यक्ष-परोक्ष लक्षण—आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और इससे भिन्न ज्ञान को परोक्ष कहा है। इस लक्षण में 'अपरोक्ष' शब्द विशेष महत्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय' और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य श्री सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा उससे असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान आत्मा (प्रमाता) के साक्षात् नहीं होता इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अर्थ और उसके बीच अव्यवधान होना जरूरी है। आचार्य श्री अकलंकदेव ने परमार्थतः स्पष्ट, साकार, द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को जानने वाले और आत्मवेदी ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

इन्होंने लघीयस्त्रय में 'विशद ज्ञान' को भी प्रत्यक्ष कहा है अर्थात् जो ज्ञान परमार्थ रूप से विशद (निर्मल) और स्पष्ट होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्होंने आगे वैशद्य (विशदता या निर्मलता) का लक्षण करते हुए कहा है—अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ के वर्ण, आकारादि के विशेष प्रतिभासन को वैशद्य कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमानादि परोक्षज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान, व्याप्तिस्मरण आदि की अपेक्षा रखते हैं। उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक (अधिकता) है। दूसरे शब्दों में, अन्य ज्ञान के व्यवधान से रहित जो निर्मल, स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान होता है उसे विशदता या वैशद्य कहते हैं।

ज्ञान की इस विशदता या स्पष्टता को हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं—जैसे किसी एक बालक को उसके पिता ने अग्नि का ज्ञान शब्द द्वारा करा दिया। बालक ने शब्द (आगम) से अग्नि जान ली। इसके पश्चात् फिर धूम दिखाकर अग्नि का ज्ञान करा दिया। बालक ने अनुमान से अग्नि जान ली। तदनन्तर बालक के पिता ने जलता हुआ अंगारा उठा लिया और बालक के सामने रखकर कहा—देखो, यह अग्नि है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष से अग्नि का जानना कहलाया है। इस उदाहरण में पहले दो ज्ञानों की अपेक्षा अन्तिम ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का विशेष वर्ण, स्पर्श आदि का जो निर्मल ज्ञान होता है, बस यही ज्ञान की विशदता या स्पष्टता है। ऐसी विशदता जिस ज्ञान में पायी जाती है वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

1.2.7 आचार्य श्री अकलंक देव के अनुसार प्रत्यक्ष-परोक्ष लक्षण—इस प्रकार आचार्य श्री अकलंक देव की व्याख्या के अनुसार 'विशद ज्ञान' प्रत्यक्ष है। आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर के प्रत्यक्ष लक्षण के 'अपरोक्ष' पद के स्थान पर 'विशद' पद को लक्षण में स्थान देने का एक कारण है। आचार्य श्री अकलंकदेव की प्रमाण व्यवस्था में व्यवहारदृष्टि का भी आश्रयण है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—मुख्य और सांव्यवहारिक। मुख्य प्रत्यक्ष वह है जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करे। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें 'अपरोक्षतया' अर्थग्रहण' लक्षण नहीं बनता इसलिए दोनों की संगति करने के लिए 'विशद' शब्द की योजना करनी पड़ी।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने अपने इस प्रत्यक्ष लक्षण द्वारा दार्शनिक जगत् की एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान किया। समस्या थी इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं मानना। किसी भी जैनेतर दार्शनिक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष नहीं माना, सब उसे प्रत्यक्ष ही मानते हैं किन्तु जैनदर्शन इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष मानता है। जबकि इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे। यह एक लोक व्यावहारिक समस्या थी। इसका समाधान इन्होंने बड़े सुन्दर तार्किक ढंग से किया। इन्होंने प्रत्यक्ष के दो भेद किये—1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और 2. पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष। लोक में जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है वह व्यवहार से तथा देशतः विशद (निर्मल) होने से उसे उन्होंने सांव्यवहारिक

प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार लोकव्यवहार का निर्वाह करने के लिए उन्होंने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कल्पना की, जो अपने ही अनोखे ढंग की थी। इससे इन्होंने इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर दिया। इस अनूठी कल्पना से उक्त समस्या का पूर्ण समाधान हो गया। इस प्रकार आचार्य श्री अकलंक देव का यह प्रत्यक्ष लक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि इनके उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने तथा जैनेतर दार्शनिकों ने इस लक्षण को बिना किसी विरोध के सहर्ष स्वीकार किया।

जिस प्रकार आचार्य श्री अकलंक देव ने 'विशद ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहा है उसी प्रकार बौद्ध भी 'विशद ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहते हैं किन्तु वे निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की सीमा में रखते हैं।

यद्यपि आचार्य श्री सिद्धसेन के लक्षण में निर्दिष्ट 'अपरोक्ष' का वेदान्त के और आचार्य अकलंक के प्रत्यक्ष लक्षण में निर्दिष्ट 'विशद' का बौद्ध के प्रत्यक्षलक्षण से अधिक सामीप्य है, फिर भी उसके विषयग्राहक स्वरूप में मौलिक भेद है। वेदान्त के मतानुसार पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण की वृत्ति के माध्यम से होता है। अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने शुद्ध साक्षी चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के बीच दूसरी कोई शक्ति नहीं होती।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानते हैं। जैनों के अनुसार निर्विकल्पक बोध निर्णायक नहीं होता इसलिए यह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण ही नहीं बनता।

जैनदर्शन के अनुसार आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष तथा जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि पर साधनों की अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष है। प्रत्यक्ष आत्मजन्य या आत्मीक ज्ञान है और परोक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान है, प्रत्यक्ष स्वाश्रित और परोक्ष पराश्रित, प्रत्यक्ष इन्द्रिय निरपेक्ष और परोक्ष इन्द्रिय सापेक्ष, प्रत्यक्ष आत्माधीन और परोक्ष इन्द्रियाधीन, प्रत्यक्ष आत्मविशुद्धि या आत्मनैर्मल्यजन्य और परोक्ष इन्द्रियनैर्मल्यजन्य ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष की ये परिभाषाएँ जैनदर्शन की भारतीय दर्शन को एक विशेष देन हैं।

1.2.8 प्रत्यक्ष के भेद—

उपरि विवेचित प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, 2. पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष।

1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन ही सहायता से होने वाले एकदेश निर्मल ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। सांव्यवहारिक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी किया गया है—सम् अर्थात् समीचीन प्रवृत्ति—निवृत्तिरूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं और उसमें होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—1. इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और 2. अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

(1) इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण—इन पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसी को आचार्य श्री उमास्वामी ने मतिज्ञान कहा है।

(2) अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जैसा कि इसके नाम से अभिव्यक्त होता है, अनिन्द्रिय अर्थात् केवल मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

1.3 इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद—

इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है–1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय और 4. धारणा।

1.3.1 अवग्रह—योग्य क्षेत्र में स्थित पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर सबसे पहले दर्शन होता है जो निर्विकल्पक अथवा निराकार होता है और दर्शन के बाद उस पदार्थ का जो प्रथम ग्रहण होता है, जो सविकल्पक अथवा साकार हुआ करता है उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे—चक्षु इन्द्रिय द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण होना अवग्रह है। तात्पर्य यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों तथा घटादि पदार्थों का सम्पर्क होते ही प्रथम दर्शन होता है। यह दर्शन सत्ता मात्र या सामान्य (कुछ है) को ग्रहण करता है। पीछे वही दर्शन वस्तु के आकार आदि का निर्णय होने पर अवग्रह ज्ञान रूप परिणत हो जाता है। जैसे—'यह मनुष्य है' यह ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह, ग्रहण, आलोचना और अवधारणा—ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं अर्थात् अवग्रह के पर्यायवाची हैं।

1.3.2 अवग्रह के भेद—अवग्रह के भी दो भेद हैं—1. व्यंजनावग्रह और 2. अर्थावग्रह। अव्यक्त, अस्पष्ट या अप्रकट पदार्थ के ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं और व्यक्त, स्पष्ट या प्रकट पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं अथवा जो प्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसको व्यंजनावग्रह कहते हैं और जो अप्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त (सम्बन्ध) अर्थ को व्यंजन कहते हैं और अप्राप्त (असम्बन्ध) अर्थ को अर्थ कहते हैं और इनके ज्ञान को क्रम से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह कहते हैं। इस प्रकार व्यंजन शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' भी किया गया है इसलिए इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर भी जब तक प्रकट न हो तब तक उसे व्यंजन कहते हैं और प्रकट होने पर 'अर्थ' कहते हैं। इन दोनों का भेद एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है जैसे–मिट्टी के नये अति सूक्ष्म सकोरे पर जल के दो–तीन बिन्दु डाले जायें तो तुरन्त ही सकोरा उन्हें सोख लेता है और वह गीला नहीं होता किन्तु बार–बार जलबिन्दु डालने पर एक समय ऐसा आता है कि वह सकोरा धीरे–धीरे गीला हो जाता है और वह गीला दिखाई देने लगता है। इससे पूर्व भी सकोरा में वे जलकण थे अवश्य किन्तु दृष्टि में आने लायक नहीं थे, उनकी मात्रा अति अल्प थी। जब जल की मात्रा बढ़ी और सकोरे की सोखने की शक्ति कम हुई तब कहीं आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल सर्वप्रथम सकोरे में समा गया था वही अब उसके ऊपर के तल में इकट्ठा होने लगा और स्पष्ट दिखाई दिया। इसी तरह जब किसी सुषुप्त व्यक्ति को पुकारा जाता है तब यह शब्द उसके कान में गायब सा हो जाता है। दो–चार बार पुकारने से उसके कान में जब पौद्गलिक शब्दों की मात्रा काफी रूप में भर जाती है तब जलकणों से पहलेपहल आर्द्र होने वाले सकोरे की तरह उस सुषुप्त व्यक्ति के कान भी शब्दों से परिपूरित होकर उनको सामान्य रूप से जानने में समर्थ होते हैं कि 'यह क्या है ?' यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहलेपहल स्पष्टतया जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम प्रारम्भ होता है इस तरह स्पर्श आदि इन्द्रियों में ग्रहण किया हुआ स्पर्श अथवा श्रोत्र आदि इन्द्रियों में आया हुआ शब्द अथवा गन्ध आदि दो चार छह क्षणों तक स्पष्ट नहीं होते किन्तु बार–बार ग्रहण करने पर स्पष्ट हो जाते हैं अत: स्पष्ट ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है। पश्चात् अर्थावग्रह होता है किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जैसे अवग्रह–ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है। वैसे ही अर्थावग्रह भी व्यंजनावग्रहपूर्वक ही हो क्योंकि अर्थावग्रह तो पाँचों ही इन्द्रियों और मन से होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है। इन को छोड़कर शेष चार ही इन्द्रियों से होता है। आशय यह है कि जो इन्द्रियाँ अपने विषय को उससे सम्बद्ध या सट कर जानती हैं उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है। ऐसी इन्द्रियाँ केवल चार हैं–स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र। ये चारों इन्द्रियाँ अपने विषय से सम्बद्ध होने पर ही स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द को ग्रहण करती हैं किन्तु चक्षु और मन अपने विषय से दूर रहकर ही उसे जानते हैं। तभी तो जो वस्तु आँख के अत्यन्त निकट होती है उसे वह नहीं जानती। जैसे–आँख में लगा हुआ अंजन। इसी से जैनदर्शन में चक्षु को अप्राप्यकारी माना है। चक्षु की अप्राप्यकारिता आगम और युक्ति से सिद्ध होती है। आगम से यथा—'श्रोत्र स्पृष्ट शब्द को सुनता है और अस्पृष्ट शब्द को भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रम से स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्श को जानती हैं। युक्ति से चक्षु की

अप्राप्यकारिता 'आँख' में लगे हुए अंजन के दृष्टान्त द्वारा ऊपर निर्दिष्ट कर दी गयी है।

1.3.3 दर्शन और अवग्रह में भेद–दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में दर्शन को अनाकार तथा सामान्यग्राही माना है तथा ज्ञान को साकार और विशेषग्राही माना है। पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है किन्तु दिगम्बर परम्परा केवलज्ञानी के दर्शन और ज्ञान एक साथ मानती है। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है। श्री अकलंकदेव ने भी उसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ का योग होने पर सत्ता सामान्य का दर्शन होता है अर्थात् वे दर्शन का विषय बलता देते हैं। यही सन्मात्र दर्शन अनन्तर समय में 'अर्थाकार विकल्पधी' हो जाता है अर्थात् अर्थ के आकार का निर्णायक हो जाता है, वही अवग्रह है।

दर्शन और अवग्रह के भेद की चर्चा करते हुए श्री अकलंकदेव 'तत्त्वार्थवार्तिक' में कहते हैं—

'चक्षु के द्वारा 'कुछ है' इस प्रकार के निराकार अवलोकन को दर्शन कहते हैं। जैसे—तत्काल जन्मे हुए बालक को आँख खोलते ही जो प्रथम अवलोकन होता है, जिसमें वस्तु के विशेष धर्मों का भान नहीं होता, वह दर्शन है, वैसे ही सभी को पहले दर्शन होता है उसके पश्चात् दो–तीन समय तक आँखें टिमटिमाने पर 'यह रूप है' इस प्रकार विशेषता को लिए हुए अवग्रह होता है, आँखे खोलते ही बाल शिशु को जो दर्शन होता है यदि वह अवग्रह का सजातीय होने से ज्ञान है तो वह मिथ्याज्ञान है अथवा सम्यग्ज्ञान है ? यदि मिथ्याज्ञान है तो वह संशय है या विपर्यय है अथवा अनध्यवसाय है ? वह संशय या विपर्यय ज्ञान तो हो नहीं सकता ; क्योंकि बच्चे की चेष्टाएँ सम्यग्ज्ञानमूलक देखी जाती हैं तथा प्रथम ही संशय और विपर्यय हो भी नहीं सकते। जब कोई सीप और चाँदी को देख लेता है, उसके पश्चात् ही उसे सामने पड़ी हुई वस्तु में सीप और चाँदी का भ्रम होता है तथा वह अनध्यवसाय भी नहीं है; क्योंकि उसे वस्तु मात्र का दर्शन हो रहा है अतः बच्चे का प्राथमिक अवलोकन मिथ्याज्ञान तो नहीं है और न सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि उसमें वस्तु के आकार का बोध नहीं है। अतः यह मानना पड़ता है कि अवग्रह से पहले दर्शन होता है।

इस तरह अकलंकदेव ने अवग्रह और दर्शन में भेद सिद्ध करते हुए 'कुछ है' इस प्रकार से वस्तु मात्र के ग्राही को दर्शन और 'वह रूप है' इस प्रकार वस्तु विशेष के ग्राही को अवग्रह ज्ञान कहा है।

सभी जैनेतर दार्शनिक यह मानते हैं कि सबसे पहले इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होता है फिर निर्विकल्पक ज्ञान होता है। मीमांसक कुमारिल भट्ट लिखते हैं कि 'सबसे प्रथम आलोचना ज्ञान होता है। वह निर्विकल्पक होता है, शुद्ध वस्तु से जन्य होता है तथा मूक शिशु के ज्ञान के सदृश होता है। आचार्य जिनभद्र ने भी अवग्रह की चर्चा करते हुए आलोचनपूर्वक अवग्रहज्ञान के होने की चर्चा की है और उन्होंने आलोचना ज्ञान को व्यंजनावग्रह माना है; क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर आलोचना ज्ञान होता है और तभी व्यंजनावग्रह माना गया है किन्तु यदि आलोचना ज्ञान में सामान्य अर्थ का ग्रहण होता है तो वह अर्थावग्रह से भिन्न नहीं है तथा अकलंकदेव की उक्त चर्चा में मूक शिशु के प्रथम दर्शन को अवग्रह से विलक्षण सिद्ध करके अवग्रह से पहले दर्शन की सत्ता सिद्ध की गयी है अतः कुमारिल के आलोचना ज्ञान को अकलंकदेव ने दर्शन माना है। इसी तरह बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान को भी श्री अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष ज्ञान न मानकर दर्शन माना है। सारांश यह है कि जैनदर्शन में सविकल्पक ज्ञान से पहले किसी निर्विकल्पक ज्ञान का अस्तित्व नहीं माना गया, जबकि अन्य दर्शनों में माना गया अतः अकलंकदेव ने उसकी तुलना दर्शन से की क्योंकि जैनदर्शन में ज्ञान को दर्शनपूर्वक माना है तथा उसका विषय सत्ता–सामान्य है। श्री अकलंकदेव की इस मान्यता को भी उनके उत्तराधिकारी दोनों परम्पराओं के दार्शनिकों ने स्वीकार किया।

1.3.4 ईहा—अवग्रह के द्वारा होने वाला ज्ञान इतना कमजोर होता है कि इसके बाद संशय हो सकता है इसलिए संशयापन्न अवस्था को दूर करने के लिए या पिछले ज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए जो ईहन, विचारणा या गवेषणा होती है वह ईहा ज्ञान है। अवग्रह से होने वाले ज्ञान के बाद उस पदार्थ को विशेष रूप से जानने के लिए जब यह शंका

हुआ करती है कि यह मनुष्य तो है परन्तु दाक्षिणात्य है अथवा औदीच्य है ? तब उस शंका को दूर करने के लिए उसके वस्त्र आदि की तरफ दृष्टि देने से यह ज्ञान होता है कि यह दाक्षिणात्य होना चाहिए, इसी को ईहा कहते हैं।

आशय यह है कि अवग्रह से गृहीत अर्थ में विशेष जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं। जैसे—'यह पुरुष है' इस प्रकार यदि 'पुरुष' का अवग्रह ज्ञान हुआ तो 'यह पुरुष' किस देश का है, किस उम्र का है ? आदि जानने की आकांक्षा ईहा है। श्वेताम्बरीय मान्यता के अनुसार शब्द को सुनकर 'यह शब्द होना चाहिए' इस प्रकार की जिज्ञासा का होना ईहा है। ईहा ज्ञान संशय रूप नहीं है। एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थों के ज्ञान का नाम संशय है। यह संशय अवग्रह के पश्चात् और ईहा से पहले होता है। संशय के दूर होने पर जब ज्ञान निश्चय के अभिमुख होता है तो उसी को ईहा कहते हैं। जैसे—पुरुष का अवग्रह होने पर यह दक्षिणात्य है अथवा औदीच्य है ? इत्यादि संशय होता है। इसके पश्चात् जब वह निश्चयोन्मुख होता है कि अमुक होना चाहिए, वह ईहा है।

यदि यह कहा जाए कि ईहा ज्ञान में विशेष का निश्चय नहीं होता और संशय भी अनिश्चयात्मक है, ऐसी अवस्था में दोनों में क्या भेद है ? इसका समाधान किया गया है कि संशय पहले होता है और ईहा बाद में उत्पन्न होती है अतएव दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त संशय में दोनों पलड़े बराबर होते हैं, दक्षिणी और पश्चिमी की दोनों कोटियाँ तुल्य बल वाली होती हैं, ईहा में एक पलड़ा भारी हो जाता है। यह 'दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकार का ज्ञान एक ओर को झुका रहता है अतएव संशय और ईहा दोनों एक नहीं हैं।

ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं अर्थात् ईहा शब्द के पर्यायवाची हैं।

1.3.5 अवाय—विशेष धर्मों को जानकर यथार्थ वस्तु का निर्णय होना अवाय है अथवा अवग्रह तथा ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में 'यह समीचीन है' अथवा 'असमीचीन है' इस तरह से गुण-दोषों का विचार करने के लिए जो निश्चय रूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है उसको अपाय या अवाय कहते हैं। जैसे-'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए' इतना ज्ञान ईहा द्वारा हो चुका था, उसमें विशेष का निश्चय होना अर्थात् उस मनुष्य के निकट आ जाने पर उसकी बातचीत (बोलचाल) के सुनने पर यह दृढ़ निश्चय होता है कि यह 'दक्षिणात्य ही है' इस प्रकार के ज्ञान को अपाय कहते हैं। अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुत्त—ये सभी शब्द एक अर्थ के वाचक हैं अर्थात् अवाय शब्द के पर्यायवाची हैं।

यहाँ अवाय और अपाय दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। श्वेताम्बर सम्मत तत्त्वार्थ सूत्र में 'अपाय' शब्द का प्रयोग है और दिगम्बरसम्मत तत्त्वार्थ सूत्र में 'अवाय' शब्द का प्रयोग है। आचार्य श्री अकलंकदेव ने अपने राजवार्तिक में यह चर्चा की है कि यह अपाय शब्द है अथवा अवाय ? इसका समाधान करते हुए उन्होंने कहा है कि दोनों ही शब्द ठीक हैं, एक के प्रयोग से दूसरे का ग्रहण स्वयं हो जाता है। जैसे जब 'यह दक्षिणात्य नहीं है' इस तरह यह शब्द अपाय अर्थात् निषेध करता है तो 'यह उत्तरीय है' यह अवाय अर्थात् ज्ञान करता है और जब 'यह उत्तरीय है' यह ज्ञान करता है तब 'यह दक्षिणात्य नहीं है' यह अपाय अर्थात् निषेध करता है।

1.3.6 धारणा—अवाय से निर्णीत वस्तु को कालान्तर में न भूलने में जो ज्ञान कारण है उसे धारणा कहते हैं। जैसे अवाय से यह निश्चय हो गया था कि 'यह दक्षिणात्य ही है' इसको कालान्तर में न भूलने में जो ज्ञान कारण होता है उसे धारणा कहते हैं। धारणा का मतलब प्रतिपत्ति है अर्थात् अपने योग्य पदार्थ का जो बोध हुआ है, उसका अधिक काल तक स्थिर रहना धारणा है। यह धारणा ही स्मृति आदि ज्ञानों की जननी है। जिस पदार्थ का धारणा ज्ञान नहीं होता उसका कालान्तर में स्मरण भी सम्भव नहीं है। धारणा का अर्थ संस्कार भी है। यह ज्ञान हृदय-पटल पर इस प्रकार अंकित हो जाता है कि कालान्तर में भी वह जाग्रत हो सकता है।

धारणा, प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम और अवबोध ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं अर्थात् धारणा शब्द के पर्यायवाची हैं।

ये अवग्रह आदि चारों ज्ञान इसी क्रम से होते हैं। इनकी उत्पत्ति में कोई व्यतिक्रम नहीं होता; क्योंकि अदृष्ट का अवग्रह नहीं होता, अनवगृहीत में सन्देह नहीं होता, सन्देह हुए बिना ईहा नहीं होती, ईहा के बिना अवाय नहीं होता और अवाय के बिना धारणा नहीं होती किन्तु जैसे कमल के सौ पत्तों को ऊपर नीचे रखकर सुई से छेदने पर ऐसी प्रतीति होती है कि सारे पत्ते एक ही समय में छेदे गये। यद्यपि वहाँ काल भेद है किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमारी दृष्टि में नहीं आता, वैसे ही अभ्यस्त विषय में यद्यपि केवल अवाय ज्ञान की ही प्रतीति होती है फिर भी उससे पहले अवग्रह और ईहा ज्ञान बड़ी द्रुतगति से हो जाते हैं, इससे उनकी प्रतीति नहीं होती। आशय यह है कि पहले दर्शन, फिर अवग्रह, फिर सन्देह, फिर ईहा, फिर अवाय और तदनन्तर धारणा ज्ञान उत्पन्न होता है। यही अनुभव का क्रम है। यदि इस क्रम को स्वीकार न किया जाय तो किसी भी पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव है; क्योंकि जब तक दर्शन के द्वारा पदार्थ की सत्ता का आभास नहीं हो तब तक मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य ज्ञात नहीं होंगे, अवान्तर सामान्य के ज्ञान बिना 'यह दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं होगा, सन्देह के बिना 'यह दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकार का ईहा ज्ञान नहीं होगा, इसी प्रकार अगले ज्ञानों का भी अभाव हो जाएगा अतः दर्शन, अवग्रह आदि का उक्त क्रम ही मानना युक्ति और अनुभव से संगत है।

यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि यह कोई नियम नहीं कि इनमें से पहला ज्ञान होने पर आगे के सभी ज्ञान होते ही हैं। कभी केवल अवग्रह ही होकर रह जाता है, कभी अवग्रह और ईहा ही होते हैं, कभी-कभी अवग्रह, ईहा और अवाय ज्ञान ही होते हैं और कभी धारणा तक होते हैं। ये सभी ज्ञान एक चैतन्य के ही विशेष हैं किन्तु ये सब क्रम से होते हैं तथा इनका विषय भी एक दूसरे से अपूर्व है अतः ये सब आपस में भिन्न-भिन्न माने जाते हैं।

ये अवग्रह आदि ज्ञान बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनसे उलटे एक या अल्प, एकविध या अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त तथा अध्रुव, इन बारह प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करते हैं अर्थात् इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह, ईहादि रूप ज्ञान होता है।

1.4 बहु आदि के लक्षण—

1. बहु — एक साथ एक पदार्थ का बहुत अवग्रहादि ज्ञान होना। जैसे-गेहूँ की राशि देखने से बहुत से गेहुँओं का ज्ञान होना।

2. बहुविध — बहुत प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना। जैसे-गेहूँ, चना, चावल आदि कई पदार्थों का ज्ञान होना।

3. क्षिप्र — शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना अथवा शीघ्र पदार्थ को क्षिप्र कहते हैं। जैसे-तेजी से बहता हुआ जलप्रवाह।

4. अनिःसृत — अप्रकट पदार्थ का ज्ञान। जैसे-जल में डूबा हुआ हाथी आदि अथवा एक प्रदेश के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होना। जैसे बाहर निकली हुई हाथी की सूंड को देखकर जल में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना।

5. अनुक्त — वचन से कहे बिना अभिप्राय से जान लेना। जैसे-मुख की आकृति तथा हाथ आदि के इशारे से प्यासे या भूखे मनुष्य का ज्ञान होना।

6. ध्रुव — स्थिर पदार्थ को ध्रुव कहते हैं। जैसे — पर्वतादि अथवा बहुत काल तक जैसे का तैसा निश्चल ज्ञान होते रहना।

7. एक — अल्प अथवा एक पदार्थ का ज्ञान। जैसे — एक गेहूँ या एक चने का ज्ञान होना।

8. एकविध — एक प्रकार के या एक ही जाति के पदार्थों का ज्ञान होना। जैसे-एक सदृश गेहुँओं का ज्ञान होना।

9. अक्षिप्र — चिरग्रहण — किसी पदार्थ को धीरे-धीरे बहुत समय तक जानना अथवा मन्द पदार्थ को अक्षिप्र कहते हैं। जैसे — कछुआ, धीरे-धीरे चलने वाला घोड़ा, मनुष्यादि।

10. निःसृत—बाहर निकले हुए प्रकट पदार्थों का ज्ञान होना।

11. उक्त—कहने पर ज्ञान होना।

12. अध्रुव—जो क्षण–क्षण हीन अधिक होता रहे उसे अध्रुव ज्ञान कहते हैं अथवा चंचल रूप में पदार्थों को जानना अध्रुव ज्ञान है। जैसे—विद्युत आदि का ज्ञान।

उक्त बारह प्रकार के विषयों का पाँच इन्द्रिय और मन से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञान होता है तथा ऊपर कहे हुए बहु आदिक बारह भेद पदार्थ के हैं अर्थात् बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

1.4.1 वैशेषिकादि दर्शनों का मत—इस विषय में वैशेषिकादि दर्शनों का मत है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ पदार्थों के केवल रूपादि गुणों को ही ग्रहण करती हैं, पदार्थों को नहीं क्योंकि इन्द्रियों का सन्निकर्ष रूपादि गुणों के साथ ही होता है अतः वे उन्हीं को ग्रहण करती हैं किन्तु जैनदर्शन इस मान्यता से सहमत नहीं है। उसके अनुसार चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध पदार्थों के साथ ही होता है, केवल रूपादि गुणों के साथ नहीं होता अतः चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होने वाले अवग्रहादि मात्र रूपादि गुणों को ही नहीं जानते किन्तु उन गुणों के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं क्योंकि गुण और गुणी (द्रव्य) में कथंचित् अभेद होने से गुण का ग्रहण होने पर गुणी (द्रव्य) का भी ग्रहण उस रूप में ही हो जाता है। किसी ऐसे इन्द्रिय ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती, जो द्रव्य को छोड़कर मात्र गुण को या गुण को छोड़कर मात्र द्रव्य को ग्रहण करता हो।

1.4.2 मति ज्ञान के भेद—इस प्रकार ऊपर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मतिज्ञान के भेद–प्रभेदों का वर्णन किया गया है। यदि इन भेद–प्रभेदों पर अलग–अलग रूप से विचार किया जावे तो ये सब भेद 336 होते हैं। जैसे–यह बारह प्रकार के पदार्थों का ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप होता है अतः ये समस्त भेद मिलकर 12 × 4 = 48 होते हैं और इनमें प्रत्येक ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा होता है अतः 48 × 6 = 288 भेद हुए। ये 288 भेद अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के हैं क्योंकि ये सभी पाँच इन्द्रिय और मन से होते हैं किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से उत्पन्न नहीं होता, केवल चार इन्द्रियों से ही होता है क्योंकि चक्षु और मन पदार्थ को दूर से ही ग्रहण करते हैं, उनसे सम्बद्ध या सटकर नहीं ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्यंजनावग्रह के बहु आदि बारह विषयों की अपेक्षा 12 × 4 = 48 भेद होते हैं। इन सबको मिलाने से 288 + 48 = 336 भेद मतिज्ञान के होते हैं अर्थात् मतिज्ञान 336 प्रकार से पदार्थों को ग्रहण करता है, उनको जानता है।

1.5 श्रुतज्ञान—

जो ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक उत्पन्न होता है वह **श्रुतज्ञान** कहलाता है क्योंकि 'सुदंमई पुव्वं' (श्रुतं मतिपूर्वम्) श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, ऐसा वचन है अर्थात् मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर जो अन्य अर्थ का ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुत, आप्तवचन, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। श्रुत शब्द कुशल शब्द के समान जगत्स्वार्थवृत्ति (लक्षणा विशेष) है। जैसे—कुश काटने रूप क्रिया का आश्रय करके सिद्ध किया गया कुशल शब्द (उक्त अर्थ को छोड़कर) सब जगह 'पर्यवदात' या 'दक्ष' अर्थ में आता है उसी प्रकार श्रुत शब्द भी श्रवण क्रिया को लेकर सिद्ध होता हुआ रूढ़िवश किसी ज्ञान विशेष में रहता है न कि केवल श्रवण से उत्पन्न ज्ञान में ही। सूत्र में आये हुए 'पूर्व' शब्द का अर्थ कारण है इसलिए श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के निमित्त से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। मतिज्ञान हुए बिना श्रुतज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी मतिज्ञान को श्रुतज्ञान का निमित्त कारण मानना चाहिए, उपादान कारण नहीं क्योंकि उसका असली निमित्त कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है।

1.5.1 मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर — सर्वप्रथम पाँच इन्द्रिय और मन, इनमें से किसी एक के निमित्त से किसी भी विद्यमान वस्तु का मतिज्ञान होता है। इसके बाद इस मतिज्ञानपूर्वक उस ज्ञात हुई वस्तु के विषय में या उसके सम्बन्ध से अन्य वस्तु के विषय में जो विशेष चिन्तन और मनन प्रारम्भ होता है, उसे ही श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे — चक्षु से आम के फल को देखना, यह मतिज्ञान है। इस आम्रफलविषयक चाक्षुष मतिज्ञान के होने के बाद उसके विषय में मन से उसकी आकृति, रूप, रस, गन्ध आदि पर विचार कर यह ज्ञात होता है कि यह बनारसी या लखनवी आम होना चाहिए। इस प्रकार के विकल्पों का होना श्रुतज्ञान है। आशय यह है कि किसी भी पदार्थ को देखना यह चक्षु इन्द्रिय का कार्य है और यह मतिज्ञान है तथा उसके गुण-दोषों, उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि पर विचार करना यह मन का कार्य है, यही श्रुतज्ञान का विषय है। मन का विषय श्रुत है और श्रुत का अर्थ शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान है। यहाँ मन का विषय जो श्रुत बताया है उससे मतलब भावश्रुत का है, जो श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से द्रव्य श्रुत के अनुसार विचार रूप से तत्त्वार्थ का परिच्छेदक आत्मपरिणति विशेष ज्ञानरूप हुआ करता है। जैसे किसी ने धर्मद्रव्य का उच्चारण किया, उसको सुनते ही पहले शास्त्र में बांचे हुए अथवा किसी के उपदेश से जाने हुए गतिहेतुक धर्म द्रव्य का बोध हो जाता है, यही मन का विषय है। इसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वार्थ और द्वादशांग के समस्त विषयों का विचार करना मन का कार्य है या किसी भी विषय का विचार करना ही इसका विषय है। अर्थावग्रह के अनन्तर जो मतिज्ञान होता है उसको भी उपचार से श्रुतज्ञान कहते हैं; क्योंकि वह मन के बिना नहीं होता अतएव वह भी मन का ही विषय है। श्रुत का मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है उसकी गणना श्रुतज्ञान में है। श्रुतज्ञान को मतिज्ञानपूर्वक माना जाता है। इन दोनों का कारण-कार्य सम्बन्ध है, मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है।

मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विषय महान् है; क्योंकि उसमें जिन विषयों का वर्णन किया गया है अथवा उसके द्वारा जिन विषयों का ज्ञान होता है वे ज्ञेय (प्रमेय) रूप विषय अनन्त हैं तथा उसका प्रणयन या निरूपण सर्वज्ञ के द्वारा हुआ है, उसका विषय अतिशय महान् है इसलिए उसके एक-एक अर्थ को लेकर अधिकारों की रचना की गयी है और तत्तत् अधिकारों के प्रकरण की समाप्ति की अपेक्षा से उसके अंग और उपांग रूप में नाना भेद हो गये हैं।

मतिज्ञान केवल वर्तमानकाल सम्बन्धी पदार्थों को जानता है जबकि श्रुतज्ञान भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बन्धी पदार्थों को जानता है।

मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान अधिक विशुद्ध है। मतिज्ञान इन्द्रियनिमित्तक हो अथवा अनिन्द्रियनिमित्तक, आत्मा की ज्ञस्वभावता के कारण वह पारिणामिक है परन्तु श्रुतज्ञान ऐसा नहीं है; क्योंकि वह आप्त के उपदेश से मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है।

जैसे मतिज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ साक्षात् निमित्त होती हैं वैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् निमित्त नहीं होतीं इसलिए श्रुतज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियों से न मानकर मन से ही मानी गयी है तथापि स्पर्शन आदि इन्द्रियों के निमित्त से मतिज्ञान होने के बाद जो श्रुतज्ञान होता है उसमें परम्परा से वे स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ निमित्त मानी गयी हैं इसलिए मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति भी पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से कही जाती है पर यह कथन औपचारिक है।

इस प्रकार श्रुत का मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है वह तो श्रुतज्ञान है ही किन्तु उसके साथ उस जाति का जो अन्य ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान मानना चाहिए। श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ऐसे जो दो भेद किये गये हैं वे इसी आधार से किये गये हैं। अंगबाह्य और अङ्गप्रविष्ट ये भी श्रुत के दो भेद हैं। इनमें अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं। श्रुतज्ञान का विशेष वर्णन धवलादि ग्रंथों से जानना चाहिए।

1.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जिसके द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, उसे.....कहते हैं।

(क) करण ☐
(ख) प्रमाण ☐
(ग) साधन ☐

प्रश्न 2-"जानना या प्रमारूप क्रिया चेतन है और चेतन क्रिया में साधकतम कारण कोई अचेतन नहीं हो सकता" यह किसकी मान्यता है ?

(क) वैशेषिक दर्शन ☐
(ख) बौद्धदर्शन ☐
(ग) जैनदर्शन ☐

प्रश्न 3-'स्व' और 'पर' को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण किसने कहा है ?

(क) आचार्य श्री समन्तभद्र ☐
(ख) आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ☐
(ग) आचार्य श्री अकलंकदेव ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य प्रमाणभेद में से किन्हीं तीन को बताइए ?

प्रश्न 2-न्याय दर्शन में प्रत्यक्षज्ञान के कितने भेद किए हैं, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 3-इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

प्रश्न 4-दर्शन और अवग्रह में क्या भेद हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-बहु आदि के भेद और लक्षण बताइए ?

पाठ-2—प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन

2.1 पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष—

जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष या मुख्य प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूप से विशद होता है; क्योंकि यह आत्मनैर्मल्य से उत्पन्न होता है। इसमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रिय और मन के व्यापार की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यह आत्मस्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी कारण इसे मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने के कारण वस्तुतः परोक्ष है किन्तु लोक में जैनेतर दर्शन उसे प्रत्यक्ष मानते हैं अतः लोकव्यवहार के अनुरोध से जैनदर्शन ने उसे भी प्रत्यक्ष माना है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—1. विकल प्रत्यक्ष और 2. सकल प्रत्यक्ष।

2.1.1 विकल प्रत्यक्ष—जो वस्तुतः प्रत्यक्ष हो किन्तु विकल अर्थात् अधूरा या अपूर्ण हो उसे विकल प्रत्यक्ष कहते हैं। विकलप्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है–(1) अवधिज्ञान और 2. मनःपर्ययज्ञान।

(1) अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते हैं। इसी कारण से आगम में इसको सीमाज्ञान कहा गया है। इसके दो भेद हैं—1. भवप्रत्यय और 2. गुणप्रत्यय। यह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही पुद्गलादि रूपी पदार्थों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए एकदेश स्पष्ट जानता है। आत्मा आदि अरूपी द्रव्यों को नहीं जानता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नरक भव (पर्याय) के कारण उत्पन्न होता है अतएव यह देव और नारकियों के होता है तथा तीर्थंकरों के भी होता है और यह सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न होता है और मनुष्य तथा तिर्यंचों के होता है। इसमें अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है। यह नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं उस जगह के आत्मप्रदेशों में होता है। भव प्रत्यय अवधिज्ञान सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से होता है। गुण प्रत्यय या क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान अनुगामी आदि के भेद से छह प्रकार का होता है। अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद भी किये गये हैं। भवप्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होता है और दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के निमित्त से होने वाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकार का होता है। देशावधि ज्ञान संयत तथा असंयत दोनों प्रकार के मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयत जीवों के ही होता है किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी (उसी भव से मोक्ष जाने वाले) तथा महाव्रती मुनिराज के ही होता है। देशावधि ज्ञान प्रतिपाती होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले ही छूट जाता है परन्तु सर्वावधि और परमावधि अप्रतिपाती होते हैं। अवधिज्ञान सूक्ष्म रूप से एक परमाणु को विषय करता है।

(2) मनःपर्ययज्ञान—जो किसी की सहायता के बिना ही अन्य पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को एकदेश स्पष्ट जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भूतकाल में चिन्तवन किये गये अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तवन किया जाएगा अथवा वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है इत्यादि अनेक भेद स्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को एकदेश स्पष्ट जानता है। मन का कार्य चिन्तन करना है अतः मन के चिन्तन की जितनी भी पर्याय या अवस्थाएँ होती हैं उनको मनःपर्ययज्ञानी जान लेता है इसीलिए इस ज्ञान को मनःपर्यय कहा गया है। मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान मन, वचन और काय की सरलता से चिन्तित, दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जान लेता है तथा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सरल तथा जटिल रूप से पर के मन में स्थित पदार्थ को जानता है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान वर्तमान में जिसका चिन्तन किया जा रहा है ऐसे पदार्थ को जानता है और विपुलमति ज्ञान भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में चिन्तित पदार्थ को भी जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में आत्मा के भावों की शुद्धता अधिक होती है तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है पर विपुलमति

केवलज्ञान के पहले नहीं छूटता। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है अर्थात् अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान में अधिक विशुद्धता पाई जाती है, क्षेत्र भी अधिक होता है। स्वामी की अपेक्षा मन:पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी मुनियों के ही होता है पर अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों के हो सकता है और मन:पर्ययज्ञान का विषय भी अधिक सूक्ष्म होता है।

2.1.2 सकलप्रत्यक्ष—

जो सम्पूर्ण हो अर्थात् जो ज्ञान समस्त पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एक ही समय में एक ही साथ जानता है उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। यह सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान रूप है। जो ज्ञान सब द्रव्यों तथा उनकी सब त्रैकालिक पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानता है वह **केवलज्ञान** कहलाता है। यह केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्व पदार्थगत और लोकालोक में अन्धकार रहित होता है। यह ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष होता है अर्थात् आत्मा की पूर्ण विशुद्धता होने पर यह ज्ञान प्रकट होता है। इसमें इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं होती है। यह पूर्णत: निर्मल और अतीन्द्रिय ज्ञान है। यह कर्मों के क्षय से होता है। इसको प्राप्त करने वाला महापुरुष केवली या सर्वज्ञ कहलाता है। जिस महापुरुष को सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है वह पूर्ण ज्ञाता हो जाता है।

जैनदर्शन में **सर्वज्ञता** का विशिष्ट स्थान है किन्तु चार्वाक और मीमांसक ये दो ही दर्शन ऐसे हैं जो सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते, शेष सभी भारतीय दर्शन सर्वज्ञता को सप्रमाण स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक और आगम ग्रंथों में सर्वज्ञता का विस्तृत विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व–प्रज्ञापनाधिकार में विश्लेषणात्मक ढंग से सर्वज्ञता की सिद्धि की है। इसके पश्चात् इनके उत्तरवर्ती महान् दार्शनिक आचार्य श्री समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्दि आदि ने अनेक पुष्ट प्रमाणों और तर्कों के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि की है। मीमांसा दर्शन के लिए तो सर्वज्ञता का विषय बहुत ही विवादास्पद रहा है। इस दर्शन ने सर्वज्ञता के निषेध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं; किन्तु जैन दार्शनिकों ने उन तर्कों का खण्डन बड़ी युक्तियों से करते हुए सर्वज्ञता की सिद्धि में अपनी विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है।

2.2 परोक्ष प्रमाण—

अस्पष्ट अथवा अविशद ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाशादि पर साधनों की अपेक्षा रहती है वह परोक्ष कहलाता है। वास्तव में जो ज्ञान स्व–पर प्रकाशक या स्व–पर का निश्चायक होते हुए भी अस्पष्ट होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहा गया है।

जैनदर्शन में जिस इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहा गया है उस ज्ञान को जैनेतर दर्शनों में अथवा लोक में प्रत्यक्ष कहा गया है और जिस इन्द्रिय निरपेक्ष या इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को जैनदर्शन में प्रत्यक्ष कहा गया है उस ज्ञान को जैनेतर दर्शनों में अथवा लोक में परोक्ष कहा गया है। वस्तुत: 'परोक्ष' शब्द से तो यही अर्थ प्रतीत होता है कि जो ज्ञान इन्द्रियादि पर की अपेक्षा से होता है वह परोक्ष प्रमाण है। इस विषय का समन्वयात्मक विश्लेषण आचार्य श्री अकलंक देव ने अपने ही ढंग से किया है।

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं——स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

2.2.1 स्मृति—संस्कार का उद्बोध होने पर स्मृति उत्पन्न होती है अर्थात् धारणा रूप संस्कार के जागृत होने पर स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान किसी भी प्रमाण से पहले जाने हुए पदार्थ को ही जानता है और तत् (वह) इस प्रकार से उसका उल्लेख किया जाता है। मतलब यह है कि धारणा नाम के संस्कार से होने वाले और 'तत्' (वह) इस प्रकार से उल्लेखी ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे–वह देवदत्त। किसी व्यक्ति ने पहले देवदत्त नामक व्यक्ति को देखा और उसने उसके सम्बन्ध में धारणा कर ली। बाद में धारणा रूप संस्कार उद्बुद्ध हुआ और उसे स्मरण आया कि वह देवदत्त

है। इस प्रकार पहले जानी हुई वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते हैं। यद्यपि स्मरण का विषयभूत पदार्थ सामने नहीं है, फिर भी वह हमारे पूर्व अनुभव का विषय तो था ही और उस अनुभव का दृढ़ संस्कार हमें सादृश्य आदि अनेक निमित्तों से उस पदार्थ को मन में अंकित कर देता है। स्मरण के कारण ही समस्त लोक व्यवहार चलता है।

बौद्ध, मीमांसकादि दर्शन स्मृतिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते। उनका कथन है कि गृहीतग्राही और अर्थ से अनुत्पन्न होने के कारण स्मृतिज्ञान प्रमाण नहीं है पर उनकी यह मान्यता लोक व्यवहार में बाधक है तथा स्मृति को प्रमाण माने बिना अनुमान प्रमाण भी नहीं बनेगा क्योंकि वह व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है। लेन-देन आदि के लौकिक व्यवहार भी स्मृति की प्रमाणता के बिना बिगड़ जाएँगे अतः स्मृति की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है।

2.2.2 प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो संकलनात्मक या जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह वही देवदत्त है, गवय गौ के समान होता है, भैंस गौ से विलक्षण होती है, यह उससे दूर है, इत्यादि जितने भी इस तरह के जोड़ रूप ज्ञान होते हैं वे सब प्रत्यभिज्ञान हैं। इन उदाहरणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामने देवदत्त को देखकर पहले देखे हुए देवदत्त का स्मरण आने से यह ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है। इस ज्ञान के होने में प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों कारण होते हैं तथा यह ज्ञान पहले देखे हुए देवदत्त में और वर्तमान में सामने विद्यमान देवदत्त में रहने वाले एकत्व को विषय करता है इसलिए इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। किसी मनुष्य ने गवय नाम का पशु देखा, देखते ही उसे पहले देखी हुई गौ का स्मरण हुआ, इसके पश्चात् 'गौ के समान यह गवय है' ऐसा ज्ञान होता है। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस देखकर गौ का स्मरण हो आने पर 'भैंस गौ से विलक्षण होती है' इस प्रकार से होने वाला यह ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी तरह प्रत्यक्ष और स्मरण के विषयभूत पदार्थों में परस्पर की अपेक्षा को लिये हुए जितने भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं, जैसे—यह उससे दूर है, यह उससे पास है, यह ऊँचा है या यह उससे नीचा है आदि, ये सब प्रत्यभिज्ञान हैं।

नैयायिक सादृश्य को जानने वाले उपमान नामक प्रमण को अलग मानते हैं; किन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर तो एकता, विलक्षणा आदि को जानने वाले प्रमाण भी अलग-अलग मानने पड़ेंगे। कई लोग प्रत्यभिज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते, पर एकता और सदृशता दूसरे किसी भी प्रमाण से नहीं जानी जाती, अतएव उसे पृथक् प्रमाण मानना ही चाहिए।

2.2.3 तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं अर्थात् उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाला, त्रिकालसम्बन्धी व्याप्ति को जानने वाला, 'यह उसके होने पर ही होता है, इसके अभाव में नहीं होता है' इत्यादि आकार वाला ज्ञान तर्क है। इसके चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि नामान्तर भी हैं। जैसे-अग्नि के होने पर धूम होता है अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता।

जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह अविनाभाव सम्बन्ध त्रैकालिक होता है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निर्णय होता है उसे तर्क कहते हैं। तर्कज्ञान उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होता है। धूम और अग्नि को एक साथ देखना उपलम्भ है और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव जानना अनुपलम्भ है। बार-बार उपलम्भ और बार-बार अनुपलम्भ होने से व्याप्ति का ज्ञान (तर्क) उत्पन्न हो जाता है।

नैयायिकादि तर्क को भी प्रमाण नहीं मानते किन्तु यदि तर्क ज्ञान को प्रमाण न माना जाए तो अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तर्क से धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर ही धूम से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है अतएव अनुमान को प्रमाण मानने वाले उक्त सभी दार्शनिकों को तर्क को भी प्रमाण मानना चाहिए।

2.2.4 अनुमान—साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। साधन को लिंग और साध्य को लिंगी भी कहते हैं अतः ऐसा भी कह सकते हैं कि लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। लिंग अर्थात् चिह्न और लिंगी अर्थात् उस चिह्न वाला। जैसे——धूम से अग्नि को जान लेना अनुमान है। यहाँ धूम साधन अथवा लिंग है और अग्नि साध्य अथवा लिंगी है। अग्नि का चिह्न धूम है। कहीं धुआँ उठता दिखाई दे तो ग्रामीण लोग भी धुएँ को देखकर यह अनुमान कर लेते हैं कि वहाँ आग जल रही है; क्योंकि बिना आग के धुआँ नहीं उठ सकता अतः ऐसे किसी अविनाभावी चिह्न को देखकर उस चिह्न वाले को जान लेना अनुमान है। लिंगग्रहण और व्याप्तिस्मरण के अनु—— पश्चात् या पीछे होने वाला, मान——ज्ञान अनुमान कहलाता है।

साधन ऐसा होना चाहिए जो साध्य का अविनाभावी रूप से सुनिश्चित हो अर्थात् साध्य के होने पर ही हो और साध्य के न होने पर न हो। ऐसा साधन ही साध्य की ठीक प्रतीति करता है इसीलिए श्री अकलंक देव ने साधन को 'साध्याविनाभावाभिनिबोधक लक्षण' कहा है अर्थात् साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधन का प्रधान लक्षण है। इसी को हेतु भी कहते हैं। अन्यथानुपपत्ति भी इसी का नाम है। अन्यथा अर्थात् साध्य के अभाव में साधन की 'अनुपपत्ति' अर्थात् अभाव को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। अविनाभाव भी वही कहलाता है, अविनाभाव का पदच्छेद (अ + विना + भाव) पूर्वक इस प्रकार अर्थ किया जा सकता है——अविनाभाव अर्थात् (विना / यानि साध्य के अभाव में, अ यानि साधन का न, भाव यानी होना अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का न होना अविनाभाव है। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति, व्याप्ति——ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं और सहभाव नियम तथा क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं। यह अविनाभाव ही अनुमान का मूलाधार है। सहभावी रूप, रसादि तथा वृक्ष और शिंशपा आदि व्याप्य–व्यापक भूत पदार्थों में सहभाव नियम होता है। नियतपूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती कृत्तिकोदय और शकटोदय में तथा कार्य–कारणभूत अग्नि और धूम आदि में क्रमभाव नियम होता है अतः जो साध्य के अभाव में न रहता हो और साध्य के सद्भाव में ही रहता हो वही साधन सच्चा साधन या हेतु है। वही साध्य की सिद्धि करने में समर्थ है। ऐसे साधन से ही साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन में अनुमान के लक्षण के साथ हेतु का निर्दोष लक्षण किया गया है।

2.3 हेतु–लक्षण——

जैनदर्शनमान्य हेतु के उक्त लक्षण के विषय में जैनेतर दार्शनिकों के विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं। इस विषय में बौद्धों का कहना है कि हेतु का जो 'साध्याविनाभाव' लक्षण किया गया है, वह ठीक नहीं है। हेतु का एक लक्षण नहीं है, किन्तु उसके तीन लक्षण हैं——1. पक्षधर्मत्व, 2. सपक्षसत्व और 3. विपक्षव्यावृत्ति। हेतु को पक्ष का धर्म होना चाहिए, सपक्ष में रहना चाहिए और विपक्ष में नहीं ही रहना चाहिए। जिसमें ये तीनों लक्षण पाये जाते हैं, वही हेतु सम्यक् हेतु है। जैसे इस पर्वत में अग्नि है; क्योंकि यह धूम वाला है। जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है, जैसे रसोईघर। और जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे तालाब। इस अनुमान में 'पर्वत' पक्ष है। 'अग्नि' साध्य है, 'धूमवाला' हेतु है, रसोईघर सपक्ष है और तालाब विपक्ष है। जहाँ साध्य की सिद्धि की जाती है उसे पक्ष कहते हैं। जैसे ऊपर के अनुमान में पर्वत में अग्नि सिद्ध करता है अतः पर्वत पक्ष है जहाँ साधन के सद्भाव से साध्य का सद्भाव दिखाया जाये उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे–रसोईघर। जहाँ साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव दिखाया जावे उसे विपक्ष कहते हैं, जैसे तालाब। ऊपर के अनुमान में धूमवत्व हेतु पर्वत (पक्ष) में रहता है, सपक्ष रसोईघर में भी रहता है, किन्तु विपक्ष तालाब में नहीं रहता। अतः वह निर्दोष हेतु है। हेतु के पक्ष में रहने से असिद्धता नाम का दोष नहीं रहता, सपक्ष में रहने से विरुद्धता नाम का दोष नहीं रहता और विपक्ष में न रहने से अनैकान्तिक नाम का दोष नहीं रहता। यदि हेतु पक्ष में न रहे तो असिद्धता दोष दूर नहीं हो सकता, यदि हेतु सपक्ष में न रहे तो विरुद्धता दोष दूर नहीं हो सकता और

यदि हेतु विपक्ष में भी रहता है तो अनैकान्तिक दोष दूर नहीं हो सकता अतः 'त्रैरूप्य' ही हेतु का लक्षण ठीक है।

किन्तु त्रैरूप्य हेतु के लक्षण का निराकरण करते हुए जैनदर्शन का मत है कि हेतु का लक्षण पक्षधर्मत्व आदि त्रैरूप्य नहीं है; क्योंकि त्रैरूप्य तो सदोष हेतुओं में भी पाया जाता है। जैसे यदि अग्नि का लक्षण 'सत्त्व' किया जाय तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि सत् तो प्रत्येक पदार्थ होता है। इसी तरह पक्षधर्मत्व आदि त्रैरूप्य हेत्वाभास (सदोष हेतु) में भी रह जाता है अतः त्रैरूप्य हेतु का लक्षण ठीक नहीं है किन्तु 'साध्याविनाभाव' या अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का समीचीन लक्षण है, बौद्धकल्पित त्रैरूप्य हेतु का लक्षण समीचीन नहीं है। इसी से आचार्य पात्रकेसरी ने उक्त त्रिलक्षण या त्रैरूप्य का कदर्थन (खण्डन) करने के लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नाम का ग्रंथ रचा था और इसी ग्रंथ में उन्होंने कहा है कि 'जहाँ अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव है वहाँ त्रैरूप्य या त्रिरूपता से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् त्रैरूप्य मानने से कोई लाभ नहीं और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता होने से भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसका होना या न होना दोनों ही बराबर हैं।

2.3.1 नैयायिकों के मतानुसार हेतु का लक्षण-

नैयायिकों ने बौद्धों के त्रैरूप्य की तरह पाँचरूप्य को हेतु का लक्षण माना है। वे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अवाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इस प्रकार पंच रूप वाला हेतु मानते हैं। उनका कहना है कि हेतु का पक्ष में रहना, समस्त सपक्षों में या किसी एक सपक्ष में रहना, किसी भी विपक्ष में नहीं पाया जाना, प्रत्यक्षादि से साध्य का बाधित नहीं होना और तुल्यबल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु का नहीं होना ये पाँच बातें प्रत्येक सद् हेतु के लिए नितान्त आवश्यक हैं किन्तु जैनदर्शन के अनुसार हेतु का यह पाँचरूप्य लक्षण भी ठीक नहीं है। हेतु के इन पाँच लक्षणों में से पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन का तो खण्ड किया जा चुका है, अब शेष हैं—अवाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इन दोनों का भी जैनदर्शन निराकरण करता है। अन्यथानुपपत्ति अथवा साध्याविनाभाव नियम के बिना न तो हेतु अबाधित विषय होता है और न असत्प्रतिपक्ष होता है। 'अबाधित' विषय का अर्थ होता है–हेतु का साध्य किसी प्रमाण से बाधित नहीं। जैसे–अग्नि ठण्डी होती है; क्योंकि द्रव्य है, जैसे जल। इस अनुमान में अग्नि का ठण्डापन साध्य है किन्तु यह साध्य प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है; क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण सिद्ध है अतः यह बाधित विषय है; क्योंकि 'जो जो द्रव्य हो वह–वह ठण्डा हो' ऐसा कोई अविनाभाव नियम नहीं है। द्रव्य ठण्डे भी होते हैं और गरम भी होते हैं अतः अविनाभाव के अभाव के बिना कोई हेतु बाधित विषय नहीं हो सकता। बाधित विषय और अविनाभाव का परस्पर में विरोध है। साध्य के सद्भाव में ही हेतु का पक्ष में रहना अविनाभाव है और साध्य के अभाव में हेतु का रहना बाधित विषय है। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है—जिसका कोई प्रतिपक्ष न हो। जैसे—किसी ने कहा कि यह जगत् किसी बुद्धिमान का बनाया हुआ है; क्योंकि कार्य है। दूसरे ने कहा—यह जगत् किसी का बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि उसका कोई कर्ता नहीं है। यह सत्प्रतिपक्ष है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि असत्प्रतिपक्षता से तुल्य बल वाले प्रतिपक्ष का निषेध इष्ट है अथवा अतुल्य बल वाले प्रतिपक्ष का निषेध इष्ट है ? यदि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों समान बल वाले हों तो उनमें बाध्य–बाधक भाव नहीं हो सकता; क्योंकि जो समान बल वाले होते हैं उनमें बाध्य–बाधक भाव नहीं होता, जैसे समान बलशाली दो राजाओं में। यदि पक्ष और प्रतिपक्ष अतुल्य बल वाले हैं तो उनके अतुल्य बल होने का कारण क्या है—एक में पक्षधर्मता वगैरह का होना और एक में उनका न होना अथवा अनुमान बाधा ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधर्मता आदि दोनों अनुमानों में पायी जाती है। जैसे—एक ने कहा—'यह मनुष्य मूर्ख है; क्योंकि अमुक–का पुत्र है।' दूसरे ने कहा–'यह मनुष्य मूर्ख नहीं है; क्योंकि शास्त्र का व्याख्यान करता है।' इन दोनों अनुमानों में पक्षधर्मता आदि पाई जाती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जब दोनों अनुमानों में पक्षधर्मता आदि पाई जाती है तो उसमें से एक बाधित और एक बाधक नहीं हो सकता, अन्यथा दोनों में से कोई भी बाध्य और कोई भी बाधक हो जाएगा तथा अन्योन्याश्रय नाम का दोष भी आता है–क्योंकि जब दोनों अनुमान अतुल्य बल सिद्ध हों तो

अनुमान बाधा आए और जब अनुमान बाधा हो तो अतुल्यबलत्व सिद्ध हो अतः हेतु का लक्षण अविनाभाव नियम निश्चय ही मानना चाहिए।

2.3.2 जैनदर्शन में हेतु का रूप—

जैनदर्शन में हेतु का एक रूप ही माना है और वह है अविनाभाव नियम। उसका कहना है कि जब तीन अथवा पाँच रूपों के नहीं होने पर भी कुछ हेतु गमक हो सकते हैं तो अविनाभाव नियम को ही हेतु का लक्षण मानना चाहिए, तीन या पाँच रूप तो अविनाभाव का ही विस्तार है।

इस प्रकार हेतु का पाँच रूप वाला लक्षण ठीक नहीं है अतएव आचार्य श्री विद्यानन्द ने आचार्य श्री पात्रकेसरी के त्रैरूप्य के खण्डन की तरह नैयायिकों के उक्त पाँच रूप्य का खण्डन करते हुए कहा है—'जहाँ (कृतिकोदय आदि हेतुओं में) अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभाव है वहाँ पंच रूपों से क्या लाभ ? पंचरूप न भी हों तो भी कोई हानि नहीं और जहाँ (मैत्री–तनयत्व आदि हेतुओं में) पंचरूप है और अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वहाँ पंच रूप मानने से क्या लाभ ? वे व्यर्थ हैं।

इसी प्रकार इन त्रैरूप्य और पाँचरूप्य हेतु लक्षणों के अतिरिक्त भी कुछ दार्शनिक द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और षड्लक्षण आदि हेतु लक्षणों को स्वीकार करते हैं, तर्क ग्रंथों में उल्लेख पाया जाता है, किन्तु हेतु लक्षणों की ये मान्यताएँ ठीक नहीं हैं, इनका तर्कपूर्ण ढंग से सहज ही में निराकरण किया जा सकता है।

2.4 आगम प्रमाण—

परोक्ष प्रमाण का अन्तिम भेद आगम प्रमाण है। जैन आगमिक परम्परा में इसका प्राचीन नाम 'श्रुत' है अतः श्रुतज्ञान या शब्द ज्ञान को आगम कहते हैं। आप्तवचन या द्रव्य श्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव में आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

जैनदर्शन के अनुसार आप्त के वचनादि के निमित्त से होने वाले पदार्थ ज्ञान को आगम कहते हैं। कर्मों के विनाशक, वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी आत्मा के वचनों से तथा हाथ की अँगुली आदि की संज्ञाओं, संकेतों आदि से होने वाले द्रव्य, गुण और पर्यायों के ज्ञान को आगम प्रमाण कहते हैं। व्यवहार में भी 'यो यत्रावंचकः सः तत्राप्तः' अर्थात् जो जहाँ अवंचक है वह वहाँ आप्त है, इस व्याख्यान के अनुसार अविसंवादी, अवंचक और प्रामाणिक पुरुष के वचनों को सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह भी आगम की मर्यादा में आता है इसीलिए आचार्य श्री अकलंकदेव ने आप्त का व्यापक अर्थ करते हुए कहा है कि जो जिस विषय में अविसंवादक है, वह उस विषय में आप्त है, उससे भिन्न अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषय में अविसंवादकता या अवंचकता का होना आवश्यक है इसलिए व्यवहार में अवंचक आप्त या प्रामाणिक पुरुष के द्वारा किये गये कथन का ज्ञान भी आगम प्रमाण ही माना जाएगा। इसी दृष्टि से आप्त के दो भेद किये गये हैं—1. लौकिक आप्त और 2. लोकोत्तर आप्त। लोक व्यवहार में माता–पिता आदि प्रामाणिक पुरुष लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेष्टा सर्वज्ञ तीर्थंकर, गणधर आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं। इस प्रकार आप्त वचन को आगम कहा गया है।

2.5.1 मीमांसा दर्शन सर्वज्ञ को नहीं मानता—उसके अनुसार कोई भी पुरुष कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता किन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि आप्तोक्त होने से ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वैशेषिक और बौद्ध दर्शन आगम ज्ञान या शब्द प्रमाण को भी अनुमान का ही रूप मानते हैं। जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं क्योंकि पूर्व अभ्यास की स्थिति में शब्द–ज्ञान व्याप्ति निरपेक्ष होता है। एक व्यक्ति खोटे–खरे सिक्के को जानने वाला है, वह उसे देखते ही पहचान लेता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नहीं होती। यही बात शब्दज्ञान के लिए

है। शब्द सुनते ही सुनने वाला समझ जाता है, वह अनुमान नहीं होता। शब्द सुनने पर उसका अर्थबोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पड़े तो वह अवश्य अनुमान होगा, शब्द नहीं। प्रत्यक्ष के लिए भी यही बात है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'यह अमुक होना चाहिए' ऐसा विकल्प बने तब यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, आगम व्याप्ति निरपेक्ष होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत नहीं आता।

जैनदर्शन के अनुसार आगम स्वत: प्रमाण, पौरुषेय और आप्तप्रणीत होता है।

2.5 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं ?

(क) 2 ☐
(ख) 4 ☐
(ग) 8 ☐

प्रश्न 2-अवधिज्ञान के दो भेदों में से एक-

(क) विकल प्रत्यक्ष ☐
(ख) सकल प्रत्यक्ष ☐
(ग) गुणप्रत्यय ☐

प्रश्न 3-जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसे क्या कहते हैं ?

(क) अवधिज्ञान ☐
(ख) मन:पर्ययज्ञान ☐
(ग) मुख्य प्रत्यक्ष ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2-परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं तथा इसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 3-प्रत्यभिज्ञान की परिभाषा उदाहरण सहित बताओ ?

प्रश्न 4-तर्क और अनुमान में भेद निरूपित कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनदर्शन के अनुसार आगमप्रमाण की विस्तृत परिभाषा बताइए ?

पाठ-3 – नय व्यवस्था

3.1 नय का स्वरूप—

जैनाचार्यों ने तत्त्वाधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नय का भी उल्लेख किया है; क्योंकि नय के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होता है। नय के स्वरूप को जानने के लिए उसके व्युत्पत्तिपरक लक्षणों को समझना अत्यावश्यक है अतः सर्वप्रथम उसके व्युत्पत्तिपरक लक्षणों का विवेचन किया जाता है।

'नय' शब्द 'णी' प्रापणे धातु से कृदन्त का 'अच्' प्रत्यय लगाने पर सिद्ध होता है, जिसकी व्युत्पत्ति कर्तृ–वाच्य में 'नयति प्राप्नोति, जानाति वस्तु स्वरूपं यः सः नयः' इस रूप से और कर्म वाच्य में 'नीयते, गम्यते, परिच्छिद्यते, ज्ञायतेऽनेन येन वा अर्थः सः नयः' इस रूप से की जाती है।

3.1.1 विभिन्न आचार्यों द्वारा नय विषयक परिभाषाएँ—

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने 'नय' शब्द का कर्तृवाच्यपरक व्युत्पत्ति का उल्लेख करते हुए उसका विश्लेषण किया है; 'अनेक गुण और पर्यायों सहित अथवा उनके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान कराता है, उसे नय कहते हैं। नय किसी विवक्षित धर्म द्वारा ही द्रव्य का बोध कराता है अथवा जो अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का ज्ञान कराता है वह नय है।

आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने भी 'नय' की व्युत्पत्ति कर्तृवाच्य में की है 'जो नाना स्वभावों से हटाकर एक स्वभाव में वस्तु को ले जाता है, प्राप्त कराता है, उसे स्थापित कराता है या उसका ज्ञान कराता है, उसे नय कहते हैं' अर्थात् अनेक गुण–पर्यायात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म की मुख्यता से निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी 'नय' शब्द की कर्तृवाच्यपरक अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं।

आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी ने 'नय' शब्द की कर्मवाच्यपरक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है; जो श्रुतप्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ के किसी एक अंश या धर्म का कथन करता है वह नय है।

इसी प्रकार श्री मल्लिषेण सूरि और श्री वादिदेव सूरि ने भी कर्मवाच्यपरक व्युत्पत्तियाँ की हैं।

श्रुतज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का वह अभिप्राय नय कहलाता है अर्थात् श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है तब वस्तु में रहे हुए शेष धर्मों को गौण कर देता है। इस प्रकार केवल एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने श्रुतज्ञान का 'स्याद्वाद' शब्द से निर्देश करते हुए स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक पदार्थ के धर्मों का अलग–अलग कथन करने वाले ज्ञान को नय कहा है।

श्रुतप्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को भी नय कहा गया है; क्योंकि श्रुतज्ञान में ही नय रूप अंश या भेद होते हैं।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने नय सामान्य का लक्षण करते हुए कहा है—'प्रमाण से गृहीत, अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनन्तधर्मात्मक जीवादि पदार्थों के जो विशेष धर्म हैं, उनका निर्दोष कथन करना नय कहलाता है।

यह नय प्रमाण सापेक्ष होता है इसीलिए आचार्य श्री विद्यानन्द ने प्रमाण के विषयभूत 'स्व' और 'पर' यानि पदार्थ के एकदेश या अंश का जिसके द्वारा निर्णय किया जावे उसे नय कहा है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण से जानी गयी वस्तु के एकदेश में वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। प्रमाण से गृहीत वस्तु में जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयमूलक है अतः समस्त व्यवहार नय के आधीन है।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने 'अनेक धर्मात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहा है।

आचार्य श्री अमृचन्द्र ने 'प्रमाण के द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप वाली अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान' को नय कहा है।

श्री माइल्ल धवल ने भी 'श्रुतज्ञान का आश्रय लिये हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है उसे नय कहा है।

यह नय श्रुतज्ञान का भेद है इसलिए श्रुत के आधार से ही नय की प्रवृत्ति होती है। श्रुत प्रमाण होने से वस्तु के सभी धर्मों को जानने वाला है और नय वस्तु के अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला है। इसी से नय विकल्प रूप है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गये अर्थ का अंश जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे नय कहते हैं।

आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने भी 'नित्यानित्य, एकानेक, सदसदादि परस्पर विरोधी अनेक धर्मों वाली वस्तु के विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए उस वस्तु के किसी एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है।

आचार्य श्री यतिवृषभ ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहकर ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा है।

इसी प्रकार के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए श्वेताम्बर आचार्य श्री यशोविजयगणी ने भी 'श्रुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एकदेश या धर्म को ग्रहण करने वाले किन्तु उस गृहीत धर्म से इतर धर्मों का निषेध न करने वाले अभिप्राय विशेष को नय कहा है।'

3.1.2 अनेकात्मात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है—

उक्त सभी आचार्यों की नयविषयक परिभाषाओं के कथन का निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि धर्मस्वरूप है अतः वह अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक कही जाती है और इसीलिए जैनदर्शन को भी अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है।

वस्तु न सर्वथा सत् ही है, न सर्वथा असत् ही, न सर्वथा नित्य ही है, न सर्वथा अनित्य ही, न सर्वथा एक ही है, न सर्वथा अनेक ही, न सर्वथा भेदरूप ही है, न सर्वथा अभेद रूप ही, न सर्वथा सामान्य रूप ही है, न सर्वथा विशेष रूप ही किन्तु दृष्टिभेद से या कथंचित् या किसी अपेक्षा से सत् है तो किसी अपेक्षा से असत्, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य, किसी अपेक्षा से सामान्य रूप है तो किसी अपेक्षा से विशेष रूप, किसी अपेक्षा से वाच्य है तो किसी अपेक्षा से अवाच्य। इस प्रकार परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सत्-असत् आदि धर्मों का तादात्म्यरूप ही वस्तु है। यह अनेकान्तात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है। यह प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को समग्र भाव से ग्रहण करता है इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी कहा गया है किन्तु इस अनन्त धर्म वाली वस्तु के किसी एक धर्म की मुख्यता से वक्ता अपने अभिप्रायानुसार कथन करता है। जैसे — देवदत्त व्यक्ति किसी का पिता और किसी का पुत्र है, किसी का मामा और किसी का भानजा है। इस प्रकार अपने नाना सम्बन्धियों की अपेक्षा से वह नाना सम्बन्ध वाला है किन्तु उन नाना सम्बन्धों में से पुत्रत्व धर्म की विवक्षा से उसका पिता उसे पुत्र कहता है, पितृत्व धर्म की विवक्षा से उसका पुत्र उसे पिता कहता है, मातुलत्व धर्म की अपेक्षा से उसका भानजा उसे मामा कहता है और भगिनेयत्व धर्म की विवक्षा से उसका मामा उसे भानजा कहता है। इस तरह विवक्षा भेद से जो वस्तु के एक धर्म का कथन किया जाता है वह नय है। नय वस्तु के किसी एक विवक्षित धर्म का ग्राहक है अर्थात् उसका ज्ञान कराने वाला है इसीलिए नय को विकलादेशी कहा गया है। समस्त लोकव्यवहार नयाधीन है; क्योंकि ज्ञाता पूर्ण वस्तु को जानकर भी अपने अभिप्राय के अनुसार उसका कथन करता है। इसी से ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं और प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। नय ज्ञान ज्ञाता के अभिप्राय से सम्बन्ध रखता है। उसमें ज्ञाता के अभिप्रायानुसार वस्तु

प्रतिबिम्बित होती है अतः ज्ञाता का वह अभिप्राय–विशेष नय है, जो प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एकदेश को स्पर्श करता है। जो प्रमाण द्वारा निश्चित किये गये अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक–एक अंग का ज्ञान मुख्यता से कराता है, वह नय है। नय वस्तु का सापेक्ष निरूपण करता है। इसी से नय सापेक्ष होने पर ही सम्यक् कहे जाते हैं; क्योंकि प्रत्येक नय दृष्टिभेद से वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करता है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म की अपेक्षा से उसके अन्य धर्मों का निषेध न करते हुए किन्तु उनको गौण करते हुए उस वस्तु का विवेचन करना नय है। नय किसी वस्तु में अपने अपेक्षित धर्म को सिद्ध करते हुए अन्य धर्मों में उदासीन होकर उस वस्तु का विवेचन करता है। अतः अनेकान्तात्मक वस्तु का जिस धर्म की विवक्षा से वक्ता कथन करता है उसके उसी अभिप्राय को जानने वाले ज्ञान को नय कहा जाता है। वस्तु में अनन्त धर्म हैं इसलिए उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं और इसीलिए अवयव के ज्ञानरूप नय भी अनन्त हो सकते हैं। यह नय व्यवस्था प्रमाण में ही होती है अप्रमाण में नहीं, दूसरी बात यह है कि नय हमेशा प्रमाण का अंशरूप ही रहता है, पूर्ण रूप नहीं। यदि अप्रमाण में भी नय व्यवस्था मान ली जाए तो किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है और सर्वत्र अव्यवस्था या अनवस्था उपस्थित हो जाएगी।

3.2 प्रमाण और नय में अन्तर—

प्रमाण और नय दोनों ज्ञान ही हैं अर्थात् जितना भी समीचीन ज्ञान है, वह प्रमाण और नय दो भागों में बंटा हुआ है परन्तु उन दोनों में अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण सर्व अंशों का। प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश या धर्म का ज्ञान कराता है।

आचार्य श्री सिद्धसेन ने कहा है; 'अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रमाण स्वरूप ज्ञान का विषय है और उन अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु नय का विषय माना गया है।

वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय तब वह नय है। जैसे–नित्यानित्यात्मक वस्तु में नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीपादि वस्तुएँ नित्य हैं' ऐसा निश्चय करना नय है और अनेक धर्म द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय, जैसे नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्मों द्वारा 'आत्मा या प्रदीपादि वस्तुएँ नित्यानित्यादि अनेक रूप हैं 'ऐसा निश्चय करना करना प्रमाण है अथवा दूसरे शब्दों में यह समझना चाहिए कि 'नय' यह प्रमाण का एक अंशमात्र है और 'प्रमाण' यह अनेक नयों का समूह है; क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण उसे अनेक दृष्टियों से ग्रहण करता है।

अंश–अंशी या धर्म–धर्मी का भेद किये बिना वस्तु का जो अखण्ड ज्ञान होता है, वह प्रमाण ज्ञान है तथा धर्म–धर्मी का भेद करके किसी एक धर्म द्वारा वस्तु का जो ज्ञान होता है, वह नय ज्ञान है।

3.2.1 चार ज्ञान मूक और एक ज्ञान अमूक है—

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान–ये चार ज्ञान मूक हैं अतः ये धर्म–धर्मी का भेद किये बिना वस्तु को जानते हैं इसलिए ये सब के सब प्रमाण ज्ञान हैं और श्रुतज्ञान अमूक है अतएव विचारात्मक होने से उसमें कभी धर्म–धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है और कभी धर्म–धर्मी का भेद होकर वस्तु का बोध होता है। जब–जब धर्म–धर्मी का भेद किये बिना वस्तु प्रतिभासित होती है तब–तब वह श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान कहलाता है और जब–जब उसमें धर्म–धर्मी का भेद होकर किसी एक धर्म द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तब–तब वह नय ज्ञान कहलाता है। इसी कारण से नयों को श्रुतज्ञान का भेद कहा गया है। उदाहरणार्थ—'जीव है', ऐसा मन का विकल्प प्रमाण ज्ञान है। यद्यपि जीव का व्युत्पत्त्यर्थ 'जो जीता है, वह जीव है' —इस प्रकार होता है तथापि जिस समय 'जीव' है', यह विकल्प मन में आया उस समय विकल्प द्वारा 'जो चेतनादि अनन्त गुणों का पिण्ड है' वह पदार्थ समझा गया इसलिए यह ज्ञान 'प्रमाण ज्ञान' ही है; तथा नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा नित्य है' ऐसा मन का विकल्प नय ज्ञान है; क्योंकि यहाँ धर्म–धर्मी

का भेद होकर एक धर्म द्वारा धर्मी का बोध हुआ। इसी प्रकार इन्द्रिय और मन की सहायता से या इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो पदार्थ का ज्ञान होता है, वह सबका सब प्रमाण ज्ञान है किन्तु उसके बाद उस पदार्थ के विषय में उसकी विविध अवस्थाओं की अपेक्षा क्रमशः जो विविध मानसिक विकल्प होते हैं वे सब नय ज्ञान हैं। नय ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है। नय से अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है और जो बोध होता है वह यथार्थ होता है।

3.2.2 प्रमाण ज्ञान—

प्रमाण ज्ञान अनन्त धर्म वाली वस्तु को समग्र भाव से ग्रहण करता है, उसमें अंश विभाजन करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे—अयं घटः' 'यह घड़ा है', इस ज्ञान में प्रमाण घड़े को अखण्ड भाव से उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा कनिष्ठ–ज्येष्ठ आदि अनन्त गुण धर्मों का विभाग न करके पूर्ण रूप में जानता है, जबकि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः' 'रसवान् घटः' आदि रूप में उसे अपने–अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है। प्रमाण और नय ज्ञान की ही वृत्तियाँ हैं। दोनों ज्ञानात्मक पर्याय हैं। जब ज्ञाता की सकल धर्मों को ग्रहण करने की दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान 'प्रमाण ज्ञान' कहलाता है और जब उसी प्रमाण से गृहीत वस्तु को खण्डशः ग्रहण करने का अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय 'नय' कहलाता है। प्रमाणज्ञान नय की उत्पत्ति के लिए भूमिका तैयार करता है।

जब ज्ञान पूरी वस्तु को ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है तथा जब वह उसी वस्तु के एक अंश को जानता है तब नय कहा जाता है। पर्वत के एक भाग द्वारा पूरे पर्वत का अखण्ड भाव से ज्ञान प्रमाण है और उसी अंश का ज्ञान नय है। अखण्ड वस्तुग्राही यथार्थ ज्ञान प्रमाण होता है, इस स्थिति में वस्तु को खण्डशः जानने वाला विचार नय। प्रमाण का चिह्न है 'स्यात्' और नय का चिह्न है 'सत्'। प्रमाणवाक्य को 'स्याद्वाद' कहा जाता है और नय वाक्य को 'सद्वाद'। वास्तविक दृष्टि से प्रमाण स्वार्थ होता है और नय पदार्थ और परार्थ दोनों। एक साथ अनेक धर्म कहे नहीं जा सकते इसलिए प्रमाण का वाक्य नहीं बनता। वाक्य बने बिना परार्थ कैसे बने ?

3.2.3 प्रमाणवाक्य से जो परार्थ बनता है, उसके दो कारण हैं—

(1) अभेदवृत्ति प्राधान्य।

(2) अभेदोपचार।

द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है अथवा केवल द्रव्य को विषय करने वाले नय के अनुसार द्रव्य के धर्मों में अभेद होता है और पर्यायार्थिक अर्थात् पर्याय या अवस्था ही जिसका प्रयोजन है अथवा केवल पर्याय या अवस्था को विषय करने वाले नय की दृष्टि से उनमें भेद होने पर भी अभेदोपचार किया जाता है। इन दो निमित्तों से वस्तु के अनन्त धर्मों को अभिन्न मानकर एक गुण की मुख्यता से जब अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन विवक्षित हो, तब प्रमाण वाक्य बनता है। जैनदर्शन में यह वाक्य सकलादेश कहा जाता है इसलिए इसमें वस्तु को विभक्त करने वाले अन्य गुणों की विवक्षा नहीं होती।

3.2.4 वस्तु प्रतिपादन के भेद—

वस्तु प्रतिपादन के दो प्रकार हैं—क्रम और यौगपद्य। इनके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं है। इनका आधार है—भेद और अभेद की विवक्षा। यौगपद्य—पद्धति प्रमाण वाक्य है। भेद की विवक्षा में एक शब्द एक काल में एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। यह अनुपचरित पद्धति है। यह क्रम की मर्यादा में परिवर्तन नहीं ला सकती इसलिए इसे विकलादेश कहा जाता है, जो नयाधीन है। विकलादेश का अर्थ है—निरंश वस्तु में गुण भेद से अंश की कल्पना करना। अखण्ड वस्तु में काल आदि की दृष्टि से विभिन्न अंशों की कल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण ज्ञात वस्तु भाग द्वारा सकल वस्तु को ग्रहण करता है जबकि नय उसके विकल अर्थात् एक अंश को ग्रहण

करता है। जैसे—आँख से घट के रूप को देखकर रूपमुखेन पूर्ण घट का ग्रहण करना 'सकलादेश' है और घट में 'रूप' है, इस रूपांश को जानना 'विकलादेश' है।

3.2.5 श्री वीरसेन स्वामी आदि अनेक आचार्यों द्वारा सकलादेश और विकलादेश का विश्लेषण-

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने सकलादेश और विकलादेश का विश्लेषण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने सकलादेश का विवेचन करते हुए कहा है—

'कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है, कथंचित् घट अवक्तव्य है, कथंचित् घट है और नहीं है, कथंचित् घट है और अवक्तव्य है, कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है, कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है, इस प्रकार ये सातों भंग सकलादेश कहे जाते हैं क्योंकि ये सातों सुनय वाक्य किसी एक धर्म को प्रधान करके साकल्यरूप से वस्तु का प्रतिपादन करते हैं इसलिए ये सकलादेश रूप हैं क्योंकि साकल्य रूप से जो पदार्थ का कथन करता है, वह सकलादेश कहा जाता है।

इससे आगे उन्होंने विकलादेश के स्वरूप का कथन किया है—

'घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्य रूप ही है, घट है ही और नहीं ही है, घट है ही और अवक्तव्य ही है, घट नहीं ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही, नहीं ही है और अवक्तव्य रूप ही है, इस प्रकार यह विकलादेश है क्योंकि ये सातों वाक्य एक धर्म विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं इसलिए ये विकलादेश रूप हैं।

जिस प्रकार सुनय वाक्यों से अर्थात् अनेकान्त के अवबोधक वाक्यों से श्रोता को प्रमाण ज्ञान ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार दुर्नय वाक्यों से अर्थात् एकान्त के अवबोधक वाक्यों से भी श्रोता को प्रमाण रूप ही ज्ञान होता है क्योंकि इन सातों दुर्नय वाक्यों से एकान्त को विषय करने वाला बोध नहीं होता है अर्थात् ये सातों वाक्य अर्थ का कथन एकान्त रूप ही करते हैं तथापि उनसे जो ज्ञान होता है वह अनेकान्त रूप ही होता है। यह विकलादेश नयाधीन है अर्थात् नय के वशीभूत है या नय से उत्पन्न होता है।

ठीक यही विवेचन आचार्य श्री अकलंकदेव, श्री प्रभाचन्द्र आदि ने भी किया है। इन सबने प्रमाण सप्तभंगी को सकलादेश स्वभाव वाला और नय सप्तभंगी को विकलादेश स्वभाव वाला कहा है क्योंकि ये दोनों प्रकार के सप्तभंगी अर्थात् प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी क्रम से प्रमाण और नय के अधीन होने के कारण सकलादेश और विकलादेश स्वभाव वाले हैं।

सकलादेश और विकलादेश के विषय में आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने भी कहा है—

'अनन्त धर्मात्मक वस्तु को कालादि के द्वारा अभेद की प्रधानता से अथवा अभेद का उपचार करके एक साथ प्रतिपादन करने वाला वचन सकलादेश कहलाता है; क्योंकि वह प्रमाण के अधीन है और वस्तु स्वरूप को भेद की प्रधानता से अथवा भेद के उपचार से क्रम से प्रतिपादन करने वाला वचन विकलादेश है क्योंकि वह नय के अधीन है।'

श्री वादिदेव सूरि ने 'प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मों वाली वस्तु को काल आदि के द्वारा अभेद की प्रधानता से अथवा अभेद के उपचार से एक साथ प्रतिपादन करने वाले वचन को सकलादेश और सकलादेश से विपरीत वाक्य को विकलादेश कहा है।

'वस्तु में अनन्त धर्म हैं', यह बात प्रमाण से सिद्ध है अतएव किसी भी एक वस्तु का पूर्णरूपेण प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि एक शब्द एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकता है। मगर ऐसा करने से लोकव्यवहार नहीं चल सकता है अतएव हम एक शब्द का प्रयोग करते हैं। वह एक शब्द मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है और शेष बचे हुए धर्मों को उस एक धर्म से अभिन्न मान लेते हैं। इस प्रकार एक शब्द से एक धर्म का प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होने के कारण शेष धर्मों का भी प्रतिपादन हो गया। इस उपाय से एक ही शब्द एक साथ अनन्त धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादक हो जाता है। इसी को सकलादेश कहते हैं।

3.3 शब्द द्वारा प्रतिपादित धर्म से शेष धर्मों का अभेद—

शब्द द्वारा साक्षात् रूप से प्रतिपादित धर्म से शेष धर्मों का अभेद काल आदि द्वारा होता है। काल आदि आठ हैं— 1. काल, 2. आत्मरूप, 3. अर्थ, 4. सम्बन्ध, 5. उपकार, 6. गुणी-देश, 7. संसर्ग, 8. शब्द।

जैसे—मान लीजिए, हमें अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद करना है तो वह इस प्रकार होगा—जीव में जिस काल में अस्तित्व धर्म है उसी काल में अन्य धर्म भी हैं अतः काल की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद है। इसी प्रकार शेष सात की अपेक्षा भी अभेद समझना चाहिए। इसी को अभेद की प्रधानता कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय को मुख्य और पर्यायार्थिक नय को गौण करने से अभेद की प्रधानता होती है। जब पर्यायार्थिक नय मुख्य और द्रव्यार्थिक नय गौण होता है तब अनन्त गुण वास्तव में अभिन्न नहीं हो सकते, अतएव उन गुणों में अभेद का उपचार करना पड़ता है। इस प्रकार अभेद की प्रधानता और अभेद के उपचार से एक साथ अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश कहलाता है तथा नय के विषयभूत वस्तुधर्म का काल आदि द्वारा भेद की प्रधानता अथवा भेद के उपचार से क्रम से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। सकलादेश में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता के कारण वस्तु के अनन्त धर्मों का अभेद किया जाता है और विकलादेश में पर्यायार्थिक नय कहता है–एक ही काल में, एक ही वस्तु में नाना धर्मों की सत्ता स्वीकार की जाएगी तो वस्तु भी नाना रूप ही होगी, एक ही रूप नहीं। इसी प्रकार नाना गुणों सम्बन्धी आत्मरूप भिन्न–भिन्न ही हो सकता है एक नहीं। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी समझना चाहिए।

श्वेताम्बर मुनि श्री यशोविजय गणी ने जिन काल आदि के आधार पर एक धर्म का अन्य धर्मों से अभेद या भेद किया जाता है, उनका विश्लेषण बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

(1) 'कथंचित् जीवादि वस्तु है ही' यहाँ जिस काल में जीवादि में अस्तित्व है उसी काल में उनमें शेष अनन्त धर्म भी हैं, यह काल से अभेद वृत्ति है।

(2) जीवादि का गुण होना, जैसे—अस्तित्व का आत्मस्वरूप है, उसी प्रकार अन्य अनन्त गुणों का भी यही आत्मरूप है, यह आत्मरूप से अभेद वृत्ति है।

(3) जो द्रव्यरूप अर्थ अस्तित्व का आधार है वही अन्य धर्मों का भी आधार है।

(4) जीवादि के साथ अभेद रूप जो सम्बन्ध अस्तित्व का है वही सम्बन्ध अन्य धर्मों का भी है। यह सम्बन्ध से अभेद वृत्ति है।

(5) अस्तित्व धर्म जीवादि का जो उपकार करता है—अपने से युक्त बनाता है, वही उपकार अन्य धर्म भी करते हैं, यह उपकार से अभेद वृत्ति है।

(6) अस्तित्व धर्म जीवादि में जिस देश में रहता है उसी में अन्य धर्म भी रहते हैं, यह गुणिदेश से अभेद वृत्ति है।

(7) अस्तित्व का जीवादि के साथ एक वस्तु रूप से जो संसर्ग है वही अन्य धर्मों का भी संसर्ग है, यह संसर्ग से अभेद वृत्ति है।

(8) 'अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मात्मक वस्तु का वाचक है वही अन्य अनन्त धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है, यह शब्द से अभेद वृत्ति है।

यह अभेद वृत्ति पर्यायार्थिक नय को गौण और द्रव्यार्थिक नय को मुख्य करने पर होती है।

3.3.1 जब द्रव्यार्थिक नय गौण और पर्यायार्थिक नय मुख्य होता है तब अभेद वृत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि—

(1) एक ही काल में एक वस्तु में नाना गुण सम्भव नहीं हैं। अगर सम्भव हों तो उससे आधारभूत वस्तु में भी भेद हो जाएगा।

(2) नाना गुणों सम्बन्धी आत्मरूप भिन्न-भिन्न होता है। अगर भिन्न न हो तो गुणों में भेद नहीं हो सकता।

(3) नाना गुणों का आधारभूत पदार्थ भी नाना रूप ही हो सकता है। वह नाना रूप न हो तो नाना गुणों का आधार भी नहीं हो सकता।

(4) सम्बन्धियों की भिन्नता से सम्बन्ध में भी भेद देखा जाता है। सम्बन्धी अनेक हों और उनका सम्बन्ध एकत्र और एक हो, यह नहीं हो सकता।

(5) अनेक धर्मों के द्वारा किया जाने वाला उपकार अलग-अलग होने से अनेक रूप ही होता है क्योंकि अनेक उपकारियों द्वारा किया जाने वाला उपकार एक नहीं हो सकता।

(6) प्रत्येक गुण का गुणि देश पृथक्-पृथक् ही होता है। अगर अनेक गुणों का गुणिदेश अभिन्न माना जाए तो भिन्न-भिन्न पदार्थों के गुणिदेश में भी अभेद मानना पड़ेगा।

(7) संसर्गी के भेद से संसर्ग में भी भेद होता है। संसर्ग में भेद न हो तो संसर्गियों (गुणों) में भी भेद नहीं हो सकता।

(8) विषय के भेद से शब्द में भी भेद होता है। यदि समस्त गुण एक ही शब्द के वाच्य हों तो संसार के समस्त पदार्थ भी एक ही शब्द के वाच्य हो जायें। इस प्रकार काल आदि से भिन्न गुणों में अभेद का उपचार किया जाता है।

इसी तरह भेद वृत्ति और भेद का उपचार भी समझ लेना चाहिए।

जो वचन कालादि की अपेक्षा अभेद वृत्ति की प्रधानता से या अभेदोपचार से प्रमाण के द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं और जो वचन कालादि की अपेक्षा भेद वृत्ति की प्रधानता से या भेदोपचार से नय के द्वारा स्वीकृत वस्तु धर्म का क्रम से कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं अतः वचन प्रयोग करते समय वक्ता यदि उस वचन से एक धर्म के कथन द्वारा अखण्ड वस्तु का ज्ञान कराता है तो वह वचन सकलादेश है और यदि वक्ता उस वचन के द्वारा अन्य धर्मों का निराकरण न करके एक धर्म का ज्ञान कराता है वह वचन विकलादेश है। वचन प्रयोग की अपेक्षा सकलादेश और विकलादेश की व्यवस्था वक्ता के अभिप्राय से बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है।

3.3.2 सुनय वाक्य और दुर्नय वाक्य—

सकलादेश और विकलादेश के सम्बन्ध में सबसे बड़ा मौलिक भेद यह है कि कुछ आचार्य सकलादेश के प्रतिपादक वचनों को प्रमाण वाक्य और कुछ आचार्य सुनयवाक्य कहते हैं तथा विकलादेश के प्रतिपादक वचनों को कुछ आचार्य नय वाक्य और कुछ आचार्य दुर्नय वाक्य कहते हैं। सकलादेश सुनय वाक्य होते हुए भी प्रमाण अधीन है, क्योंकि उसके द्वारा अशेष वस्तु कही जाती है और विकलादेश दुर्नय वाक्य होते हुए भी नयाधीन क्योंकि उसके द्वारा कथंचित् एकान्त रूप वस्तु कही जाती है। विकलादेश के प्रतिपादक वचन को दुर्नय वाक्य इसलिए कहा है कि उसमें सर्वथा एकान्त का निषेध करने वाला 'स्यात्' शब्द नहीं पाया जाता है और नयाधीन इसलिए कहा है कि उसके द्वारा वक्ता का अभिप्राय सर्वथा एकान्त के कहने का नहीं रहता है।

3.3.3 प्रकारान्तर से नय और प्रमाण में अन्तर—

उक्त प्रमाण और नय के अन्तर का विवेचन जैनदर्शन में प्रकारान्तर से भी किया गया है—वस्तु में सामान्य (द्रव्य) और विशेष (पर्याय) धर्म पाये जाते हैं अर्थात् वस्तु सामान्य विशेषात्मक या द्रव्य पर्यायात्मक है क्योंकि सामान्य विशेष या द्रव्य-पर्याय आदि अनेक धर्मों का समूह ही वस्तु है।

अनेक पदार्थों में ऐसी प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही शब्द का वाच्य बनाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे—अनेक गायों में 'यह गौ है', यह 'गौ' है—इस प्रकार का ज्ञान और शब्द प्रयोग (अनुवृत्त प्रत्यय कराने वाला 'गोत्व' धर्म सामान्य है। इससे विपरीत एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भेद कराने वाला व्यावृत्त प्रत्यय

धर्मविशेष कहलाता है। जैसे—उन्हीं अनेक गायों में यह 'श्यामा' है, यह 'नीली' है, यह 'चितकबरी' है–आदि व्यवहारविशेष कहलाता है। एक बात यह भी है कि सामान्य और विशेष या द्रव्य और पर्याय जैसे वस्तु के स्वभाव हैं उसी प्रकार और भी अनेक धर्म उसके स्वभाव हैं। प्रमाणज्ञान इस प्रकार भी सामान्य-विशेषात्मक या द्रव्य–पर्यायात्मक पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है जबकि नय केवल सामान्य अंश को या विशेष अंश को अथवा केवल द्रव्य अंश को या किसी पर्याय (अवस्था विशेष रूप) अंश (धर्म) को ग्रहण करता है। यद्यपि केवल सामान्य या केवल विशेष रूप ही वस्तु नहीं है, जैसा कि अद्वैतवादी और सांख्यमतावलम्बी पदार्थ को केवल सामान्यात्मक ही मानते हैं। बौद्ध पदार्थ को केवल विशेष रूप ही मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक सामान्य को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं और विशेष को भी एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं तथा उनका द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध मानते हैं तथापि नय वस्तु को अंश या भेद करके ग्रहण करता है; क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म या अंश को लेकर और उस वस्तु के अन्य धर्मों को गौण करके उसका प्रतिपादन करना नय का काम है।

3.3.4 जैन दार्शनिकों के अनुसार नय और प्रमाण में अन्तर—

इस प्रकार प्रमाण और नय में अन्तर या भेद स्पष्ट कर देने पर भी जैन दार्शनिकों के समक्ष एक और बड़ा ही जटिल, साथ ही गम्भीर प्रश्न था कि नय क्या है ? नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है तो प्रमाण से भिन्न क्यों ? और यदि वह अप्रमाण है तो वह मिथ्याज्ञान होगा और मिथ्याज्ञान के लिए विचारजगत् में क्या कहीं स्थान होता है ?

इन सभी प्रश्नों का मौलिक समाधान जैन दार्शनिकों ने बड़ी गम्भीरता और सतर्कता से किया है। नय के प्रमाण और अप्रमाणविषयक प्रश्न तथा उनके तर्कसम्मत समाधान आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी ने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में अपनी अनूठी दार्शनिक शैली द्वारा प्रस्तुत किये हैं, जो उनसे पूर्व की रचनाओं में भी उपलब्ध नहीं होते।

उक्त विषय को लेकर सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्व (अपने) और बाह्य अर्थ के निश्चायक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। नय भी स्व और बाह्य अर्थ का निश्चायक है, वह अपने को तथा बाह्य अर्थ को जानता है अतः वह प्रमाण ही है। ऐसी स्थिति में प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं है किन्तु इस प्रकार का मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि स्व और अर्थ के एक देश को जानना नय का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि नय स्व अर्थात् अपने और बाह्य अर्थ के एक देश का निश्चायक है और प्रमाण सर्व देश का इसीलिए कहा गया है प्रमाण सकल वस्तुग्राही होता है और नय विकलवस्तुग्राही अतः प्रमाण स्वार्थ निश्चायक है और नय स्वार्थ के एकदेश का निश्चायक है। यही दोनों में भेद है।

यदि वहाँ पुनः आशंका की जाती है कि स्व और अर्थ का एकदेश वस्तु है या अवस्तु ? यदि वस्तु है तो वस्तु का ग्राहक होने से नय प्रमाण ही हुआ और यदि अवस्तु है तो अवस्तु का ग्राहक होने से नय मिथ्याज्ञान कहा जाएगा; क्योंकि अवस्तु को जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। इसका सीधा सा समाधान है कि वस्तु का एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु। जैसे—समुद्र के एक अंश को न तो समुद्र कहा जाता है और न असमुद्र। यदि समुद्र का एक अंश समुद्र है तो शेष अंश असमुद्र हो जाएगा और यदि समुद्र का प्रत्येक अंश समुद्र है तो बहुत से समुद्र हो जाएँगे और ऐसी स्थिति में समुद्र का ज्ञान कहाँ से हो सकता है ?

जैसे समुद्र का एक देश या बूँद न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही, वैसे ही नय के द्वारा जाना गया वस्तु का अंश न तो वस्तु ही है और न अवस्तु ही। यदि समुद्र के एकदेश या बूँद को ही समुद्र कहा जाएगा तो समुद्र के शेष देश या बूंदें असमुद्र हो जाएँगे। या फिर एक–एक देश या बूँद को समुद्र मानने से बहुत से समुद्र हो जाएँगे और यदि समुद्र के एकदेश या बूंद को असमुद्र कहा जाएगा तो समुद्र के शेष देश या बूंदें भी असमुद्र कहलाएंगे और ऐसी स्थिति में कहीं भी समुद्रपने का व्यवहार नहीं बन सकेगा अतः समुद्र का एकदेश न तो समुद्र है और न असमुद्र, किन्तु समुद्र का अंश है। इसी प्रकार नय के द्वारा जाना गया स्वार्थ का एकदेश न तो वस्तु है क्योंकि स्वार्थ के एकदेश को वस्तु मानने से उसके अन्य

देशों के अवस्तुत का प्रसंग आता है या वस्तु के बहुत्व का प्रसंग आता है। नय से जाना गया वस्तु का एक देश अवस्तु भी नहीं है, क्योंकि यदि वस्तु के एकदेश को अवस्तु माना जाएगा तो उसके शेष देश भी अवस्तु कहे जाएँगे और ऐसी स्थिति में कहीं भी वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकेगी अतः नय के द्वारा जाना गया वस्तु का एकदेश वस्तु का अंश ही है।

3.3.5 नय प्रमाण से भिन्न है—

इस प्रकार प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एक अंश को प्रधान करके जो वस्तु का निर्णय किया जाता है वह प्रमाण नहीं नय है। यद्यपि प्रमाण भी ज्ञान है और नय भी ज्ञान है, दोनों ही ज्ञान है तथापि नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश में प्रवृत्ति करता है अतः उसे प्रमाण न कहकर नय कहते हैं। यही दोनों में अन्तर है।

यदि पुनः यह कहा जाय कि जैसे अंशी (वस्तु) में प्रवृत्ति करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् जानने वाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता ? अतः नय प्रमाणस्वरूप ही है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जैसे वस्तु का एक देश न वस्तु है और न अवस्तु किन्तु वस्तु का एक अंश है उसी तरह अंशी न वस्तु है न अवस्तु, वह तो केवल अंशी है, वस्तु तो अंश–अंशी के समूह का नाम है अतः जैसे अंश को जानने वाला ज्ञान नय है वैसे ही अंशी को जानने वाला ज्ञान भी नय है। यदि ऐसा नहीं है तो जैसे अंशी को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है वैसे ही अंश को जानने वाला ज्ञान भी प्रमाण ही कहा जाएगा। ऐसी स्थिति में नय प्रमाण से भिन्न नहीं है किन्तु उक्त कथन समीचीन नहीं है; क्योंकि जब सम्पूर्ण धर्मों को गौण करके अंशी को ही प्रधान रूप से जानना इष्ट होता है तो उसमें द्रव्यार्थिक नय का ही मुख्य रूप से व्यापार माना गया है, प्रमाण का नहीं किन्तु जब धर्म–धर्मी के समूह को प्रधान रूप से जानना इष्ट होता है तो उसमें प्रमाण का व्यापार होता है। तात्पर्य यह है कि अंशों को प्रधान और अंशी को गौण रूप से अथवा अंशी को प्रधान और अंशों को गौण रूप से जानने वाला ज्ञान नय है तथा अंश–अंशी दोनों को प्रधान रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण है अतः नय प्रमाण से भिन्न है।

3.4 नय के भेद—

धर्म–धर्मी के समूह का नाम वस्तु है। जो ज्ञान धर्म या केवल धर्मी को ही मुख्य रूप से जानता है, वह ज्ञान नय है और जो दोनों को ही मुख्यरूप से जानता है वह प्रमाण है। चूँकि प्रमाण 'सकलादेशी' है, उसका विषय पूर्ण वस्तु है और नय 'विकलादेशी' है, उसका विषय या तो मुख्य रूप से मात्र धर्मी होता है या मात्र धर्म होता है। जो धर्मों को गौण करके मात्र धर्मी की मुख्यता से वस्तु को जानता है, वह द्रव्यार्थिक नय है और जो धर्मी को गौण करके मुख्यरूप से धर्म को ही जानता है, वह पर्यायार्थिक नय है तथा जो धर्म और धर्मी दोनों की मुख्यता से सम्पूर्ण वस्तु को जानता है, वह प्रमाण है अतः नय प्रमाण से भिन्न है।

यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ही हुआ और अप्रमाण होने से मिथ्याज्ञान की तरह नय वस्तु को जानने का साधन कैसे हो सकता है ? किन्तु इस प्रकार की विचारधारा ठीक नहीं है; क्योंकि नय न तो अप्रमाण है और न प्रमाण है किन्तु ज्ञानात्मक है अतः प्रमाण का एकदेश है। इसमें किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है।

3.4.1 प्रमाणैकदेशता—

यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ही हुआ; क्योंकि प्रमाण से भिन्न अप्रमाण ही होता है। एक ज्ञान प्रमाण भी न हो और अप्रमाण भी न हो ऐसा तो सम्भव नहीं है क्योंकि किसी को प्रमाण न मानने पर अप्रमाणता अनिवार्य है और अप्रमाण न मानने पर प्रमाणता अनिवार्य है, दूसरी कोई गति ही नहीं है। इसका समाधान करते हुए आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं—'प्रमाणता और अप्रमाणता के अतिरिक्त भी एक तृतीय गति है, वह है प्रमाणैकदेशता। प्रमाण का एकदेश न तो प्रमाण ही है; क्योंकि वह प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नहीं है और न अप्रमाण ही है; क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। देश और देशी में कथंचित् भेद माना गया है।'

नय न प्रमाण है और न अप्रमाण किन्तु प्रमाण का एकदेश या अंश है। सिन्धु का बिन्दु न सिन्धु है और न असिन्धु अपितु सिन्धु का एक अंश है। एक सैनिक को सेना नहीं कह सकते परन्तु उसे असेना भी तो नहीं कह सकते; क्योंकि वह सेना का एक अंश तो है ही। इस प्रकार अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा नय प्रमाण नहीं है। वह वस्तु खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है इसलिए अप्रमाण भी नहीं है। अप्रमाण तो है ही नहीं, पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नहीं है इसलिए इसे प्रमाणांश या प्रमाण का एकदेश कहना चाहिए।

3.4.2 नय व प्रमाण का विषय—

प्रमाण नय नहीं है; क्योंकि प्रमाण का विषय अनेकान्त या अनेक धर्मात्मक वस्तु है और न नय प्रमाण है; क्योंकि नय का विषय एकान्त है। प्रमाण का विषय एकान्त नहीं हैं' क्योंकि एकान्त नीरूप होने से अवस्तु है और जो अवस्तु है वह ज्ञान का विषय नहीं होता, इसी तरह नय का विषय अनेकान्त नहीं है; क्योंकि नय दृष्टि में अनेकान्त अवस्तु है और अवस्तु में वस्तु का आरोप हो नहीं सकता।'

'प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एकदेश में वस्तु का जो अध्यवसाय होता है वह ज्ञान प्रमाण नहीं है; क्योंकि वस्तु के एक अंश को प्रधान करके वस्तु का जो अध्यवसाय होता है वह वस्तु के एक अंश को अप्रधान करके होता है इसलिए ऐसे अध्यवसाय को प्रमाण मानने में विरोध आता है। दूसरे, नय भी प्रमाण नहीं है; क्योंकि नय के द्वारा जो वस्तु का अध्यवसाय होता है वह प्रमाण व्यपाश्रय है अर्थात् नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश में ही प्रवृत्ति करता है अतः उसे प्रमाण मानने में विरोध आता है तथा 'सकलादेश प्रमाण के अधीन है और विकलादेश नय के अधीन है' इस प्रकार दोनों के कार्य भिन्न–भिन्न दिखायी देते हैं इसलिए भी नय प्रमाण नहीं है।

प्रमाण ज्ञान धर्मभेद से वस्तु को ग्रहण नहीं करता है, वह तो सभी धर्मों के समुच्चय रूप से ही वस्तु को जानता है और नय ज्ञान धर्मभेद से ही वस्तु को ग्रहण करता है। वह सभी धर्मों के समुच्चय रूप वस्तु को ग्रहण न करके केवल एक धर्म के द्वारा ही वस्तु को जानता है। यही कारण है कि प्रमाण ज्ञान दृष्टिभेद से परे हैं और नयज्ञान जितने भी होते हैं वे सभी सापेक्ष होकर ही सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं; क्योंकि नयज्ञान में धर्म, दृष्टि या भेदप्रधान है इसीलिए सापेक्षता के बिना सभी नयज्ञान मिथ्या होते हैं। गुण या धर्म जहाँ किसी वस्तु की विशेषता को व्यक्त करता है वहाँ उस वस्तु को उतना ही समझ लेना मिथ्या है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु में व्यक्त या अव्यक्त अनन्त धर्म पाये जाते हैं और उन सबका समुच्चय ही वस्तु है। नयज्ञान और प्रमाणज्ञान ये दोनों यद्यपि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा एक हैं फिर भी इनमें विशेष की अपेक्षा भेद है। नयज्ञान जहाँ जानने वाले के अभिप्राय से सम्बन्ध रखता है, वहाँ प्रमाणज्ञान जानने वाले का अभिप्राय विशेष न होकर ज्ञेय का प्रतिबिम्ब मात्र है। नयज्ञान में ज्ञाता के अभिप्रायानुसार वस्तु प्रतिबिम्बित होती है पर प्रमाणज्ञान में वस्तु जो कुछ है वह प्रतिबिम्बित होती है इसीलिए प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी कहा जाता है। इस प्रकार नयज्ञान प्रमाण नहीं माना जा सकता है, फिर भी वह सम्यग्ज्ञान तो है ही। इस प्रकार प्रमाण और नय में भेद है।

3.4.3 नय प्रमाण क्यों नहीं है ?

नय प्रमाण नहीं है; क्योंकि वह एकान्तरूप होता है और प्रमाण में अनेकान्त रूप के दर्शन होते हैं, इसलिए भी नय प्रमाण नहीं है।

इस विषय में आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी का कथन है—'प्रमाण और नय से सिद्ध होने वाला अनेकान्त रूप है। प्रमाण की अपेक्षा से वस्तु के सभी धर्मों को एक साथ जानने वाला वह अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप है अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप वस्तु अनेक धर्मस्वरूप ही दिखती है और वही अनेक धर्मस्वरूप वस्तु जब किसी विशेष नय की अपेक्षा से देखी जाती है तब किसी एक धर्म स्वरूप ही दिखती है, उस समय अन्य धर्म गौण होते हैं अतः वह एकान्तस्वरूप कही जाती है। नय वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी एक को मुख्य करके और उसी समय दूसरे को गौण

करके वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करता है जबकि प्रमाण अनन्त धर्मों से विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन करता है।

3.4.4 प्रमाण और नय के भेद श्री राजमल्ल जी द्वारा—

प्रमाण और नय के भेद को स्पष्ट करते हुए श्री राजमल्ल ने भी कहा है—

'नय भी ज्ञान विशेष है और प्रमाण भी ज्ञान विशेष है किन्तु दोनों में विषय विशेष की अपेक्षा से भेद है, वस्तुतः ज्ञान की अपेक्षा से दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार प्रमाण और नय में विषय विशेष का भेद है। द्रव्य के अनन्त गुणों में से कोई सा एक विवक्षित अंग नय का विषय है और वह अंश तथा अन्य सभी अंश अर्थात् अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाण का विषय है। जैसे किसी ने कहा—'स्यादस्ति घटः' तो यह नय समर्थन करता है कि अपने स्वरूपचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से घट है और परस्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है।

3.4.5 श्री समन्तभद्राचार्य द्वारा नय का विषय—

नय के विषय का दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—'वस्तु अनेक धर्मों से रहित नहीं है, वह अनेक धर्मात्मक है। उन धर्मों में से जो विवक्षित धर्म होता है अर्थात् वक्ता जिसको कहना चाहता है, वह धर्म मुख्य करके नय के द्वारा कहा जाता है तथा जो धर्म अविवक्षित है अर्थात् वक्ता जिसको प्रधान करके नहीं कहना चाहता है उसको गौण या अप्रधान कर दिया जाता है। जैसे—एक व्यक्ति एक ही समय में किसी का शत्रु होने से शत्रुपना व किसी का मित्र होने से मित्रपना व किसी का शत्रु या मित्र कोई न होने से उदासीनपना इत्यादि अनेक धर्मों को रखने वाला है। उनमें से किसी एक धर्म को एक समय में प्रयोजनवश कहा जाएगा ? जैसे—अमुक व्यक्ति सोहन का शत्रु है, मोहन का मित्र है और हमारा न तो शत्रु है न मित्र। इस प्रकार जगत् का प्रत्येक पदार्थ दो परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ एक ही काल में रखता है तब ही वह कार्यकारी है, प्रयोजन की सिद्धि कर सकता है।

इस प्रकार नय विवक्षा भेद से वस्तु के अनेक धर्मों को मुख्य-गौण करके उसका प्रतिपादन करता है जबकि प्रमाण अनेक धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप से एक साथ ग्रहण करता है।

इसके अतिरिक्त प्रमाण केवल विधि (सत्) को नहीं जानता, क्योंकि यदि वह केवल विधि को ही जाने तो एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से भेद ग्रहण न करने पर घट के स्थान पर पट में भी प्रवृत्ति कर सकेगा और ऐसी स्थिति में जानना न जानने के समान ही हो जाएगा तथा प्रमाण केवल प्रतिषेध को ही ग्रहण नहीं करता; क्योंकि विधि को जाने बिना 'यह इससे भिन्न है' ऐसा ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा प्रमाण में विधि और प्रतिषेध दोनों परस्पर में अलग-अलग भी प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि ऐसा होने पर ऊपर केवल विधि पक्ष में और केवल निषेध पक्ष में कहे गये दोनों दोषों का प्रसंग आता है अतः विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है। इसलिए प्रमाण का विषय एकान्त नहीं है और नय का विषय अनेकान्त नहीं है।

3.4.6 जयधवला टीका के अनुसार नय एवं प्रमाण—

जयधवला टीका में भी कहा गया है—'प्रमाण ज्ञान समग्र वस्तु को विषय करता है और वस्तु विधि प्रतिषेधात्मक है। वस्तु न केवल विधि रूप है और न केवल प्रतिषेध रूप अतएव केवल विधि को विषय करने वाला और केवल प्रतिषेध को विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि विषय के अभाव में विषयी का सद्भाव मानने में विरोध आता है। इसी प्रकार विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु को विषय करने वाला ज्ञान भी नय नहीं; क्योंकि विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु अनेकान्त रूप होती है इसलिए वह प्रमाण का विषय है, नय का नहीं और नय अनेकान्त रूप नहीं है।

इसी विषय को आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने युक्तिसंगत ढंग से कहा है—'प्रतिषेध रूप धर्म के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ विधि अर्थात् विधि-निषेधात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है, अतः वह प्रमाण है और इन विधि निषेध रूप धर्मों में से किसी एक को वक्ता के अभिप्राय से मुख्य करके और दूसरे को गौण करके मुख्य धर्म के नियमन करने

में जो हेतु है, वह नय है। नय किसी एक धर्म को मुख्य करके और उसी समय अन्य धर्म को गौण करके वस्तु के एकदेश या स्वभाव का कथन करता है। वह नय विधि निषेध रूप दोनों धर्मों में से किसी एक को मुख्य करके बताने के नियम का साधक है। इसके विषय का दृष्टान्त द्वारा समर्थन होता है।

3.5 स्याद्वाद नय या सप्तभंगी —

जगत् का प्रत्येक पदार्थ विधि निषेध रूप या अस्ति–नास्ति रूप है। कोई भी पदार्थ कभी भी इन दोनों धर्मों से शून्य नहीं हो सकता है। जहाँ स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अस्तित्व है वहाँ परचतुष्टय अर्थात् पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का नास्तित्व भी है। इन दोनों विरोधी धर्मों को एक साथ बतलाने वाला प्रमाण है और दोनों को अलग–अलग कभी मुख्य और कभी गौण करके बतलाने वाला नय है। नय जब वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्यता से बताता है तब दूसरे को गौण कर देता है। 'सुनने वाला शिष्य वस्तु स्वरूप को ठीक प्रकार से समझ जाए' इसलिए वक्ता वस्तु के धर्मों को एक–एक करके समझाता है। जैसे वक्ता कहता है—'स्यात् अस्ति' तब शिष्य समझता है कि 'वस्तु में किसी अपेक्षा से अस्तिपना है अर्थात् स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से वस्तु में 'अस्तिपना' है। यहाँ 'स्यात्' पद का अर्थ 'कथंचित्' है, जिसका अर्थ होता है—वस्तु में 'अस्ति' के अतिरिक्त अन्य धर्म भी हैं। जब वक्ता पुनः कहता है—'स्यात् नास्ति' तब शिष्य समझता है—वस्तु परचतुष्टय (पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा से 'नास्तिरूप' है। 'स्यात्' शब्द बताता है कि वस्तु सर्वथा 'नास्ति रूप' नहीं है, उसमें 'अस्तिपना' भी है। शिष्य को दृढ़ करने के लिए वक्ता पुनः कहता है—'स्यात् अस्ति–नास्ति' अर्थात् वस्तु में किसी अपेक्षा से दोनों ही धर्म हैं, 'अस्ति' भी है और 'नास्ति' भी है। वस्तु में ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते तो अवश्य हैं किन्तु वचन में ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वस्तु के ये दोनों धर्म एक ही काल में, एक ही साथ कहे जा सकें। इसलिए वक्ता फिर कहता है—'स्यात् अवक्तव्य' अर्थात् 'नास्ति अवक्तव्य', 'स्यात् अस्ति-नास्ति 'अवक्तव्य।' यद्यपि एक समय में एक ही साथ इन तीनों धर्मों को कहने की शक्ति वचन में न होने से वस्तु अवक्तव्य है तथापि वस्तु 'अस्तिस्वभाव रूप' अवश्य है या 'नास्ति स्वभाव रूप' अवश्य है या 'अस्ति–नास्तिस्वभाव रूप' अवश्य है। इसी को स्याद्वाद नय या सप्तभंगी नय कहते हैं। इस प्रकार नय वस्तु के एक–एक धर्म का अलग–अलग करके कथन करता है। नय वह ज्ञान प्रकार है जिसके द्वारा वस्तु के एक–एक धर्म को अलग–अलग दृष्टिकोण या अपेक्षा से समझाया जा सके। इस प्रकार नयों के द्वारा जब शिष्य वस्तु स्वरूप को भलीभाँति समझ जाता है तब उसका ज्ञान प्रमाण रूप हो जाता है। इतना समझने के बाद वह शिष्य पदार्थ में 'अस्तित्व' तथा 'नास्तित्व' —ये दोनों धर्म एक ही साथ, एक ही काल में विद्यमान रहते हैं, ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

उक्त प्रमाण और नय के भेदविषयक कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रमाण नय नहीं है और नय प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाण से जानी गयी वस्तु के एकदेश में वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है, दूसरी बात यह भी है कि नय प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है; क्योंकि प्रमाण का अर्थ है—जिस ज्ञान से वस्तु तत्त्व का निश्चय किया जाय अर्थात् सर्वांशग्राही बोध को प्रमाण कहते हैं और नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त धर्मों में से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाय अर्थात् अनेक दृष्टिकोणों से परिष्कृत वस्तु तत्त्व के एकांशग्राही ज्ञान को नय कहते हैं।

3.5.1 प्रमाण और नय के पारस्परिक संबंध और भेद के विषय में तथ्य —

अन्त में संक्षेप करते हुए प्रमाण और नय के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद के विषय में यही कहा जा सकता है कि प्रमाण यदि अंग है तो नय उपांग, प्रमाण यदि अंशी है तो नय अंश, प्रमाण यदि समुद्र है तो नय तरंग–निकर, प्रमाण यदि सिन्धु है तो नय उसका बिन्दु, प्रमाण यदि सूर्य है तो नय रश्मि–जाल, प्रमाण यदि वृक्ष है तो नय शाखा–समूह, प्रमाण यदि व्यापक है तो नय व्याप्य, प्रमाण नय में समाविष्ट नहीं है बल्कि नय ही प्रमाण में समाविष्ट है। प्रमाण का सम्बन्ध

पाँचों ज्ञानों से है जबकि नय का सम्बन्ध केवल श्रुतज्ञान से ही है अर्थात् पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहते हैं जबकि नय श्रुतज्ञान रूप प्रमाण का अंश विशेष है।

3.5.2 स्वचतुष्टय और परचतुष्टय का विवेचन—

प्रत्येक वस्तु का अपना स्वरूप होता है जो अन्य वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न होता है। इसी प्रकार उसका अपना क्षेत्र, अपना काल और अपना भाव अर्थात् स्वभाव भी होता है। इन्हीं चारों को स्वरूपादि चतुष्टय कहते हैं। अपने स्वरूपादि से भिन्न जो पर पदार्थों के स्वरूपादि चतुष्टय हैं वे पररूपादि चतुष्टय कहलाते हैं।

द्रव्य का अर्थ होता है—गुण और पर्यायों का समूह अथवा गुण-पर्यायों का अधिष्ठान द्रव्य कहलाता है। अपने गुण और पर्यायों के समूह की अपेक्षा किसी वस्तु का होना ही द्रव्य की अपेक्षा सत् या अस्तित्व कहलाता है। जैसे—'घट' घट रूप से सत् (भाव रूप) है और पट रूप से असत् (अभावरूप) है अर्थात् घड़ा, घड़ा ही है, कपड़ा नहीं है अतः कहना चाहिए कि हर एक वस्तु स्वद्रव्य की अपेक्षा से है और परद्रव्य की अपेक्षा से नहीं है।

द्रव्य के अंशों को क्षेत्र कहते हैं अथवा द्रव्य का संस्थान या आकृति उसका स्वक्षेत्र है। घड़े के अंश या अवयव या संस्थान या आकृति ही घड़े का क्षेत्र है। घड़े का क्षेत्र वह नहीं है, जहाँ घड़ा रखा है, वह तो उसका व्यावहारिक क्षेत्र या स्थान है। इस अवयव रूप क्षेत्र की अपेक्षा होना ही घड़े का स्वक्षेत्र की अपेक्षा होना है।

3.5.3 काल, स्वकाल एवं भाव—

वस्तु के परिणमन को काल कहते हैं अथवा उसकी पर्यायें ही उसका स्वकाल है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन पृथक्-पृथक् है। घड़े का अपने परिणमन की अपेक्षा होना ही स्वकाल की अपेक्षा होना कहलाता है; क्योंकि यही उसका स्वकाल है। घंटा, घड़ी, मिनट, सेकेण्ड आदि वस्तु का स्वकाल नहीं है, वह तो व्यावहारिक काल है।

वस्तु के गुण को भाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का गुण या स्वभाव अलग-अलग होता है। घड़ा अपने ही स्वभाव की अपेक्षा से है। वह अन्य पदार्थों के स्वभाव की अपेक्षा से कैसे हो सकता है ?

3.5.4 सत् एवं असत्—

प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से सत् है और परचतुष्टय अर्थात् पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से असत् है। वस्तु इस चतुष्टय से गुम्फित एक रस रूप है। कहने मात्र के लिए ही ये चार हैं, वास्तव में एक ही है; क्योंकि तीन काल में भी कभी ये बिखर कर वस्तु से पृथक् नहीं हो सकते या यों कह लीजिए कि इनसे शून्य वस्तु 'असत्' है।

यदि वस्तु को स्वद्रव्य की तरह पर द्रव्य से भी सत् माना जाय तो द्रव्यों के प्रति नियम में विरोध आता है तथा पर-द्रव्य की तरह यदि स्वद्रव्य से भी वस्तु को असत् माना जाय तो समस्त द्रव्यों के निराश्रय होने का प्रसंग आता है।

वस्तु को स्वक्षेत्र की तरह परक्षेत्र से भी सत् मानने पर किसी वस्तु का कोई प्रतिनियत क्षेत्र व्यवस्थित नहीं हो सकता और पर-क्षेत्र की तरह स्व-क्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर वस्तु की निःक्षेत्रता की आपत्ति आती है अर्थात् उसका कोई क्षेत्र ही नहीं रहेगा।

यदि वस्तु को स्वकाल की तरह परकाल में भी सद्रूप माना जाय तो वस्तु का कोई सुनिश्चित काल ही नहीं हो सकेगा तथा परकाल की तरह स्वकाल से भी यदि वस्तु को असत् माना जाय तो समस्त काल में वस्तु के न होने का प्रसंग आएगा और ऐसी स्थिति में किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित स्वरूप व्यवस्थित न हो सकने से इष्ट और अनिष्ट तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।

सामान्य रूप से जीव का स्वरूप उपयोग (आत्मा के चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाला परिणाम विशेष जानना-देखना आदि) है। उपयोग से भिन्न अनुपयोग जीव का पर रूप है अतः जीव स्वरूप (उपयोग) से सत् है। और पर रूप

(अनुपयोग) से असत् है। इसी तरह प्रत्येक द्रव्य और पर्याय का जो स्वरूप है वह उसी की अपेक्षा सत् है, उससे भिन्न जो पर रूप है उसकी अपेक्षा वह असत् है।

3.5.5 सुनय एवं दुर्नय—

नय जब अनेक धर्मात्मक वस्तु के विवक्षित धर्म को ग्रहण करके भी इतर धर्मों का निराकरण नहीं करता है, उनके प्रति तटस्थ रहता है अथवा उन्हें मुख्य या गौण करके वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करता है तब सुनय कहलाता है और जब वही किसी एक धर्म का आग्रह करके दूसरे धर्मों का निराकरण करने लगता है तब वह दुर्नय हो जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्तित्व–नास्तित्व, नित्यत्व–अनित्यत्व, एकत्व–अनेकत्व, भेदत्व–अभेदत्व, सामान्य–विशेष आदि अनन्त धर्मात्मक है या यों कहिए कि अनन्त धर्मों का पिण्ड ही वस्तु है; क्योंकि वस्तु में इन अनन्त धर्मों का अस्तित्व माने बिना उसके अस्तित्व की कल्पना ही सम्भव नहीं है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करने वाला प्रमाण है और उसके उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का बोधक ज्ञाता का अभिप्राय या ज्ञान विशेष नय है। यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तु के एक–एक अन्त अर्थात् धर्मों को विषय करने वाले अभिप्राय विशेष प्रमाण की ही सन्तान हैं पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और सापेक्षता है तो ही ये सुनय हैं अन्यथा दुर्नय हैं। नय सदा सापेक्ष कथन करता है और दुर्नय निरपेक्ष। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक अंश को मुख्य भाव से ग्रहण करके भी अन्य अंशों का निराकरण नहीं करता किन्तु उनकी ओर तटस्थ भाव रखता है और दुर्नय अन्य अंशों का निराकरण करता है, उनकी उपेक्षा करता है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का ग्राहक होता है और नय किसी एक धर्म का; किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न निषेध करता है और न विधान ही। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है और विधान करने पर प्रमाण कोटि में परिगणित हो जाता है। वह धर्मान्तर सापेक्ष एक धर्म का ज्ञान कराता है और इतर धर्म निरपेक्ष एक ही धर्म का ज्ञान कराने पर वह दुर्नय कहा जाता है।

जैन न्याय के प्रतिष्ठापक, महान् दार्शनिक विद्वान् श्री अकलंकदेव ने प्रमाण, नय और दुर्नय का तर्कसम्मत विवेचन किया है—

'अनेक धर्मात्मक पदार्थ के ज्ञान को प्रमाण और उसके एक अंश से धर्मान्तर सापेक्ष ज्ञान को नय कहते हैं तथा धर्मान्तर का निराकरण करने वाला एक अंश का ज्ञान दुर्नय है।'

नय सापेक्ष होता है और दुर्नय निरपेक्ष। अर्थात् वस्तु का सापेक्ष कथन करना सुनय और निरपेक्ष कथन करना दुर्नय है तथा वस्तु के पूर्ण धर्मों को ग्रहण करना प्रमाण है।

इसी का विश्लेषण करते हुए आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने कहा है—

'प्रमाण तत् और अतत् सभी अंशों से परिपूर्ण वस्तु को जानता है, नय से केवल तत् (विवक्षित) अंश की प्रतिपत्ति या ज्ञान होता है और दुर्नय अपने अविषय अंशों का निराकरण करता है। प्रमाण वस्तु के सभी धर्मों को ग्रहण करता है, नय धर्मान्तरों की उपेक्षा करता है जबकि दुर्नय धर्मान्तरों की हानि अर्थात् निराकरण करने की दुष्टता करता है।'

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और वे ही दुर्नय कहलाते हैं। सापेक्ष नय सम्यक् होते हैं और वे ही कार्यकारी होते हैं।

महान् तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन का कथन है—'वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्ष का आग्रह करते हैं, पर का निषेध करते हैं किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्व के सद्भाव वाले होते हैं, सम्यग्दृष्टि होते हैं।'

जिस तरह अनेक लक्षण और गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ बहुमूल्य होने पर भी अलग–अलग बिखरी हुई हों, एक सूत्र में पिरोई हुई न हों तो 'रत्नावली' या 'हार' का नाम नहीं पा सकतीं उसी तरह सभी नय अपने–अपने पक्ष में

अधिक निश्चित होने पर भी आपस में एक दूसरे के साथ निरपेक्ष होने से 'सम्यग्दर्शन' या सम्यक्त्वपने के व्यवहार को नहीं पा सकते और जिस प्रकार वे ही मणियां एक डोरे में पिरोई जाएँ तो 'रत्नावली' या 'रत्नहार' कहलाती हैं और अपना भिन्न–भिन्न नाम छोड़ देती हैं उसी तरह सभी नय यथोचित रूप से सुसंकलित होकर या परस्पर सापेक्ष होकर सम्यक्पने को प्राप्त हो जाते हैं और वे सुनय कहलाते हैं। वे अन्त में कहते हैं—'जो वचन विकल्प रूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषय का प्रतिपादन करते हैं, वह उनकी स्वसमय प्रज्ञापना है अर्थात् जैन दृष्टि की देशना है तथा अन्य निरपेक्ष वृत्ति तीर्थंकर की आसादना है।

तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष नयों की देशना वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप प्रकाशित नहीं करती अतः वह अधूरी और मिथ्या है। इससे विपरीत एक दूसरे की मर्यादा को स्वीकार करके प्रवृत्त होने वाले नयों की सापेक्ष दृष्टि वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट करती है अतः वह पूर्ण और यथार्थ है। ऐसी दृष्टि में से जो विचार या वाक्य फलित होते हैं वे ही जैन देशना हैं। जैसे—आत्मा के नित्यत्व के विषय में विचार किया जाय तो वह अपेक्षा विशेष से नित्य भी है और अनित्य भी है; मूर्तत्व के विषय में वह कथंचित् मूर्त है और कथंचित् अमूर्त है; शुद्धत्व के विषय में वह कथंचित शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है; परिमाण के विषय में वह कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक है; संख्या के विषय में वह कथंचित् एक और कथंचित् अनेक है—ऐसे अनेक मुद्दों के विषय में वाक्य और विचार सुनय है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इसी तत्त्व को बड़े मार्मिक ढंग से समझाया है—'स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयों के वक्तव्य को जानता तो है पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह एक नय को द्वितीय सापेक्ष रूप से ही ग्रहण करता है।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने प्रमाण, नय और दुर्नय के विषय का विवेचन करते हुए कहा है—प्रमाण 'सत्' अर्थात् वस्तु सत् स्वरूप है। इस प्रकार से वस्तु स्वरूप का विवेचन करता है और नय 'स्यात् सत्' वस्तु कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से सत् है' इस प्रकार सापेक्ष रूप से वस्तु स्वरूप का निरूपण करता है जबकि दुर्नय 'सत् एव' 'पदार्थ सत् ही है' ऐसा 'एवकार' (ही) द्वारा अवधारण कर उसके अन्य धर्मों का निराकरण या निषेध करता है।

3.5.6 नय, दुर्नय नहीं सम्यक् है—

प्रमाण वस्तु को समग्र रूप से ग्रहण करता है और नय किसी वस्तु में अपने इष्ट धर्म को सिद्ध करते हुए उसके अन्य धर्मों में उदासीन होकर उसका विवेचन करता है जबकि दुर्नय किसी वस्तु में अन्य धर्मों का निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा करता है। जैसे—'अस्ति एव घटः' 'यह घट ही है'। यहाँ 'एवकार' अन्य नास्तित्व आदि धर्मों का निषेध करता है। वस्तु में अभीष्ट धर्म की प्रधानता से अन्य धर्मों का निषेध या निराकरण करने के कारण दुर्नय को मिथ्या कहा गया है। नय में दुर्नय की तरह एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निषेध या निराकरण नहीं किया जाता है इसलिए नय को दुर्नय न कहकर सम्यक् ही कहा जाता है। नय का सम्यक्पना यही है कि वह वस्तु के सभी सापेक्षिक धर्मों को लेकर ही वस्तु का विवेचन करता है इसीलिए जैनदर्शन में नय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है; क्योंकि वह समस्त विवादों को दूर कर निर्विवाद वस्तु स्वरूप को सामने रखता है। नय को समझे बिना दुर्नय का परिज्ञान नहीं हो सकता है और न ही नय से दुर्नय का भेद किया जा सकता है।

आचार्य श्री वादिदेव सूरि ने नय और दुर्नय का प्रतिपादन किया है—श्रुतज्ञान प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का एक अंश अन्य अंशों को गौण करके जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का यह अभिप्राय विशेष नय कहलाता है और अपने अभीष्ट अंश (धर्म) के अतिरिक्त वस्तु के अन्य अंशों (धर्मों) का अपलाप या निषेध करने वाला नयाभास अर्थात् दुर्नय कहलाता है।

3.6 नय और दुर्नय में अन्तर—

श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है और नय उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है तब शेष रहे हुए धर्म भी वस्तु में विद्यमान तो रहते ही हैं किन्तु उन्हें गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार केवल एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है। जबकि वस्तु के अनन्त अंशों (धर्मों) में से एक अंश को ग्रहण करके शेष समस्त अंशों का अभाव मानने वाला अथवा उनका निराकरण करने वाला नय ही नयाभास या दुर्नय है। नय एक अंश को ग्रहण करता है पर उस अंश के सहचर अन्य अंशों पर उपेक्षा भाव रखता है और नयाभास या दुर्नय उन अंशों का निषेध करता है। यही नय और दुर्नय में अन्तर है।

3.6.1 सुनय और दुर्नय की सापेक्षता और निरपेक्षता—

सुनय और दुर्नय की सापेक्षता एवं निरपेक्षता का विवेचन करते हुए स्वामि कुमार ने कहा है—'जो वस्तु अनेकान्त रूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का स्वरूप देखा ही नहीं जा सकता है।

3.6.2 प्रमाण सकलग्राही और नय विकलग्राही है—

श्रुतज्ञान रूप प्रमाण से जानी हुई वस्तु में अपेक्षा भेद से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। प्रमाण से अनेक धर्मात्मक वस्तु को जानकर ऐसा जानना कि वस्तु स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् स्वरूप है तथा परचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् स्वरूप है, यही नय है। इसी से प्रमाण को सकलग्राही और नय को विकलग्राही कहा है। यदि एक नय दूसरे नय की अपेक्षा को गौण रखकर वस्तु को जाने तभी वह नय सुनय कहलाएगा और तभी वस्तु धर्म की ठीक प्रतीति होगी किन्तु यदि कोई नय वस्तु को केवल सत् स्वरूप ही सिद्ध करना चाहता है और उसके असत् स्वरूप का निराकरण करता है तो यह नय सुनय न होकर दुर्नय कहा जाएगा अतः वस्तु के इतर धर्मों का निषेध न करके उसके किसी एक धर्म की मुख्यता से और उसी समय उसके अन्य धर्मों की गौणता से उसके स्वरूप को जानने से ही उसकी ठीक प्रतीति होती है।

3.6.3 नय की उपयोगिता—

आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने भी एक उद्धरण द्वारा नय की उपयोगिता सिद्ध करते हुए कहा है—'प्रमाण से नाना स्वभाव वाले द्रव्य को जानकर सापेक्ष सिद्धि के लिए उसको कथंचित् नयों से मिश्रित अर्थात् युक्त करना चाहिए।'

जगत् के पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा ही ज्ञान से जाना जाता है और वैसा ही लोक में माना जाता है। नय भी उसे वैसा ही जानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रमाण वस्तु के सब धर्मों को ग्रहण करके ज्ञाता पुरुष अपने अभिप्राय के अनुसार उनमें से किसी एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का कथन करता है, यही नय है। इसी से ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा है। जो नाना स्वभावों को छोड़कर वस्तु के एक स्वभाव का कथन करता है वह नय है और जो वस्तु का प्रतिपक्षी धर्म से निरपेक्ष एकान्त रूप से कथन करता है वह दुर्नय है। दुर्नय से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि वस्तु सर्वथा एक रूप ही नहीं है अतः जो प्रतिपक्षी धर्मों की अपेक्षा रखते हुए वस्तु के एक धर्म का कथन करता है वही सुनय है और इसी से वस्तु स्वरूप की सिद्धि होती है।

इस प्रकार नय की उपयोगिता न केवल सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक दृष्टि से है किन्तु जीवन जगत् के लौकिक व्यवहारों में भी प्रतिक्षण इसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। यह समस्त प्रकार के विवादों, मतभेदों और संघर्षों को समाप्त कर जीवन को प्रशस्त बनाता है। यही जैनदर्शन का नय निरूपण है।

3.7 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-''जो श्रुतप्रमाण द्वारा जाने गए अर्थ के किसी एक अंश या धर्म का कथन करता है, वह नय है'' नय की परिभाषा किन आचार्य ने बताई है ?

(क) आचार्य श्री वीरसेन ☐
(ख) आचार्य श्री देवसेन ☐
(ग) आचार्य श्री विद्यानंद स्वामी ☐

प्रश्न 2-नय के द्वारा किसका परिज्ञान होता है ?

(क) अहिंसा धर्म का ☐
(ख) संसार और मोक्ष का ☐
(ग) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ☐

प्रश्न 3-वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाए, वह.....है।

(क) प्रमाण ☐
(ख) तर्क ☐
(ग) नय ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रमाण और नय में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2-मति आदि पाँच ज्ञानों में कितने ज्ञान मूक और कितने ज्ञान अमूक हैं और क्यों ?

प्रश्न 3-काल के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 4-स्याद्वाद नय या सप्तभंगी नय किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-नय और दुर्नय में अन्तर बताते हुए नय की उपयोगिता सिद्ध कीजिए ?

पाठ-4—नयों का समन्वयवादी दृष्टिकोण

4.1 जैनदर्शन का अनेकांतवाद—

जैनदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वस्तु के अनेक धर्मों में ऐसे धर्म हैं जो परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जैसे—सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि। इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों को लेकर ही नाना दार्शनिक पंथ खड़े हुए हैं। कोई वस्तु को सत् स्वरूप ही मानता है तो कोई असत्स्वरूप ही, कोई नित्य ही मानता है तो कोई अनित्य ही, कोई एक रूप ही मानता है तो कोई अनेक रूप ही। इस प्रकार केवल एक-एक धर्म को मानने वाले एकान्तवादियों का समन्वय करने के लिए नय मीमांसा का उपक्रम भगवान् महावीर ने किया था। उन्होंने प्रत्येक एकान्त को नय का विषय बतला कर और नयों की सापेक्षता स्वीकार करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की थी। एकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है।

4.1.1 द्रव्य का लक्षण—

यदि एकान्त न हों तो उनका समूह रूप अनेकान्त भी नहीं बन सकता अतः एकान्तों की निरपेक्षता विसंवाद की जड़ है और एकान्तों की सापेक्षता संवाद या समन्वय की जड़ है अतः पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते और नाश को प्राप्त होते हैं किन्तु द्रव्य दृष्टि से न तो कभी पदार्थों का नाश होता है और न उत्पाद ही होता है, वे ध्रुव (नित्य) हैं। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-तीनों मिलकर ही द्रव्य का लक्षण है। केवल द्रव्यार्थिक या केवल पर्यायार्थिक नय का जो विषय है वह द्रव्य का लक्षण नहीं है क्योंकि वस्तु न केवल उत्पाद, व्यय (अनित्य) रूप ही है, जैसा बौद्ध लोग मानते हैं और न केवल ध्रौव्य (नित्य) रूप ही है, जैसा सांख्य मानते हैं। अतः अलग-अलग दोनों नय मिथ्या हैं। इस तरह वस्तु के एक-एक अंश को ही पूर्ण सत्य मानने वाले एकान्तवादी दर्शनों का समन्वय करने के लिए जैनदर्शन में नय की मीमांसा की गयी है।

4.1.2 नयों का सम्यक्ज्ञान आवश्यक—

सभी दर्शन अपनी-अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन अपने-अपने अभिप्रायों के अनुसार करते हैं अतः जितने अभिप्राय हैं उतने ही नयवाद हैं। आचार्य श्री सिद्धसेन ने कहा है—'जितने वचन मार्ग हैं अर्थात् अभिप्राय हैं, उतने ही नयवाद हैं उतने ही परसमय (मत) हैं। इन सभी मतों का समन्वय सापेक्ष नय योजना से ही सम्भव है। यदि प्रत्येक अभिप्राय को दूसरे अभिप्रायों से सापेक्ष रूप से जोड़ दिया जाय तो विसंवाद समाप्त हो जाता है। झगड़ा 'ही' का है। निरपेक्ष 'ऐसा ही है' यह कहना मिथ्या है अपेक्षा सहित 'ऐसा भी है' यह कहना सम्यक् है। इस प्रकार जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तु स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए, इसका सापेक्ष निरूपण करने के लिए नयों का सम्यक् परिज्ञान आवश्यक है।

4.1.3 स्याद्वाद और नयवाद जैनदर्शन की एक मौलिक देन—

वस्तु न सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही, न सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही; किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत्, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य। इस प्रकार वस्तु अनेकान्तात्मक है और अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है तथा उस अनेकान्तात्मक वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म के सापेक्ष कथन का नाम नय है। स्याद्वाद और नय इन दोनों का कथन जैनेतर दर्शनों में नहीं है अतः स्याद्वाद और नयवाद भारतीय दर्शनों के क्षेत्र में जैनदर्शन की एक मौलिक देन है।

4.1.4 नय के समन्वय से ही वस्तु स्वरूप की सिद्धि—

किसी भी विषय पर विचार करने के अनेक प्रकार या दृष्टिकोण होते हैं। यदि उनका ठीक प्रकार से समन्वय किया

जाय, उनको सापेक्षता का रूप दिया जाय तो हम उस विषय में किसी एक सही निर्णय पर पहुँच सकते हैं। जैसे—किसी उद्यान में जाने के अनेक मार्ग होते हैं, कोई मार्ग पूर्व से जाता है तो कोई उत्तर से, कोई पश्चिम से जाता है तो कोई दक्षिण से किन्तु अन्दर जाकर वे सब मार्ग परस्पर मिल जाते हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं; किन्तु उनका समन्वय होना भी जरूरी है। इस समन्वय के सिद्धान्त को ही स्याद्वाद, कथंचित्वाद, सापेक्षवाद या नयवाद कहा जाता है। इसी को नय मार्ग भी कह सकते हैं। इस नय मार्ग से ही विभिन्न मतों तथा विभिन्न विचारों का समन्वय किया जा सकता है। जो नय एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं वे ही सुनय कहे जाते हैं और वे ही कार्यकारी होते हैं और जो परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हैं, निराकरण या निषेध करते हैं वे प्रतिद्वन्दी होने से दुर्नय हैं अतएव हानिकारक हैं। जो सुनय हैं उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण रहता है और जो दुर्नय हैं उनसे समन्वय नहीं हो सकता और समन्वय न होने से वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस विषय में आचार्य श्री समन्तभद्र ने, 'जो ये नित्य–अनित्य, सत्–असत् आदि एकान्त रूप नय हैं, वे परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा न रखने के कारण अपने व दूसरे का विनाश अर्थात् अहित करने वाले हैं। वे न तो कहने वाले का भला करते हैं और न ही समझने वाले का भला करते हैं किन्तु वे ही नय परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने के कारण अपना व दूसरों का उपकार करते हैं। वे ठीक प्रकार से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं और उस यथार्थ वस्तु स्वरूप को सुनने वाले भी आत्मकल्याण के मार्ग पर लग जाते हैं इसीलिए वे तत्त्व स्वरूप अथवा सुनय कहे जाते हैं।

इसी का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पुनः कहा है—'वस्तु का स्वरूप यदि सर्वथा एकान्त रूप से सत् या असत् एक रूप या अनेक रूप, नित्य या अनित्य वक्तव्य माना जाय तो वस्तु के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं हो सकती है और यदि वही वस्तु का स्वरूप किसी अपेक्षा से सत् तो दूसरी अपेक्षा से असत् किसी अपेक्षा से एक रूप तो दूसरी अपेक्षा से अनेक रूप, किसी अपेक्षा से नित्य तो दूसरी अपेक्षा से अनित्य, किसी अपेक्षा से वक्तव्य तो दूसरी अपेक्षा से अवक्तव्य माना जाय तो सब कथन बाधा रहित सिद्ध हो जाएगा।'

4.1.5 नय मिथ्या कैसे हो जाते हैं ?—

यदि वस्तु का स्वरूप स्यात् (कथंचित् या किसी अपेक्षा से) सत्, स्यात् असत्, स्याद् एक, स्याद् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्याद् वक्तव्य, स्याद् अवक्तव्य, इस तरह स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा कहा जावे तो सब नय सत्य हैं और सर्वथा एकान्त रूप से केवल सत् या असत् आदि रूप से कहा जाय तो वे ही नय मिथ्या हो जाते हैं।

इसी को उन्होंने और स्पष्ट किया है—'प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से सत् (भावरूप) है और वह द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् (अभाव रूप) है। वह वस्तु 'अखण्ड गुण समुदाय रूप है' इस दृष्टि से एक है और वही 'अनेक गुणों को रखने वाली है'' इस दृष्टि से अनेक है। वह 'अपने स्वरूप से कभी भी नष्ट नहीं होती है' इस दृष्टि से नित्य है और वही 'पर्यायों या अवस्थाओं के परिवर्तित होते रहने के कारण नाशवान् है; इस दृष्टि से अनित्य है। 'वस्तु धर्मों को क्रम से कहे जा सकने की अपेक्षा से' वह वक्तव्य है और 'उन्हीं अनेक धर्मों को एक ही समय में एक ही साथ वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता है' इस दृष्टि से अवक्तव्य है। यह सब कथन नयों के योग से सिद्ध होता है और यदि वही वस्तुस्वरूप सर्वथा सत् (भाव रूप) या सर्वथा असत् (अभाव रूप) आदि माना जावे तो यह सब मान्यता मिथ्या है और इसे ही दुर्नय कहा जाता है।'

4.1.6 नयवाद वस्तुपरीक्षण की कला सिखाता है—

नय दृष्टि को छोड़कर सर्वथा एकान्त रूप में वस्तु व्यवस्था नहीं बन सकती। वस्तु के स्वरूप को जानने व देखने के विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण होते हैं। वे अपने सीमित ज्ञान और बुद्धि के अनुसार वस्तु के विभिन्न गुणों का कथन करते हैं। जितने गुणों का वे कथन करते हैं वे सब गुण वस्तु में विद्यमान रहते हैं। उन गुणों को व्यक्ति अपनी इच्छा

से वस्तु पर आरोपित नहीं करता। वस्तु के अनेक धर्मात्मक या गुणात्मक होने से उनके किसी प्रकार का विरोध नहीं है। एक ही वस्तु सत्–असत्, नित्य–अनित्य, एक–अनेक, सामान्य–विशेष आदि विरोधी गुणों से युक्त होती है। ये परस्पर विरोधी गुण वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझाने में सफल होते हैं। इनमें से किसी भी गुण का निषेध नहीं किया जा सकता। जो दर्शन वस्तु के किसी एक गुण का ही विधान करते हैं और उसी समय वस्तु के दूसरे गुण का निषेध या निराकरण करते हैं, वे एकान्तवादी दर्शन हैं। ये एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकांगी होता है। वे भूल जाते हैं कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाला विचार भी संगत हो सकता है। इसी कारण वे एकांगी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नहीं कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं अतः नयवाद अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय करता हुआ वस्तु परीक्षण की कला सिखलाता है।

4.1.7 बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तु का स्वरूप—

बौद्ध दर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर, अस्थायी और अनित्य है। यह अपने दृष्टिकोण को पूर्ण रूपेण सत्य मानता है, यह वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है।

4.1.8 वेदान्त, सांख्य, नैयायिक आदि दर्शनों की मान्यता—

वेदान्त, सांख्य, नैयायिक आदि दर्शनों की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु स्थिर, स्थायी और नित्य है। ये भी अपने दृष्टिकोण को पूर्णतः सत्य मानते हैं और बौद्ध दर्शन की विचारधारा का खण्डन करते हैं। वस्तु के नित्यत्व धर्म को अंगीकार करके पर्याय की दृष्टि से उसमें विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करते हैं। इस प्रकार विश्व के ये सभी एकान्तवादी दर्शन अपने–अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रहशील होकर एक दूसरे को मिथ्या कहते हैं। वे नहीं जानते हैं कि दूसरे को मिथ्यावादी कहने के कारण वे स्वयं ही मिथ्यावादी बन जाते हैं। अगर उन्होंने दूसरे को भी सच्चा माना होता तो वे स्वयं सच्चे हो जाते; किन्तु एकान्तवादिता का दुराग्रह उन्हें ऐसा होने से रोकता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या उक्त सभी दर्शन या विचारधाराएँ पूर्ण सत्य हैं ? यदि पूर्ण सत्य हैं तो फिर उनका विरोध क्यों ? अतः ये विचारधाराएँ न तो पूर्णरूपेण सत्य हो सकती हैं और न पूर्णरूपेण मिथ्या। तब फिर वस्तु का वास्तविक स्वरूप क्या माना जाए ? जैनदर्शन ऐसे सभी प्रश्नों का समाधान अनेकान्त दृष्टि और उसके फलितवाद स्याद्वाद को उपस्थित करके समस्त एकान्तवादों के एकांगी दृष्टिकोणों को समाप्त कर देता है। वह परस्पर विरुद्ध प्रतिभासित होने वाले सभी वादों का निर्दोष समन्वय करता है क्योंकि विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने पर ही वस्तु का वास्तविक स्वरूप जाना जा सकता है।

4.2 नयवाद का वास्तविक दृष्टिकोण—

बौद्धादि अनित्यत्ववादी दर्शन यदि अनित्यत्व धर्म को सर्वथा एकान्त दृष्टि से स्वीकार न करके उसे सापेक्ष दृष्टि से अर्थात् पर्याय दृष्टि से स्वीकार करें और सांख्यादि नित्यत्ववादी दर्शन नित्यत्व धर्म को सर्वथा स्वीकार न करके उसे द्रव्य दृष्टि से स्वीकार करें तो कोई विवाद ही उपस्थित न होगा और इस प्रकार दोनों ही दृष्टिकोण सापेक्ष रूप से सत्य सिद्ध होंगे। नयवाद एक दृष्टिकोण को मानकर दूसरे दृष्टिकोण का निराकरण नहीं करता, बल्कि सभी दृष्टिकोणों का समन्वय करके सत्य को ग्रहण करता है।

4.2.1 जैनदर्शन में वस्तु का स्वरूप—

जैनदर्शन में वस्तु के परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' नहीं है, जैसा कि साधारण बोलचाल की भाषा में इसका अर्थ लिया जाता है। इसका गूढ़

अर्थ है 'कथंचित्' या 'अपेक्षा' या 'दृष्टिकोण'। इस 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नयों के साथ करने पर वे नय अभीष्ट अर्थ के साधक होते हैं। वे दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशाल और हृदय को उदार बनाते हैं। वे वस्तु के विविध रूपों का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं क्योंकि 'स्यात्' पद से लांछित नयों के द्वारा अपेक्षापूर्वक वस्तु के किसी एक धर्म का कथन करने पर उसके दूसरे धर्मों का लोप नहीं होता।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने भगवान विमलनाथ की स्तुति के परिप्रेक्ष्य में कहा है—हे भगवन् ! जिस प्रकार सिद्ध अर्थात् सुसंस्कृत पारद आदि रसों के संयोग से लौह आदि धातुएँ स्वर्ण बनकर अभीष्ट फल प्रदान करने वाली बन जाती हैं उसी प्रकार आपके द्वारा उपदिष्ट द्रव्यार्थिक आदि नय 'स्यात्' पद से चिह्नित होकर मनोवांछित फल देने वाले हैं, वस्तु के यथार्थ स्वरूप के सापेक्ष निरूपण द्वारा मुमुक्षुजनों को मिथ्या अथवा एकान्तमार्ग से हटाकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कराते हैं इसीलिए आत्महित चाहने वाले गणधरादि देव आपको नमस्कार करते हैं।

4.2.2 समन्वयवादी दृष्टिकोण से तत्त्व की सिद्धि—

इस प्रकार 'स्यात्' पद अंकित इन सापेक्ष नयों से विभिन्न दृष्टियों का समन्वय होता है। एकान्त का निरसन होकर अनेकान्त का समर्थन होता है। एकान्त दृष्टि कहती है कि तत्त्व 'ऐसा ही है' और अनेकान्त दृष्टि कहती है कि 'तत्त्व ऐसा भी है।' इस प्रकार के समन्वयवादी दृष्टिकोण से तत्त्व की सिद्धि होती है। यह दृष्टिकोण 'भी' और 'ही' के समुचित प्रयोग का निर्देश करता है, जिससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होता है।

4.3 वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप—

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक है। उसको द्योतित करने वाला यह 'स्यात्' पद है। नयों के साथ इसका प्रयोग किये बिना वस्तु एक धर्म रूप ही सिद्ध होती है, जो वस्तु का स्वरूप नहीं है। जैसे—वस्तु 'स्यात् नित्यम्', 'स्यात् अनित्यम्' इन दो नय रूप वाक्यों ने यह सिद्ध कर दिया कि वस्तु द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और वही वस्तु पर्यायार्थिक नय से अनित्य है या सामान्य की अपेक्षा से नित्य है तो विशेष की अपेक्षा से अनित्य है, यही वस्तु का स्वरूप है। यदि 'स्यात्' पद का प्रयोग न किया जाय तो वस्तु सर्वथा नित्य ही या सर्वथा अनित्य ही सिद्ध होगी, जो सर्वथा एकान्त रूप ही है, अतः वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु सदा अपने स्वरूप (ध्रौव्यत्व) से रहकर भी परिणमन किया करती है इसलिए वह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, उभय स्वरूप है। यही उसका निर्बाध लक्षण है, जो नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण से सिद्ध होता है। सत् या वस्तु स्वरूप के विषय में प्रायः सभी जैनेतर दर्शनों में बड़ा भारी मतभेद है। जैनदर्शन ने इन सभी मतों की समीक्षा करते हुए उनमें नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित किया है।

4.3.1 अन्य दर्शनों के अनुसार सत् का स्वरूप—

वेदान्त (औपनिषद् शाङ्कर मत) दर्शन सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को केवल नित्य (ध्रुव) ही मानता है तो बौद्धदर्शन 'सर्व क्षणिकं सत्वात्' कहकर सत् को निरन्वय क्षणिक अर्थात् मात्र उत्पाद विनाशशील मानता है।

सांख्यदर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् को तो केवल ध्रुव अर्थात् कूटस्थ नित्य और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को परिणामि नित्य मानता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आकाश, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य और घट–पट, दीपक आदि कुछ सत् पदार्थों को मात्र उत्पाद, व्ययशील अर्थात् अनित्य मानता है, परन्तु जैनदर्शन का सत् (वस्तु) के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाला मन्तव्य उक्त सभी मतों से भिन्न है। वह सत् या पदार्थ के सम्बन्ध में प्रचलित उक्त मान्यताओं या धारणाओं की समीक्षा करते हुए पदार्थ या सत् को न तो सर्वथा नित्य ही कहता है और न सर्वथा अनित्य ही। कारण द्रव्य को सर्वथा नित्य मानने से अर्थ क्रियाकारित्व का विरोध आएगा और वस्तु निष्क्रिय

सिद्ध हो जाएगी। कार्य द्रव्य की अपेक्षा सर्वथा अनित्य मानने से भी वस्तु-उच्छेद का प्रसंग आएगा। अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्याय का त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिक स्वभाव रूप से अन्वय बना रहना ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सत् या द्रव्य के निज रूप हैं।

4.3.2 प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील हैं—

प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें वह परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है। उदाहरणार्थ—एक नन्हे शिशु को लिया जा सकता है। इस शिशु में प्रति क्षण परिवर्तन हो रहा है अतः कुछ समय बाद वह युवा होता है और तदनन्तर वृद्ध। शैशव से युवकत्व और युवकत्व से वृद्धत्व की प्राप्ति तत्क्षण ही नहीं हो जाती है। ये दोनों अवस्थाएँ प्रतिक्षण होने वाला सूक्ष्म परिवर्तन का ही परिणाम है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रतिक्षण होने वाला यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे देखने में असमर्थ हैं, पर इस परिवर्तन के होने पर भी उस शिशु में एकरूपता बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी युवा और वृद्ध अवस्था में भी पहचाना जाता है। यदि द्रव्य को त्रिलक्षणात्मक न मानकर केवल नित्य मानें तो उसमें कूटस्थ नित्यता आ जाएगी और किसी भी प्रकार का परिणमन नहीं हो सकेगा तथा यदि अनित्य मान लिया जाय तो आत्मा के सर्वथा क्षणिक होने से पूर्व में ज्ञात किये गये पदार्थों का स्मरण आदि व्यापार भी नहीं बन सकेगा।

4.3.3 जैनदर्शन के अनुसार सत् का स्वरूप—

इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार सत् (वस्तु) पूर्णरूप से केवल कूटस्थ नित्य या केवल निरन्वय विनाशी या उसका अमुक भाग कूटस्थ नित्य और अमुक भाग परिणामि नित्य अथवा उसका कोई भाग तो मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। इसके अनुसार चाहे चेतन हो या जड़, मूर्त हो या अमूर्त, सूक्ष्म हो या स्थूल, सभी सत् कहलाने वाली वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं, नित्यानित्य स्वभाव वाली हैं।

जैनदर्शन में वस्तु के एकान्तरूप नित्यरूप और अनित्यत्व की समीक्षा की गयी है। विश्व में न कोई वस्तु सर्वथा नित्य है और न कोई सर्वथा अनित्य, दोनों सम स्वभाव हैं। पुद्गल से लेकर आकाश पर्यन्त सभी वस्तुओं का स्वरूप एक सा है अर्थात् वे नित्यानित्य स्वभाव वाली हैं। ऐसा नहीं है कि आकाश और आत्मा आदि पदार्थ सर्वथा नित्य हों और पुद्गल आदि पदार्थ सर्वथा अनित्य। जैसा कि न्याय वैशेषिक आदि मानते हैं। द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य। जिस प्रकार आकाश द्रव्य रूप से नित्य है उसी प्रकार पुद्गल भी नित्य है और जिस प्रकार पुद्गल पर्याय रूप से अनित्य है उसी प्रकार आकाश भी अनित्य है। चूँकि प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अतएव पुद्गल, आकाश और आत्मा आदि पदार्थ भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप हैं, उनमें भी प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय की धारा चल रही है पर इस धारा के चलने पर भी उनका स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। जिस समय दीपक के तेज परमाणु तम रूप पर्याय में परिवर्तित होते हैं, उस समय तेज परमाणुओं का व्यय होता है और तम रूप पर्याय का उत्पाद होता है तथा दोनों अवस्थाओं में द्रव्य रूप दीपक विद्यमान रहता हैं इसलिए द्रव्य या स्वस्वरूप की अपेक्षा दीपक नित्य है और पर्याय या परिवर्तित अवस्थाओं की अपेक्षा अनित्य है। इसी प्रकार आकाश भी नित्यानित्य स्वरूप है; क्योंकि जिस समय आकाश में रहने वाले जीव-पुद्गल आकाश के एक प्रदेश को छोड़कर दूसरे प्रदेश के साथ संयुक्त होते हैं उस समय आकाश में पूर्व प्रदेशों से जीव-पुद्गलों के विभाग या अलग होने की अपेक्षा से आकाश में व्यय और उत्तर प्रदेशों के साथ संयोग होने से उत्पाद तथा पूर्वोत्तर दोनों पर्यायों में आकाश द्रव्य के विद्यमान रहने से ध्रौव्य अवस्था पाई जाती है इसलिए द्रव्य या स्व स्वरूप की अपेक्षा से आकाश नित्य है और पर्याय या परिवर्तित अवस्थाओं की अपेक्षा से अनित्य है। इसी प्रकार आत्मा भी नित्यानित्यात्मक है। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माना जाय, वह सदा एकरस रहे, उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न माना जाय तो पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, शुभाशुभ कर्मों की फल प्राप्ति आदि सब निरर्थक हो जाएँगे। ये शिक्षालय, ये देवालय आदि आत्मा पर कोई भी शिक्षा या पवित्रता का संस्कार नहीं डाल सकेंगे। एक आदमी की गाली से दूसरे का मुँह लाल हो जाता है, उसे क्रोध आ जाता है, साधु की संगति से शान्ति लाभ होता है,

इत्यादि सभी परिवर्तन असम्भव हो जाएँगे। नर से नारायण बनने की बात कल्पना मात्र ही रह जाएगी और यदि आत्मा को सर्वथा अनित्य या परिवर्तनशील ही माना जाय अर्थात् जो प्रथम क्षण में है वह द्वितीयादि क्षणों में नहीं रहता, सर्वथा क्षणिक है, इस प्रकार आत्मा का स्वरूप माना जाय तो जगत् का लेन–देन, गुरु–शिष्य, पिता–पुत्र आदि का प्रसिद्ध व्यवहार ही नहीं बन सकेगा। सब यही कहेंगे, किसको दिया ? किसने दिया ? जिसको दिया वह तो गया, जिसने दिया वह भी नहीं है, कहने वाला भी नया ही होगा क्योंकि आत्मा को सर्वथा क्षणिक और सदा परिवर्तनशील जो माना गया है अतः तर्क और अनुभव हमें यही बताता है कि अवस्थाओं में परिवर्तन होने पर भी उन सभी अवस्थाओं का सूत्रधार एक द्रव्य स्थिर अवश्य है, जिसमें ये सभी रंग–बिरंगे परिवर्तन होते रहते हैं। 'मैं वही हूँ 'मैं बचपन में स्कूल में पढ़ता था' आदि ज्ञान इस बात के साक्षी हैं कि अनेक अवस्थाओं में 'मैं' का वाच्य एक धारा प्रवाही द्रव्य अवश्य है और वह है 'आत्मा'। इसी प्रकार अचेतन जगत् में परिवर्तन होकर भी परिवर्तन का आधार परमाणु स्थिर बना रहता है। वस्तुतः परमाणु ही एक द्रव्य है। परमाणुओं के समुदाय से बने हुए स्कन्ध कितने ही परिवर्तित हो जाएँ पर वे परमाणुत्व को नष्ट नहीं कर सकते। एक कपड़ा है, उसमें आग लगा दीजिए, राख हो जाएगा। राख को पानी में डाल दीजिए, घुलकर पानी बन जाएगी, पानी सूखकर भाप बन जाएगा, फिर खेत में पहुँचकर गेहूँ बन जाएगा पर उसका एक भी अणु जगत् से नष्ट हो सकता भले ही वह एक स्कन्ध के हटकर दूसरे में जा मिले। इस प्रकार यह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाद या परिणामवाद जगत् के कण–कण में व्याप्त है। प्रतिक्षण इस परिणाम या परिणमन या परिवर्तन के होते हुए भी वस्तु में एकरूपता प्रवाहित रहती है। कोई भी वस्तु इस त्रिलक्षण स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करती; क्योंकि सब पर स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या नयवाद की छाप लगी हुई है। कोई भी वस्तु स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती किन्तु जैनदर्शन की इस मान्यता को स्वीकार न करने वाले न्याय वैशेषिक आकाश आदि पदार्थों को केवल नित्य और दीपक आदि को केवल अनित्य ही स्वीकार करते हैं।

4.4 जैनदर्शनानुसार वस्तु का स्वरूप—

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का स्वभाव द्रव्य पर्यायरूप है। उसमें प्रतिक्षण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह त्रिरूप पाया जाता है। जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य इस त्रिरूप से युक्त या तदात्मक है, वह सत् है और जो सत् है वही द्रव्य या वस्तु का लक्षण है।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश हैं, एक अंश ऐसा है जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण हर एक वस्तु ध्रौव्यात्मक (नित्य) है और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद–व्ययात्मक (अनित्य) है। इन दोनों में से किसी एक की ओर ही दृष्टि जाने से और दूसरे की ओर न जाने से वस्तु केवल नित्य या केवल अनित्य ही मालूम होती है; किन्तु दोनों अंशों की ओर दृष्टि देने से वस्तु का पूर्णरूप या यथार्थ स्वरूप मालूम किया जा सकता है।

4.4.1 सत् का नित्यत्व—

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक होना ही वस्तु मात्र का स्वरूप है, यही स्वरूप सत् कहलाता है। सत् स्वरूप नित्य है अर्थात् वह तीनों कालों में एक सा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु मात्र में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हों और कभी न हों। प्रत्येक समय में उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं। यही सत् का नित्यत्व है।

चूँकि सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। यह जैनदर्शन की द्रव्य या तत्त्व व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—किसी भाव (सत्) का विनाश नहीं होता और अभाव (असत्) का उत्पाद नहीं होता। सभी भाव (सत्) अपने गुण और पर्यायों में उपजते और विनशते रहते हैं।

4.4.2 भगवत् गीता के अनुसार सत्-असत् का स्वरूप—

गीता में भी यही भाव अभिव्यक्त है—

असत् का कभी भाव (उत्पाद या उत्पत्ति) नहीं होता है और सत् का कभी अभाव (व्यय या विनाश) नहीं होता है।

लोक में जितने सत् हैं, वे मौलिक सत् हैं उनकी संख्या में कभी भी हेर-फेर नहीं होता, न कोई नया सत् कभी उत्पन्न हुआ था, न होता है और न होगा। इसी तरह किसी विद्यमान सत् का न कभी नाश हुआ था, न होता है और न होगा। समस्त सत् गिने हुए हैं। प्रत्येक सत् अपने में परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

4.4.3 जैनदर्शन इस विषय में क्या कहता है ?—

प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपनी वर्तमान पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय को धारण करता हुआ वर्तमान को भूत तथा भविष्यत् को वर्तमान बनाता हुआ आगे चला जा रहा है। चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक सत् इस परिणाम चक्र पर चढ़ा हुआ है। यह उसका निज स्वभाव है कि वह प्रतिसमय पूर्व को छोड़कर अपूर्व को ग्रहण करे। यह पर्याय परम्परा अनादिकाल से चल रही है। कभी भी यह न रुकी थी और न रुकेगी। जिस प्रकार आधुनिक भौतिकवादियों ने पदार्थ को सतत गतिशील माना है और उसमें दो विरोधी धर्मों का समागम मानकर उसे अविराम गतिमय कहा है, ठीक यही बात जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से ध्वनित होती है। पदार्थ में उत्पाद और व्यय इन दो विरोधी शक्तियों का समागम है जिसके कारण पदार्थ निरन्तर उत्पाद और व्यय के चक्र पर घूम रहा है। उत्पाद शक्ति जैसे ही नवीन पर्याय को उत्पन्न करती है तो व्यय शक्ति उसी समय पूर्व का नाश कर देती है। इस अनिवार्य परिवर्तन के होते हुए भी कभी द्रव्य का अत्यन्त विनाश नहीं होता। वह ध्रौव्यत्वेन विद्यमान रहता है। चेतन या अचेतन द्रव्य में अपनी जाति को न छोड़ते हुए जो पर्यायान्तर या किसी नवीन पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह उत्पाद है। जैसे—मिट्टी के पिण्ड का घट पर्याय रूप से उत्पन्न होना उत्पाद है। पूर्व पिण्ड रूप पर्याय का नाश होना व्यय है अर्थात् घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड रूप आकृति का नाश होना व्यय है। अनादि काल से चले आ रहे अपने पारिणामिक स्वभाव रूप से न व्यय होता है और न उत्पाद होता है; किन्तु वह स्थिर रहता है, इसी का नाम ध्रुव है। जैसे—पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मिट्टीपना ध्रुव है। पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है इसलिए एक मिट्टी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव है। इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे—कोयला जलकर राख हो जाता है। इसमें कोयला रूप पर्याय का व्यय होता है और क्षार रूप पर्याय का उत्पाद होता है; किन्तु दोनों अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व अचल रहता है। उसके पुद्गल तत्त्व का कभी भी विनाश नहीं होता, यही उसकी ध्रौव्यता है। इसी प्रकार सोने के कड़े को तोड़कर जंजीर बनाई गयी तो इसमें कड़े रूप पर्याय का विनाश और उसी क्षण जंजीर रूप पर्याय का उत्पाद हुआ; किन्तु स्वर्ण द्रव्य कड़े और जंजीर दोनों अवस्थाओं में बना रहा, वह कहीं भी नहीं चला गया, उसकी सत्ता दोनों अवस्थाओं में है, यही ध्रौव्यता है।

4.4.4 प्रत्येक पदार्थ भी परिवर्तनशील है—

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें यह परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है। विशेषता यह है कि द्रव्य में इस प्रकार का परिवर्तन होने पर भी वह सदा अपने स्वरूप की अपेक्षा से बराबर विद्यमान रहता है। जैसे—दूध कुछ समय बाद दही रूप में परिणम जाता है और फिर दही का मट्ठा बना लिया जाता है। यहाँ यद्यपि दूध से दही और दही से मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ दिखाई देती हैं पर हैं ये तीनों एक गोरस की ही। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में अवस्था भेद के होने पर भी उसका अन्वय पाया जाता है इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सिद्ध होता है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रिपुटी में वर्तमान हो रहा है। यह उसका सामान्य स्वभाव है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक ही द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप कैसे हो सकता है ? कदाचित् काल भेद से उसे उत्पाद, व्यय रूप मान भी लिया जाए; क्योंकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तर में नाश अवश्य होता है तथापि ऐसी अवस्था में वह ध्रौव्य रूप नहीं हो सकता है; क्योंकि जिसका उत्पाद और व्यय होता है उसे ध्रौव्य स्वभाव मानने में विरोध आता है ?

4.4.5 अवस्था भेद से द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों हैं—

इसका समाधान है कि अवस्था भेद से द्रव्य में ये तीनों उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माने गये हैं। जिस काल द्रव्य में पूर्व अवस्था नाश को प्राप्त होती है उसी समय उसकी नयी अवस्था उत्पन्न होती है। फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय स्वभाव बराबर बना रहता है इसलिए प्रत्येक द्रव्य उक्त त्रिपदी युक्त है, त्रयात्मक है। द्रव्य की इस त्रयात्मकता को एक उदाहण द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है—एक राजा के पास एक स्वर्ण घट है। राजकुमार उसे तुड़वाकर मुकुट बनवाना चाहता है और राजकुमारी को वह स्वर्ण कलश ही अत्यधिक प्रिय है; क्योंकि वह उसमें पानी भरकर उससे खेलती है; किन्तु राजा को स्वर्ण ही प्रिय है, चाहे वह कलश रूप में हो चाहे मुकुट रूप में। इस प्रकार एक कलश को लेकर तीनों व्यक्तियों के तीन प्रकार के मनोभाव हैं, जो निर्बाध हैं।

घट की इच्छुक राजकुमारी स्वर्ण की घट पर्याय का नाश होने पर दु:खी होती है, मुकुट का इच्छुक राजकुमार स्वर्ण की मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर हर्षित होता है और मात्र स्वर्ण का इच्छुक राजा घट पर्याय का नाश और मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर न तो दुखी होता है और न हर्षित ही होता है; किन्तु मध्यस्थ रहता है। इन तीनों व्यक्तियों का एक स्वर्ण घट के आश्रय से होने वाला यह कार्य अहेतुक नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि स्वर्ण की घट पर्याय का नाश और मुकुट पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी स्वर्ण का न तो नाश होता है और न उत्पाद ही। स्वर्ण तो घट, मुकुट आदि प्रत्येक अवस्था में स्वर्ण ही बना रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक ही है।

एक दूसरे उदाहरण द्वारा भी इसी विषय को स्पष्ट किया गया है—जिसने दूध पीने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता, जिसने दही खाने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस के सेवन नहीं करने का व्रत लिया है वह दूध और दही दोनों का उपयोग नहीं करता। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है, युगपत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों रूपों से युक्त है।

4.4.6 सम्पूर्ण वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है—

एक ही वस्तु में प्रतीति का नानापन उस वस्तु के विनाश, उत्पाद और स्थिति (ध्रौव्य) का साधक जान पड़ता है। जो दूध रूप से नाश को प्राप्त हो रहा है वही दधिरूप से उत्पद्यमान और गोरस रूप से विद्यमान (ध्रौव्य) है; क्योंकि दूध और दही दोनों ही गोरस रूप हैं। गोरस की एकता होते हुए भी जो दधिरूप है वह दुग्ध रूप नहीं, जो दुग्ध रूप है वह दधिरूप नहीं; ऐसा व्रतियों के द्वारा द्रव्य–पर्याय की विभिन्न प्रतीतिवश भेद किया जाता है। यदि प्रतीति में त्रिरूपता न हो तो एक के ग्रहण में दूसरे का त्याग नहीं बनता।

इस तरह वस्तु तत्त्व के त्रयात्मक साधन द्वारा उसका प्रस्तुत नित्य–अनित्य और उभय साधन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि एक ही वस्तु में स्थिरता के व्यवस्थापन द्वारा कथंचित् नित्यत्व और नाशोत्पाद के प्रतिष्ठापन द्वारा कथंचित् अनित्यत्व सिद्ध होता है और इसलिए यह ठीक ही कहा जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु समूह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

4.4.7 महर्षि पतंजलि के अनुसार वस्तुस्वरूप—

वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यत्व अथवा नित्यत्व अनित्यत्व का कथन महर्षि पतंजलि ने भी किया है। उन्होंने लिखा है—

'द्रव्य नित्य है और प्रकृति अर्थात् अवस्था अनित्य है। स्वर्ण का एक आकार पिण्ड है, उसका विनाश कर माला बनाई जाती है, माला का विनाश कर कड़े बनाये जाते हैं, कड़ों को तोड़कर स्वस्तिक बनाये जाते हैं। फिर घूम–फिर कर स्वर्ण पिण्ड हो जाता है। फिर उसके विवक्षित आकार खदिर के अंगार के समान दो कुण्डल हो जाते हैं। इस प्रकार एक के बाद दूसरा आकार होता रहता है; परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकार का नाश करने से एक मात्र द्रव्य ही शेष रहता है।

4.4.8 मीमांसक के अनुसार वस्तुस्वरूप—

कुमारिल भट्ट मीमांसक ने भी जैन दर्शन की उक्त त्रयात्मकता का उल्लेख करते हुए कहा है—

'जब सोने के एक प्याले को तोड़कर माला बनाई जाती है तब प्याला चाहने वाले को शोक होता है, माला चाहने वाले को हर्ष होता है और सोने का इच्छुक मध्यस्थ रहता है। इससे वस्तु के त्रयात्मक होने की सूचना मिलती है। उत्पाद, स्थिति और व्यय के अभाव में तीन प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्याले का नाश हुए बिना शोक नहीं हो सकता, माला की उत्पत्ति हुए बिना हर्ष नहीं हो सकता और सोने के स्थायित्व के बिना माध्यस्थ भाव नहीं हो सकता अतः वस्तु सामान्य से नित्य है।

ये दोनों उल्लेख यद्यपि सामान्यतः जैनदर्शन के अनुकूल प्रतीत होते हैं, पर इनमें जैनदर्शन से मौलिक अन्तर है। ये मुख्यतः नैयायिक दर्शन के दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करते हैं। नैयायिक दर्शन का मन्तव्य है कि कारण द्रव्य सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य सर्वथा अनित्य। इन दोनों उल्लेखों का भी यही भाव प्रतीत होता है। महर्षि पतंजलि तो द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं; किन्तु जैनदर्शन का दृष्टिकोण किसी एक को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने का नहीं है। दृष्टि भेद से वही द्रव्य नित्य है और वही अनित्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये द्रव्य की अवस्था में हैं। द्रव्य इनमें व्याप्त कर स्थित है इसलिए द्रव्य कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। दृष्टि या अपेक्षा भेद से द्रव्य में एक साथ ही एक ही समय में नित्यानित्यात्मकता पाई जाती है। इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

4.5 जैनदर्शन की नित्यानित्यात्मकता—

जैनेतर दार्शनिकों को यह शंका बराबर बनी रहती है कि जैनदर्शन की नित्यानित्यात्मकता एक ही समय में कैसे बन सकती है ? ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म एक ही द्रव्य में एक ही साथ, एक ही समय में कैसे रह सकते हैं ?

इसका बहुत ही सुन्दर सयुक्तिक समाधान आचार्य श्री उमास्वामी ने किया है—

अर्पित (विवक्षित) या मुख्यता और अनर्पित (अविवक्षित) या गौणता की अपेक्षा से एक वस्तु में एक ही साथ, एक ही समय में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों की सिद्धि बराबर हो जाती है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि मुख्य गौण की विवक्षा भेद से एक ही वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म रहते हैं। वस्तु अनेक धर्मात्मक है अतः उसमें मुख्य और गौण रूप से नाना धर्म एक साथ रह सकते हैं, उनमें एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता है और वस्तु स्वरूप की सिद्धि हो जाती है। जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य या प्रधान हो जाता है और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं। वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि से वस्तु का प्रतिपादन करता है तो नित्यता विवक्षित या मुख्य रहती है और अनित्यता अविवक्षित या गौण हो जाती है तथा यदि पर्यायार्थिक नय या पर्याय दृष्टि से प्रतिपादन करता है तो अनित्यता विवक्षित या मुख्य रहती है और नित्यता अविवक्षित या गौण हो जाती है। जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य या स्वरूप की अपेक्षा से नित्य कहा जा रहा है उसी समय वह पदार्थ पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों की सत्ता स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं आता है। जो वस्तु एक दृष्टि से अस्तिरूप, एकरूप और नित्यरूप है वही वस्तु दूसरी दृष्टि से नास्ति रूप, अनेक रूप और अनित्य रूप भी है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है—

एक बहुत बड़ा दार्शनिक विद्वान् था, जो निरन्तर चिन्तन, मनन और अध्ययन में संलग्न रहा करता था। उसे बाहर की, यहाँ तक कि अपनी गृहस्थी और अपने खाने-पीने की भी कोई चिन्ता नहीं रहती थी। एक कमरे में बन्द रहा करता था, किसी से मिलता-जुलता भी नहीं था। एक दिन उसकी पत्नी ने झुँझलाकर पूछा—क्या मामला है ? इतना

एकान्तवास और ज्ञानार्जन करके क्या किया ? और क्या करोगे ? दार्शनिक ने सौम्यभाव से कहा—अच्छा प्रिये ! आओ! चलो, आज घूमने चलें, वहीं तुम्हारे इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देंगे। दोनों चल दिये घूमने। घूमते-घूमते पहुँचे गंगा किनारे। गंगा किनारे खड़े होकर दार्शनिक ने पूछा—प्रिये! बताओ कि हम दोनों इस पार हैं या उस पार ? वह बोली—इस पार। उसने फिर पूछा—प्रिये ! जरा सोचो और बताओ कि हम दोनों इस पार हैं या उस पार ? वह बोली—इसमें सोचना-विचारना क्या है ? यह तो स्पष्ट ही दिख रहा है कि हम लोग इस पार हैं। वह बोला—अच्छा! आओ, बैठो इस नौका में, चलो चलें उस पार। पहुँचे उस पार। दार्शनिक ने फिर वही पूछा—प्रिये! अच्छा! अब बताओ ? हम दोनों इस पार हैं या उस पार ? उसने फिर वही उत्तर दिया—इस पार। तब वह बोला—अरे ! जब हम दोनों वहाँ थे, तब कह रहीं थीं कि 'इस पार' और जब हम दोनों यहाँ हैं, तब भी वही कह रही हो, 'इस पार'। क्या बात है ? समझी कुछ। वास्तव में यह न 'इस पार' है न 'उस पार' किन्तु विचार करने पर उस पार की अपेक्षा यह पार 'इस पार' है और इस पार की अपेक्षा वह पार भी 'इस पार' है। इस प्रकार 'यह पार' इस पार भी है और उस पार भी है तथा वह पार भी इस पार भी है और उस पार भी है। एक ही व्यक्ति, एक ही साथ, एक ही समय में पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, भतीजा भी है, मामा भी है, भानजा भी है, श्वसुर भी है, जामाता भी है, छोटा भी है, बड़ा भी है। अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। अपने भाई की अपेक्षा भाई है और अपने पिता के भाई की अपेक्षा भतीजा है। अपने भानजे की अपेक्षा मामा है और अपने मामा की अपेक्षा भानजा है। अपने जामाता की अपेक्षा श्वसुर है जो अपने श्वसुर की अपेक्षा जामाता है। अपने से बड़े की अपेक्षा छोटा है तो अपने से छोटे की अपेक्षा बड़ा है।

4.5.1 अनेकान्तात्मक वस्तु की निर्विरोध सिद्धि—

इस तरह ये सब विरोधी प्रतीत होने वाले सम्बन्ध एक ही व्यक्ति में सम्बन्धी भेद से रहते हैं, इनमें कोई विरोध नहीं आता है। इसी तरह वस्तु धर्मों की भी व्यवस्था है। न कोई वस्तु सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत्, न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक किन्तु विवक्षा या अपेक्षा भेद से सत् भी है और असत् भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है और अनेक भी। इस तरह अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक वस्तु की निर्विरोध सिद्धि होती है। वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने पर भी ज्ञाता किसी एक धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे—व्यक्ति में अनेक सम्बन्धों के होते हुए भी प्रत्येक सम्बन्धी अपनी दृष्टि से ही उसे पुकारता है। उसका पिता उसे पुत्र कहकर पुकारता है तो उसका पुत्र उसे पिता कहकर पुकारता है किन्तु व्यक्ति न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही। यदि वह केवल पिता ही हो तो अपने पुत्र की तरह अपने पिता का भी पिता कहलाएगा या यदि वह केवल पुत्र ही हो तो अपने पिता की तरह अपने पुत्र का भी पुत्र कहलाएगा अतः व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी है इसमें कोई विरोध नहीं। इस प्रकार पिता-पुत्र, मामा-भानजा, चाचा-भतीजा, श्वसुर-जामाता, छोटा-बड़ा आदि आपेक्षिक धर्मों की तरह एक ही द्रव्य में नित्यत्व-अनित्यत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता है। वस्तु जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार अनित्य भी है। एक दृष्टि से नित्य है तो दूसरी दृष्टि से अनित्य।

4.5.2 वस्तु के वस्तुत्व और नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण से लाभ—

वस्तु का वस्तुत्व दो बातों पर कायम है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप को अपनाये हुए है और अपने से भिन्न अनन्त वस्तुओं के स्वरूप को नहीं अपनाये हुए है, तभी उसका वस्तुत्व कायम है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो वह वस्तु ही नहीं रहेगी। जैसे यदि घट अपने स्वरूप को न अपनाए तो वह गधे के सींग की तरह अवस्तु कहलाएगा। अपने स्वरूप को अपनाकर भी यदि वह अपने से भिन्न पट आदि वस्तुओं के स्वरूप को भी अपनाये तो घट-पट में कोई भेद ही नहीं रहेगा। अतः घट घट ही है, घट पट नहीं है। इन दो बातों पर ही घट का अस्तित्व बनता है। इसे ही कहते हैं, घट है भी और नहीं भी है। अपने स्वरूप से है और अपने से भिन्न स्वरूप से नहीं है। इसी तरह घट नित्य भी है और अनित्य भी है। घट मिट्टी से बना है। घट फूटने पर भी मिट्टी तो रहेगी ही अतः अपने मूल कारण मिट्टी द्रव्य के नित्य होने से घट नित्य

है और घट पर्याय तो नित्य नहीं है, घट के फूटते ही वह मिट जाती है अतः घट पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। त्रैकालिक अन्वयरूप परिणाम की अपेक्षा नित्य है और प्रतिसमय होने वाली पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इससे वस्तु की परिणामी नित्यता सिद्ध होती है किन्तु इन दोनों धर्मों का वस्तु में एक साथ कथन नहीं किया जा सकता है, उनका क्रम से कथन करना पड़ता है इसलिए जिस समय जिस धर्म का कथन किया जाता है उस समय उसको स्वीकार करने वाली दृष्टि मुख्य हो जाती है और इससे विरोधी धर्म को स्वीकार करने वाली दृष्टि गौण हो जाती है। इस प्रकार मुख्यता और गौणता के विवक्षा भेद से एक ही वस्तु में, एक ही साथ और एक ही समय में परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले धर्मों के अस्तित्व की सिद्धि भली–भाँति हो जाती है। जैनदर्शन के अनुसार यही सत् या वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, जो नयों की सापेक्षता या समन्वयवादी दृष्टिकोण से सिद्ध होता है।

नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण द्वारा यह तो विभिन्न दार्शनिक पक्षों का समन्वय है, इसी प्रकार नयों के इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रयोग यदि लौकिक जीवन जगत् के व्यवहारों में भी किया जाय तो हमारे दैनिक जीवन व्यवहारों में पद–पद पर पैदा होने वाले विवाद, मतभेद, संघर्ष और गृहकलह समाप्त होकर हमारा वर्तमान जीवन सुखी और शान्त हो सकता है। और तो क्या, यदि आज के विश्व की वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए भी इस समन्वयवादिता का प्रयोग किया जाय तो विश्व के सभी राष्ट्रों की तनावपूर्ण समस्याओं का समाधान सहज ही हो सकता है।

4.6 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु.....है।

(क) अनेक धर्मात्मक ☐
(ख) अति सुन्दर ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-अनेकांत किसे कहते हैं ?

(क) मिथ्या ज्ञान को ☐
(ख) सम्यक् ज्ञान को ☐
(ग) एकान्तों के समूह को ☐

प्रश्न 3-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों मिलकर ही.....है।

(क) पदार्थ का लक्षण ☐
(ख) द्रव्य का लक्षण ☐
(ग) अनेकांत का लक्षण ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भारतीय दर्शनों के क्षेत्र में जैनदर्शन की मौलिक देन क्या है ? सिद्ध कीजिए ?

प्रश्न 2-नय मिथ्या कैसे हो जाते हैं ?

प्रश्न 3-नयवाद हमें कौन सी कला सिखाता है ?

प्रश्न 4-जैनदर्शन के अनुसार वस्तु का स्वभाव क्या है ? और उसमें प्रतिक्षण क्या पाया जाता है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वस्तु के वस्तुत्व को बताते हुए यह बताइए कि नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण से क्या लाभ है ?

इकाई–3 अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकांत : विभिन्न दृष्टिकोण

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) विभिन्न धर्म–दर्शन में अहिंसा का स्वरूप

(2) जैनधर्म में अहिंसा का विवेचन

(3) अपरिग्रह

(4) अनेकांतवाद : एक दार्शनिक विश्लेषण

पाठ-1–विभिन्न धर्म–दर्शन में अहिंसा का स्वरूप

1.1 अहिंसा सार्वभौमिक है—

विश्व में जितने भी धर्म, दर्शन या सम्प्रदाय हैं, सभी ने अहिंसा जैसे महान् धर्म के बारे में अपनी–अपनी तरह से चिन्तन किया है। इस दृष्टि से अहिंसा सार्वभौमिक भी है। हम अहिंसा को किसी एक धर्म की उपज या मान्यता नहीं कह सकते। यह तो आत्मा का धर्म है। जो भी आत्मा को मानता है, वह किसी न किसी रूप में अहिंसा को भी स्वीकृति देता है। यह अवश्य है कि किसी धर्म ने तो अहिंसा की विस्तृत व्याख्या की और किसी ने अपेक्षाकृत संक्षिप्त और अपनी सुविधानुसार, किन्तु अहिंसा के बारे में सोचा सभी ने और अपनी–अपनी शैली में उसे व्याख्यायित भी किया। यही कारण है कि मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म 'अहिंसा' मान्य किया गया।

भारत इस विषय में अग्रणी देश है। भारत की आत्मा 'अहिंसा' रही है। जो लोग अहिंसा को बिल्कुल जानते तक नहीं थे, उन्होंने भारत आकर अहिंसा को सीखा, उससे प्रभावित हुए और उसे अपनाया। इसलिए भारत का अहिंसा सन्देश, भारत के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में दिखायी देता है, इसी के बल पर आज भी यह सम्पूर्ण विश्व को शान्ति का पाठ पढ़ा रहा है।

भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में फैले हुए धर्मों में 'अहिंसा की गूँज' किसी न किसी तरह सुनाई देती है। कुछ प्रमुख धर्मों में अहिंसा का विचार किस प्रकार प्रस्फुटित हुआ, उसी का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

1.1.1 वैदिक धर्म और अहिंसा—

संसार की प्राचीन सभ्यताओं में से एक वैदिक सभ्यता भी है। वैदिक परम्परा का प्रारम्भिक स्रोत वेद है। इसमें वेद को ईश्वर की वाणी माना जाता है तथा इसका रचयिता किसी पुरुष को नहीं माना जाता, इसलिए इसे अपौरुषेय कहा जाता है। यह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी का अद्भुत संकलन है, इसमें ऋषियों ने प्रार्थना के रूप में अहिंसा शब्द का प्रयोग किया है—

'अहिंसन्ती' तथा 'अहिंसन्तीरमानया'

इस परम्परा में वेदों को सबसे अधिक पवित्र ग्रंथ माना जाता है, जिसका एक अर्थ 'ज्ञान' है। इसीलिए वेद को ज्ञान का भण्डार माना जाता है। वेदों की संख्या चार है—(1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) अथर्ववेद और (4) सामवेद। इनमें ऋग्वेद को विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक कहा जाता है।

1.1.2 अहिंसक मित्र की कामना से ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं—

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे।।

अर्थात् हम अभिगमन (संगति) प्राप्त करें। मित्रभूत या मित्र के द्वारा दिखाये हुए मार्ग पर हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें घर में प्राप्त हो।

शान्ति की भावना का व्यापक स्वरूप हमें यजुर्वेद के शान्तिमन्त्र में दिखायी देता है, जिसमें कामना की गयी है कि द्युलोक रूप, अन्तरिक्ष लोकरूप, भूलोकरूप, जलरूप, औषधिरूप, वृक्षरूप, सर्वदेशरूप, वेदत्रयीरूप, सर्वगरूप, तथा स्वरूपतः जो शान्ति है, वही शान्ति मेरे लिए हो।

1.1.3 यजुर्वेद का मन्त्र इस प्रकार है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी,
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म
शान्तिः, सर्वं शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।

इसी प्रकार वेदों के अनेक मन्त्रों, ऋचाओं में अहिंसादर्शन की भावनायें समाहित मिलती हैं। वेदों के बाद उपनिषद् साहित्य में भी अहिंसा और शान्ति की व्यापक चर्चा हुई है। छान्दोग्योपनिषद् में तप, दान, आर्जव (सरलता) अहिंसा और सत्य को आत्मयज्ञ की दक्षिणा माना है। शाण्डिल्योपनिषद् में दश यम की चर्चा करते हुए अहिंसा को प्रथम स्थान पर रखा है। अन्य उपनिषदों में भी अहिंसा की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं।

1.1.4 अन्य ग्रंथों में अहिंसा—

स्मृति साहित्य में भी अहिंसा सम्बन्धी भावनायें जगह-जगह व्यक्त की गई हैं। इनमें मनुस्मृतिकार ने माँस नहीं खाने वालों को उतना ही पुण्यवान् माना है जितना पुण्य किसी व्यक्ति को सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करने पर प्राप्त होता है—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत् शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।।

अहिंसा की व्याख्या में यह भी कहा गया है कि प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसा का पूर्ण अनुशासन जरूरी है। इन्द्रियनिग्रह (संयम), राग–द्वेष परित्याग और अहिंसा के आचरण से सन्यासी मोक्ष प्राप्त करता है।

इसी प्रकार रामायण और महाभारत में भी अहिंसाधर्म की विस्तृत व्याख्या है। महाभारत में अहिंसा की व्यापकता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि अहिंसा परमतत्त्व, परमधर्म, परमतप, परमसत्य और अन्यधर्मों का उद्गमस्थल है।

इस प्रकार अहिंसा की अनेक स्थलों पर व्यापक व्याख्या की गई है। गीता में श्रीकृष्ण ने अहिंसा को तप तथा मुक्ति का साधन माना है।

अठारह पुराणों में भी अहिंसा का विशद विवेचन है। गरुणपुराण में कहा गया है कि मन, वचन और कर्म से सभी जीवों के प्रति हिंसा के निवृत्त होना परम सुखकारी अहिंसा धर्म है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
हिंसाविरामको धर्मो ह्याहिंसा परमं सुखम्।।

मत्स्यपुराण में तो अहिंसा की महिमा बतलाते हुए यहाँ तक लिखा है कि चार वेदों के गम्भीर अध्ययन या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है, उससे कई गुना अधिक पुण्य अहिंसाव्रत के पालन से होता है।

चतुर्वेदेषु यत् पुण्यं पुण्यं सत्यवादिषु।
अहिंसायान्तु यो धर्मो गमनादेव तत्फलम्।।

अहिंसा को परम धर्म मानने वाले वेदाचार्य यज्ञों में पशु बलि का समर्थन कैसे कर सकते हैं ? फिर भी यज्ञ कार्य में पशु बलियाँ हुयी हैं। तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर उसे उचित भी ठहराया गया है। फिर भी वैदिक साहित्य में इस बात पर भी खुलकर चर्चा हुयी है कि कहीं वेदों में जो अज आदि का उल्लेख है उसका कोई और अर्थ (जो कि पशु से इतर हो) तो नहीं ?

महाभारत में कहा है कि मनु ने कभी कार्यों में अहिंसा का प्रतिपादन किया है। यज्ञ में पशुबलि आदि लोगों की मनमानी/स्वच्छन्दता के कारण होती है।

न वधः पूज्यते वेदे, हितं नैव कथंचन।

अर्थात् वेद में हिंसा की प्रशंसा नहीं की गई है। हिंसा से किसी प्रकार का हित/कल्याण भी नहीं हो सकता।

इस महत्त्वपूर्ण विषय पर डॉ. कृष्णा आचार्य ने अत्यन्त श्रमपूर्वक अपने शोध ग्रंथ 'पशु यज्ञ मीमांसा' पर गहराई से विचार–विमर्श किया है।

योगदर्शन में 'यम' के अन्तर्गत अहिंसा की विशद व्याख्या प्राप्त होती है।

1.2 बौद्धधर्म और अहिंसा—

बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ईसापूर्व छठी शताब्दी में जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के समकालीन हुए हैं। इस धर्म का जन्म भले ही भारत में हुआ हो किन्तु यही एक ऐसा भारत का धर्म है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के विविध अञ्चलों में सर्वाधिक रहा है। आज भी यह दुनिया के अनेक राष्ट्रों का राष्ट्रीय धर्म है।

बौद्धधर्म में आरम्भ से ही अहिंसा की प्रधानता रही है। यह धर्म भी कोरे क्रियाकाण्ड तथा यज्ञों में पशुबलि इत्यादि का सदा से विरोधी रहा है। बौद्धधर्म के पालि भाषा में रचित पवित्र ग्रंथ 'त्रिपिटक' माने जाते हैं। त्रिपिटकों में अहिंसाधर्म की विस्तृत व्याख्या की गई है। संयुक्तनिकाय में स्पष्ट लिखा है कि मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाए। धम्मपद का वाक्य है कि अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिए प्रेरित करता है। विनयपिटक के अनुसार अहिंसा का पथिक स्थूल जीवों को ही नहीं बल्कि पेड़–पौधों को भी कष्ट नहीं पहुँचाता है।

महात्मा बुद्ध ने 'आर्य' की व्याख्या में अहिंसक व्यक्ति को ही स्वीकार किया है। अहिंसा को आर्य का लक्षण बतलाते हुए वे कहते हैं—

न तेन आरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वपाणानां, आरियो ति पवुच्चति।।

अर्थात् प्राणियों की हिंसा करने से कोई भी व्यक्ति आर्य नहीं कहला सकता बल्कि जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही वस्तुतः आर्य है।

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को शील के अन्तर्गत अहिंसक रहना, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सत्य बोलना तथा नशीले पदार्थों के परित्याग का उपदेश दिया है; ये सभी बातें भिक्षुओं के लिए आवश्यक हैं। भगवान बुद्ध ने मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं पर बहुत बल दिया है—ये भावनाएँ अहिंसा का ही प्रतिफलन हैं।

1.2.1 संयुक्त निकाय में अहिंसा का स्वरूप—

संयुक्तनिकाय में महात्मा बुद्ध ने राजा से कहा—"राजन् ! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्हें अपने से प्यारा कोई भी प्राणी नहीं मिलेगा। जैसे, तुम्हें अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। जो अपनी भलाई चाहते हैं, वे दूसरों को भी कभी नहीं सताते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम–मैत्रीभावना बढ़ाना चाहिए; अतः तुम सदा मन में यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों।"

बुद्ध ने जन्म से किसी को क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र नहीं माना। उनका कहना था कि जिसके अन्तर्मन में सभी प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसे वृषल अर्थात् शूद्र समझना चाहिए।

वे कहते हैं—जैसा मैं हूँ, वैसे ही विश्व के सभी प्राणी हैं और जैसे वे सभी प्राणी हैं, वैसा ही मैं भी हूँ। इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर, न किसी का वध करें, न दूसरों से वध कराएँ—

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्त्वा, न हनेय्य न घातये।।

संयुत्तनिकाय में पशुवध को लेकर महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वहाँ इस कार्य को ही सभी रोगों का कारण माना है—

तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा।
पसूनं च समारंभा, अट्ठानवुतिमागमु।।

अर्थात् पहले विश्व में केवल तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अट्ठानवे नये रोग पैदा हो गए।

तथागत बुद्ध ने राजा प्रसेनजित् को यज्ञहिंसा के लिए रोकते हुए कहा था—"राजन् ! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नहीं होते। यदि तुम्हें यज्ञ ही करना है तो ऐसा यज्ञ करो, जिसमें भेड़–बकरे और गायें न कटतीं हों—ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।"

सुत्तनिपात में महात्मा बुद्ध कहते हैं—"जङ्गम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पद्यमान, जितने भी प्राणी हैं, वे सभी सुखपूर्वक रहें; वे किसी के साथ वञ्चना न करें, न किसी का अपमान करें; वे सभी प्राणियों को उसी प्रकार देखें, जैसे, माता अपने इकलौते पुत्र को देखती है।"

एक बार कुछ बालक साँप को मार रहे थे, तब बुद्ध ने उन्हें समझाते हुए कहा—"जो अपने सुख के लिए दूसरे प्राणियों को मारते हैं, वे मरने के पश्चात् भी सुखी नहीं होते।"

तथागत बुद्ध ने मैत्रीभावना पर अधिक बल दिया था, उनका मानना था कि जिसमें मैत्रीभावना का विकास होता है, वह सुरक्षित रहता है। जैसे, किसी कुल में अधिक पुरुष हों और महिलाएँ कम हों, वह कुल हमेशा तस्करों के भय से मुक्त रहता है; वैसे ही जहाँ मैत्रीभावना प्रबल होती है, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। उनका कहना था कि सभी प्राणी वैर से रहित हों, कोई भी वैर न रखे। सभी प्राणी सुखी हों, कोई दु:ख न पाये। मन ज्यों–ज्यों हिंसा से हटता है, त्यों–त्यों दु:ख शान्त होता है।

महात्मा बुद्ध का जीवन एक महाकारुणिक का जीवन था। दीन–दु:खियों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता था। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये, जिनमें अहिंसात्मक प्रतिकार रहे हैं। उनके अहिंसात्मक प्रतिकार से हजारों प्राणियों के उबलते खून रुक गये। महात्मा बुद्ध ने हिंसा का विरोध किया और अहिंसा जैसे महान धर्म को अपनाया। सम्राट् अशोक आरम्भ में एक निर्दयी सम्राट था, हृदय–परिवर्तन के बाद उसने मानव–कल्याण के लिए अनेक कार्य किये। वह महात्मा बुद्ध के जीवनदर्शन से प्रभावित होकर बौद्धधर्म का अनुयायी बना। इस प्रकार अहिंसाधर्म की प्रतिष्ठा में महात्मा बुद्ध ने बहुत योगदान दिया था।

1.3 सिक्खधर्म और अहिंसा—

सिक्खधर्म का उदय भी भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म और दर्शनों की जो प्रमुख विशेषताएँ थीं, उनको श्री गुरु नानकदेव ने समझा तथा उन्हीं विशेषताओं को लेकर सिक्खधर्म का प्रारम्भ हुआ।

गुरु नानकदेव ने देश–विदेश में घूमकर अपने समय के बड़े–बड़े योगियों और साधकों की संगति की। वे बगदाद भी गये, वहाँ उनकी याद में एक मन्दिर भी है।

गुरु नानकदेव ने जो पन्थ चलाया, वह 'सिक्खपंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्कालीन सन्तधारा में गुरु नानक निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जाति–पाँति और मूर्तिपूजा को नहीं मानते थे। यह धर्म सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, शराब और तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों का भी निषेध करता है।

गुरु नानकदेव के वचनों को सर्वप्रथम गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' लिपि में लिखा। उसी समय से यह लिपि प्रारम्भ हुई। सिक्खों के पवित्र धर्मग्रंथ 'गुरु–ग्रंथसाहिब' का संकलन एवं सम्पादन सन् 1604 ई. में गुरु श्री अर्जुनदेव ने किया था।

1.3.1 सिखधर्म में चार मार्गों का प्रतिपादन—

सिक्खधर्म में कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग–इन चार मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। कर्ममार्ग को दो भागों में विभक्त किया है—बन्धनप्रदकर्म और मोक्षप्रदकर्म। मोक्षप्रदकर्म में हरिकीर्तन, आध्यात्मिक चिन्तन आदि कर्म आते हैं। सिक्खों ने सदैव यज्ञ के नाम पर होने वाली हिंसा का विरोध किया। हिंसा का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है—

जोग न हिंसा जोग न डंडे.....
एक दृष्टि कर समसरु जागे, जोगी कहिये सोइ।

अर्थात् हिंसा करने, भस्म लगाने, सिर मुँडा देने से योग नहीं होता है; योग उसी को होता है, जिसकी दृष्टि में समभाव हो। समभाव वाला व्यक्ति ही वास्तविक योगी है।

1.3.2 अहिंसा के सिद्धान्त का महत्त्व—

अहिंसा के सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुरु नानकदेव ने कहा—"जो सबकी भलाई करता है, वही महान है। सबकी भलाई करना, बिना अहिंसा सिद्धान्त को अपनाए सम्भव नहीं है।"

नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सवर्त्त का भला।।

अहिंसा की निर्मल भावना से प्रेमभाव की वृद्धि होती है। गुरु गोविन्द सिंह ने प्रेम की महत्ता बताते हुए कहा कि बिना प्रेम के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकता।

साच कहहुँ, सुनि लेहु सबहि।
जिन प्रेम कियो, तिन्ही प्रभु पायो।।

गुरु अर्जुनदेव ने कहा है कि विश्व को अपना समझो। मेरा न कोई शत्रु है, न अपरिचित ही। मेरे लिए सभी समान हैं। मेरी सबसे बनती है।

ना को बैरी, न ही बेगाना।
सकल संगि, हमको बन आई।।

गुरु ग्रंथसाहिब में माँस खाने का निषेध किया गया है—जैसे, रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त माँस खाने से मन मैला हो जाता है; इसीलिए माँस ग्रहण करना दोषपूर्ण है।

जे रत लागे कपड़े, जामा होय पलीत।
जे रत पीवै मांसा, तिन क्यों निर्मल चीत।।

सिक्खधर्म में भी सात्त्विक भोजन पर बल दिया जाता है। अहिंसा की भावना वहाँ भी पनपी है। सिक्खधर्म ने अन्याय को सहन करना भी हिंसा माना है; इसीलिए उसके प्रतिकार के लिए सतत तैयार रहना चाहिए। उनकी यह भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे सम्प्रभुता स्थापित करने के उद्देश्य से अथवा युद्ध के लिए युद्ध नहीं करना

चाहते थे। प्रत्येक सिक्ख को हाथ में कड़ा पहनने का विधान यम, नियम और संयम का प्रतीक है, इसमें अहिंसादि सभी भावनाएँ गर्भित हैं।

1.4 ईसाई धर्म और अहिंसा—

ईसाईधर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे, जिन्हें 'ईसा मसीह' कहा जाता है। 'ईसा' शब्द जीसस से निकला है। ईसा मसीह को 'ख्रीष्ट' भी कहा जाता है। 'ख्रीष्ट' शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अर्थ है—जो अभिषिक्त (Enthroned) है। यहूदी लोगों में पुजारियों और राजाओं का अभिषेक किया जाता था और इसलिए ईसा को 'मसीह' कहा गया है क्योंकि ईश्वर ने उसे विशेषरूप से चुनकर अभिषिक्त किया था। वर्तमान युग में विश्व के विविध अञ्चलों में यह धर्म फैला हुआ है।

ईसा ने कहा—"तुम अपनी तलवार म्यान में रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सभी तलवार से नष्ट किये जाएँगे। किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।'

ईसा का स्पष्ट मानना था कि 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त सर्वथा अनुचित है। 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत और सिर के बदले सिर'–इस सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता, इससे शान्ति प्राप्त नहीं होती। उन्होंने आगे चलकर कहा—"पड़ौसी को प्यार करो और शत्रु से घृणा करो—इस नीति पर ध्यान न दो, बल्कि शत्रु से प्यार करो। जो तुम्हें शाप दे, उसे तुम वरदान दो; जो तुम्हारा बुरा करे, उसका तुम भला करो; जो तुमसे ईर्ष्या करता है, तुम पर अभियोग लगाता है, उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारों में परिवर्तन आ जाए।"

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया—"वस्तुतः प्रेम ही ईश्वर है, वही अहिंसा है; प्रेम के अभाव में अहिंसा नहीं हो सकती। जहाँ पर द्वेष का दावानल सुलग रहा हो, प्रतिकार की भावनाएँ पनप रही हों, वहाँ प्रेम और विनम्रता नहीं रह सकती। जहाँ पर विनम्रता और विश्वबन्धुत्व का साम्राज्य है, वह एक प्रकार से ईश्वरीय राज्य है।" उन्होंने कहा कि सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि 'तू अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम रख'।

1.4.1 ईसाई धर्म में सेवा महत्वपूर्ण—

ईसाईधर्म में सेवा का बड़ा महत्त्व है क्योंकि यहाँ ईश्वर सेवा का अर्थ है—मानव समाज की सेवा। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान, शुष्कज्ञान है। ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों को जीवन के लिए आवश्यक माना है। बाइबिल के नये धर्म–नियम यूहन्ना में स्पष्ट लिखा है कि 'यहूदियों ने उससे कहा, हमें अधिकार नहीं कि किसी का प्राण लें।'

इस तरह ईसाईधर्म में अहिंसा की भावनाएँ, मानव–सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई हैं। बाइबिल आदि अन्य ग्रंथों का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईसा अहिंसा के समर्थक थे। बीसवीं एवं इक्कीसवीं शती के वरिष्ठ एवं सुप्रसिद्ध पूज्य दिगम्बर जैन आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने एक पुस्तक सन् 1966-67 में लिखी थी जिसका नाम है 'महात्मा ईसा'। उन्होंने लिखा है कि 'शोधकों ने इस बात को प्रायः स्वीकार कर लिया है कि मसीह के उपदेशों का मूल उद्गम भारत है।

1.4.2 महात्मा ईसा के उपदेश भगवान महावीर की अहिंसा से प्रभावित हैं—

भारतीय श्रमण संस्कृति और यहाँ के तत्कालीन साधु विद्वानों के सम्पर्क में आकर ईसा ने जिस अति–भौतिक आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया, उसी का मन्थन उनकी उन उपदेशनाओं में मुखरित हुआ है। महात्मा ईसा के वे उपदेश जो भगवान महावीर के अहिंसा धर्म के अति समीप एवं उससे अत्यन्त प्रभावित हैं, उस काल के पुराणपंथी, अर्थ

लोलुप पुजारियों को अपने निहित स्वार्थों के हक में अच्छे नहीं लगे, फलतः ईसा को कुरुढ़ियों के जमे–जमाये मोर्चे से यावज्जीवन लोहा लेना पड़ा।

सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान् डॉ. नोतोविच ने चालीस वर्षों के अनुसन्धान के बाद अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक (Unknown Life of Jesus) में यह प्रमाणित किया है कि ईसा अपने जन्म के तेरहवें वर्ष में चुपचाप घर से निकल गये और कुछ सौदागरों के साथ सिन्ध होते हुय हिन्दुस्तान पहुँच गये, यहाँ उन्होंने जगन्नाथ, वाराणसी, राजगृह और कपिल–वस्तु में भ्रमण किया। बौद्धों से बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया और बहुत दिनों तक जैन साधुओं के साथ रहे।

श्री सावरकर द्वारा रचित पुस्तक 'मराठी–खिस्त परिचय' में लिखा है कि 'कांही दिवस तो जैन साधु बरोबर रहिलो।' प्रसिद्ध यहूदी विद्वान् जाजक्स ने लिखा है कि 'हजरत ईसा ने पैलस्टाइन में चालीस दिनों का उपवास किया था। यह उपवास की प्रेरणा उन्हें भारतीय जैन क्षेत्र पालीताना में जैन–श्रमणों के साथ रहते समय मिली। नागेन्द्रनाथ बसु ने हिन्दी–विश्वकोश में लिखा है कि ईसा ने जैन श्रमणों के निकट रहकर शिक्षा पायी थी। पं. सुन्दरलाल ने लिखा है कि 'भारत में आकर हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के साथ रहे। जैन साधुओं से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार–विचार की मूल भावना प्राप्त की।

इन सन्दर्भों तथा सूचनाओं से ज्ञात होता है कि हजरत ईसा ने जो अहिंसात्मक उपदेश दिये हैं उस पर भारतीय धर्मों का स्पष्ट प्रभाव रहा है।

1.5 यहूदी धर्म और अहिंसा—

यहूदी धर्म एक प्राचीन पैगम्बरी (Prophetic) धर्म है। यद्यपि विश्व में यहूदी धर्म मानने वालों की संख्या ज्यादा नहीं है किन्तु ये विश्व के सभी कोने में पाये जाते हैं और जहाँ भी ये रहे हैं, वहाँ इन्होंने उस देश के सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास में विशेष योगदान दिया है।

यहूदी धर्म में इब्राहिम पैगम्बर कुलपिता कहे जा सकते हैं, उनके बाद हजरत मूसा को यहूदी धर्म का संस्थापक माना जाता है। मूसा के ही द्वारा यहूदियों को तौरेत (Torah) दिया गया, जिसमें उनके जीवन–सञ्चालन के सभी नियम और आज्ञाएँ दी गयी हैं। मूसा–संहिता को ई. पू. 444 में एजरा पुजारी ने वर्तमान रूप दिया था। इस मूसा–संहिता को पञ्चग्रंथ (Penta Teuch) कहते हैं।

यहूदी तौरेत (Torah) को अपना पवित्र ग्रंथ समझते हैं, जिसमें लिखित और मौखिक, दो प्रकार की बातें अन्तर्निहित हैं। रूढ़िवादी लिखित तौरेत को ही प्रामाणिक मानते हैं। तौरेत यहूदियों का जीवन है, जिससे वे ओतप्रोत कहे जा सकते हैं। इनके लिए तौरेत, पवित्र तथा धार्मिक परम्परा का सम्पूर्ण ग्रंथ है।

1.5.1 यहूदी धर्म का उद्देश्य—

यहूदी धर्म का उद्देश्य है कि वह विश्व–शान्ति का और समस्त जातियों में ईश्वरवाद के शुद्ध सन्देश का प्रचार–प्रसार करे। इनके अहिंसावादी सिद्धान्त बहुत लाभकारी हैं। इनका मानना है कि किसी व्यक्ति के आत्मसम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना। वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा, जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव में वह भले ही उसे न मारे। यदि तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आये और यदि वह भूखा–प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।

1.5.2 बंधुत्व भाव का विकास—

बन्धुत्वभाव को विकसित करने की दृष्टि से इस धर्म में कहा गया है—बन्धुत्व का प्रेम, जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है, एतदर्थ अपने पड़ोसी को प्यार करो; उसके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना

न रहे, उनसे ईर्ष्या न करो। जब तुम्हारे मानस में एक–दूसरे के प्रति स्नेह सौहार्दपूर्ण भाईचारे का भाव संस्थापित हो जाएगा तो सहज ही घृणा का भाव नष्ट हो जाएगा। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं, अतः सभी से स्नेह करो। पड़ोसियों से घृणा करना, ईश्वर से घृणा करने के समान है। यदि तुम्हारे भाई या पड़ोसी निर्धन हैं तो उन्हें तुम सहयोग करो। तुम अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना, यह एक प्रकार का सुकर्म है, सुकृति है।

1.5.3 मानवता पर बल—

यहूदीधर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता को विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति आदि सद्गुणों पर अधिक बल दिया गया है। दया और प्रेम को उन्होंने ईश्वर माना है। क्रोध, विलास, अन्याय आदि दुर्गुणों को नष्ट करने की प्रेरणा दी है। उनका मानना है कि किसी व्यक्ति पर संकट के बादल मँडरा रहे हों, उस पर हिंसक डाकू प्रहार कर रहे हों, शेर–चीते आदि जंगली पशु उस पर आक्रमण कर रहे हों, शेर–चीते आदि उस पर झपट रहे हों तो हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। यदि हमारा देहबल क्षीण हो, शारीरिक दृष्टि से हम उनका रक्षण करने में असमर्थ हों किन्तु यदि हमारे पास धन है तो हमें चाहिए कि धनबल से उनके प्राणों की रक्षा करें। प्राणीमात्र के प्रति हमारे अन्तर्मन में किसी प्रकार का वैरभाव न हो।

1.5.4 मानव जाति के लिए 10 आज्ञाएँ—

यहूदी पूर्णतया प्रकाशना–धर्म (Religion of Revelation) है इसलिए यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने मूसा द्वारा मानव जाति के लिए दश आज्ञाएँ बताई हैं अर्थात् ये ईश्वर के वचन हैं—उनमें अन्तिम पाँच वचन अहिंसा की प्रगाढ़ भावना को अभिव्यक्त करते हैं—

1. 'तू नर हत्या न करना'। (**अहिंसा**)
2. 'तू व्यभिचार न करना'। (**ब्रह्मचर्य**)
3. ' तू चोरी न करना'। (**अचौर्य**)
4. 'तू अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत देना'। (**सत्य**)
5. 'तू अपने पड़ोसी की किसी वस्तु का लालच मत करना' (**अपरिग्रह**)

इन आज्ञाओं के माध्यम से परिवार और समाज को स्थिर रखने का पवित्र उद्देश्य है। इन अन्तिम पाँच आदेशों में जैनधर्म के पाँच व्रतों की स्पष्टतः प्रतिध्वनि भी परिलक्षित होती है।

यहूदी धर्म में विशेषकर यशायह नवी के लेखों में अहिंसक भावना का उल्लेख प्राप्त हुआ है, उसमें लिखा है कि "मसीह आएगा और दाऊद के सिंहासन पर फिर से विराजमान होगा। मसीह आकर इस संसार पर राज्य करेगा और समस्त मानव जाति का उद्धार करेगा। इस मसीही राज्य में न पाप होगा और न शोक। शेर हिंसा छोड़कर बकरी के साथ घास खाएगा। भेड़िया और मेमना, दोनों एक साथ एक ही घाट पर पानी पिएँगे।"

यहूदी इसी शान्ति सन्देश के आधार पर साम्यवादी शोषणविहीन राज्य की कल्पना करते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति भर श्रम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार सभी सामग्रियों का उपभोग करेगा। अतः यहूदी किसी न किसी प्रकार से मरणोत्तर जीवन पर विश्वास रखते हैं और प्रायः यही समझते हैं कि न्याय दिवस भी अवश्य आएगा, जहाँ व्यक्ति अपने बुरे कर्मों के अनुसार अनन्त दुःख–भोग का भागी होगा।

यहूदियों में ईसीन (Essene) नाम का संघ था, जो किसी प्रकार की पशुबलि ईश्वर को नहीं चढ़ाते थे। वे अविवाहित रहकर अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते थे। ये मुनि पवित्र जीवन यापन करते और मौन रहना अच्छा समझते थे। ये सोना–चाँदी, घर–द्वार नहीं रखते थे और सन्यासियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे। ये शाकाहारी होते थे, अपरिग्रही होते थे।

1.5.5 यहूदी प्रकृति प्रिय होते हैं—

यहूदी प्रकृति से भी बहुत प्यार करते हैं। हरे–भरे पेड़ पौधों के सम्मान में बसन्त की शुरुआत में 'तू बी शेवात' नामक त्यौहार मनाते हैं। यह पेड़ों का न्यू ईयर है जिसे पौधे लगाकर मनाया जाता है। यहूदी का यह त्योहार पेड़–पौधों के प्रति अहिंसक भावना तथा प्रकृति के प्रति लगाव का सन्देश देता है जो पर्यावरण के प्रति नित प्रतिदिन बढ़ रहे संकट के लिए एक अहिंसक समाधान है।

समझा जाता है कि यहूदी ईसीन लोग अहिंसा के पुजारी होते थे। याकू मसीह का मानना है कि सम्भवतः इन ईसीनियों पर पाइथागोरस के शाकाहार का और बौद्धों के संघीय जीवन का प्रभाव पड़ा था।

1.6 इस्लाम धर्म और अहिंसा—

'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है। मुहम्मद अली की पुस्तक (Religion of Islam) में इस शब्द की व्याख्या बताई गई है। इस्लाम शब्द का अर्थ है—'शान्ति में प्रवेश करना', अतः मुस्लिम व्यक्ति वह है, जो 'परमात्मा पर विश्वास और मनुष्यमात्र के साथ पूर्ण शान्ति का सम्बन्ध' रखता हो। अतएव इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा—'वह धर्म, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है और मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम का व्यवहार करता है।' राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस्लाम धर्म की विशेषताओं पर व्यापक प्रकाश डाला है।

1.6.1 इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब—

इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब माने जाते हैं, जिनका जन्म अरब देश के मक्का शहर में सन् 570 ई. में हुआ था और मृत्यु सन् 632 ई. में हुई। इस्लाम धर्म के मूल कुरान, सुन्नत और हदीस नामक ग्रंथ हैं। कुरान वह ग्रंथ है, जिसमें मुहम्मद साहब के पास खुदा के द्वारा भेजे गये सन्देश संकलित हैं। **सुन्नत** वह है, जिसमें मुहम्मद साहब के कार्यों का उल्लेख है और **हदीस** वह किताब है, जिसमें उनके उपदेश संकलित हैं।

1.6.2 कुरान में प्रेम और अहिंसा से सम्बन्धित अनेक सन्देश हैं—

इकबाल की पुस्तक (Secret of the Self) की भूमिका में लिखा है—"नबी ने कहा है, **'तखल्लिक्–बि–इखलाकिल्लाह'** अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणों का विकास कर। खुदा बन्दों को प्यार करता है और वे उसे प्यार करते हैं; इसलिए उसका एक नाम वदूद (प्रेमी) भी है।"—यह कुरान का ही वचन है।

हदीस का वचन है कि "ईमान की 70 शाखाएँ हैं। सबसे ऊँची यह कि अल्लाह को छोड़कर किसी की इबादत मत करो और सबसे नीची यह कि जिन बातों से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।"

1.6.3 कुरान का फातिहा नामक अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है—

एक तरह से यह कर्मफल के विवेचन का अध्याय है, इसमें प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज पाँच बार दिलाया जाता है। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कर्मफल पर विश्वास दृढ़ होने पर आदमी दुष्कर्मों को छोड़ देता है। कुरान कहता है—"अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम अवश्य मिलेंगे। जिसने भी, कण मात्र भी सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आँखों से देखेगा, जिसने भी, कण मात्र भी दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आँखों से देखेगा।"

इस्लाम दर्शन में ग्यारहवीं शती में एक प्रख्यात चिन्तक हुए 'अबुल अरा' (सन् 1057)। अबुल अरा आवागमन के सिद्धान्त के विश्वासी थे। शाकाहारी तो थे ही, दूध, मधु और चमड़े का व्यवहार भी नहीं करते थे। पशु–पक्षियों के लिए भी उनके मन में दया थी। वे ब्रह्मचर्य और यतिवृत्ति का भी पालन करते थे।

इस्लाम धर्म की मान्यता है कि जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। कुरान शरीफ के प्रारम्भ में अल्लाताला का विशेषण **'विस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीमि'** है, जिसका अर्थ है 'खुदा दयामय है अर्थात् खुदा के

मन के कोने–कोने में दया का निवास है।'

मुहम्मदसाहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे मानव ! तू पशु–पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।" अर्थात् तू माँस का भक्षण मत कर। इसी प्रकार 'दीन ए इलाही' विचारधारा के प्रवर्तक सम्राट अकबर ने कहा—"मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान नहीं बनाना चाहता।" यदि किसी की जान बचाई तो मानों उसने सारे इन्सानों को जिन्दगी बख्शी है। कुरान शरीफ का वाक्य है—

'व मन् अह्या हा फकअन्नम् अह्यान्नास जमी अनः'।

1.6.4 कुरआन में अहिंसा सम्बन्धी आयतें—

मक्तबा अल हसनात, रामपुर (उ. प्र.) से सन् 1968 में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कुरआन मजीद, जिनके कुछ मूल सन्दर्भों का प्रयोग निम्न प्रकार से है। इस ग्रंथ की कुछ आयतें अहिंसा की भावना को व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत हैं वे चयनित आयतें—

(1) काबा में लड़ना हराम है। (2 : 191)

(2) अल्लाह ने काबा को शान्ति का स्थान बनाया है। (28 : 57)

(3) नाहक खून न बहाओ और लोगों को घर से बेघर मत करो (2 : 84)

(4) दूसरे के उपास्यों को बुरा न कहो। (6 : 108)

(5) निर्धनता के भय से औलाद का कत्ल न करो। (17 : 31)

(6) नाहक किसी का कत्ल न करो। मानव प्राण लेना हराम है। (17 : 33)

(7) यतीम पर क्रोध न करो। (93 : 9)

(8) गुस्सा पी जाया करो और लोगों को क्षमा कर दिया करो। (2 : 134), (24 : 22)

(9) बुराई का तोड़ भलाई से करो (13 : 22) (28 : 54, 55) (41 : 35)

(10) कृतज्ञता दिखलाते रहो। (14 : 7)

(11) लोगों की गल्तियाँ क्षमा कर दिया करो। (24 : 22)

(12) क्रोध आये तो क्षमा कर दो। (42 : 37)

(13) सब्र करना और अपराध को क्षमा करना बड़े साहस के काम हैं। (42 : 43)

(14) दो लड़ पड़ें तो उनमें सुलह–सफाई करा दो। (49 : 9, 10)

(15) दुश्मन समझौता करना चाहे तो तुम भी समझौते के लिए तैयार हो जाओ।। (8 : 61)

(16) जो तुमसे न लड़े और हानि न पहुँचाये उससे, उसके साथ भलाई का व्यवहार करो। (60 : 8)

इस प्रकार अनेक सन्दर्भ और भी हैं जो अहिंसा का सन्देश देते हैं। अहिंसा की भावना के बिना कोई भी धर्म ज्यादा समय तक टिक नहीं सकता।

1.6.5 इस्लाम में अहिंसा के प्रायोगिक रूप—

मुस्लिम समाज में मांसाहार आम बात है किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण भी देखने में आये हैं जहाँ इस्लाम के द्वारा ही इसका निषेध किया गया है। इसका सर्वोत्कृष्ट आदर्शयुक्त उदाहरण हज की यात्रा है। जब कोई व्यक्ति हज करने जाता है तो इहराम (सिर पर बाँधने का सफेद कपड़ा) बाँध कर जाता है। इहराम की स्थिति में वह न तो पशु–पक्षी को मार सकता है, न किसी जीवधारी पर ढेला फेंक सकता है और न ही घास नोंच सकता है। यहाँ तक कि वह किसी हरे–भरे वृक्ष की टहनी पत्ती तक भी नहीं तोड़ सकता। इस प्रकार हज करते समय अहिंसा के पूर्ण पालन का स्पष्ट विधान है। 'इहराम की हालत में शिकार करना मना है।'

इतना ही नहीं, इस्लाम के पवित्र तीर्थ मक्का स्थित कस्बे के चारों ओर कई मीलों के घेरे में किसी भी पशुपक्षी की हत्या करने का निषेध है। हज–काल में हज करने वालों को मद्य–मांस का भी सर्वथा त्याग जरूरी है। इस्लाम में आध्यात्मिक साधना में मांसाहार पूरी तरह वर्जित है, जिसे तकें हैवानात (जानवर से प्राप्त वस्तु का त्याग) कहते हैं।

डॉ. कामता प्रसाद लिखते हैं कि 'म. जरदस्त ने ईरान में पशुबलि का विरोध कर अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा की थी। ईरान के शाहदरा ने पाषाणों पर अहिंसा का आदेश अंकित कराया था। तख्तेजमशेद नामक स्थान पर एक ऐसा लेख आज भी मौजूद है। आज भी भारत में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। कर्नाटक राज्य में गुलबर्गा में अल्लन्द जाने के मार्ग में 8 किमी. चौदहवीं शताब्दी में मशहूर दरवेश हजरत ख्वाजा बन्दानवाज गौसूदराज के समकालीन दरवेश हजरत शारुक्रुद्दीन की मजार के आगे लिखा है—

''यदि तुमने मांस खाया है तो मेहरबानी कर अन्दर मत आओ''

इसके अलावा कई मुस्लिम सम्राटों ने जैनों के दशलक्षण–पर्यूषण पर्व पर कत्लखानों तथा मांस की दुकानों को बन्द रखने के आदेश भी दिये हैं जिसके साक्षात् प्रमाण अब तक मौजूद हैं।

1.6.6 इस्लाम में त्याज्य विषय—

इस्लामधर्म में मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्यागने योग्य बताया गया है, ये जीवन को विकृत करने वाले दुर्गुण हैं। कुरान शरीफ में भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, दया, प्रेम, कृपा, संयम आदि सद्गुणों को ग्रहण करने पर बल दिया गया है। ये सद्गुण जीवन को विकसित करते हैं। इन सद्गुणों को धारण करने पर जीवन का आचरण अहिंसक हो जाता है और सुख–शान्ति की वृद्धि होती है।

इस्लाम में सद्गुण (Virtue) और दुर्गुण (Vice) का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इस धर्म ने ईश्वर में विश्वास करने, धर्मपथप्रदर्शकों के विचारों पर आस्था रखने, निर्धनों और दुर्बलों के प्रति दयाभाव रखने की सीख दी है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में उन तत्त्वों की अवहेलना की गई है, जिनसे हिंसाभाव की उत्पत्ति या वृद्धि होती है और उन तत्त्वों को अपनाया गया है, जिनसे अहिंसाभाव की पुष्टि होती है एवं अहिंसा का विकास होता है। यदि हम वास्तव में विश्व शांति और भाई चारा स्थापित करना चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि मजहबों के उन बिन्दुओं को उजागर करें जिनमें अहिंसा, प्रेम, बन्धुत्व आदि की चर्चा है तथा प्रायोगिक उदाहरण हैं, न कि सिर्फ उन्हें जिनके कारण हमारे कटु अनुभव जुड़े हैं।

इस्लाम में ऐहिक जीवन पर उतना ही बल दिया गया है, जितना पारलौकिक स्वर्ग–प्राप्ति पर; इसलिए इस्लामी नीति–विचार में सामाजिक आचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यहूदीधर्म में भी भक्ष्य और अभक्ष्य वस्तुओं की भी चर्चा की गयी है और उन्हें इस्लाम में सम्पूर्णतया अपना लिया गया है।

1.7 सूफी दर्शन और अहिंसा—

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे—एक ज्ञान को उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान, विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया, जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनायें। दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था, वही सूफीदर्शन कहलाया। कुरान का किताबी ज्ञान तो 'इल्म–ए–शाफीन' और हार्दिक ज्ञान 'इल्म–ए–सिन' कहलाता है।

1.7.1 सूफीदर्शन का रहस्य—

परमात्मा सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म–तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना। जब परमात्म–तत्त्व की अन्वेषणा ही सूफियों का लक्ष्य रहा है तो हिंसा–अहिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हिंसा–अहिंसा का प्रश्न वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ किसी के प्रति रागभाव का प्राधान्य हो और किसी के प्रति द्वेष की दावाग्नि सुलग रही हो; वहीं हिंसा का प्राधान्य रहता है।

1.7.2 सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है—

वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते हैं। उनके अनुसार मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है। प्रेम परमात्मा का सार है। प्रेम ही ईश्वर की अर्चना करने का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।

इस प्रकार सूफी सम्प्रदाय में, प्रेम के रूप में अहिंसा की उदात्त भावना पनपी है। प्रेम के विराट रूप का जो चित्रण सूफी सम्प्रदाय में हुआ, वह अद्‌भुत है।

यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो पाएँगे कि इस्लामिक विश्वास, वचन और कर्मकाण्ड (Practice) इसके बाहरी रूप हैं, जबकि इसका आन्तरिक रूप सूफीमत है; अतः जनसाधारण की नीतिगत विचार भी सामाजिक और व्यावहारिक के नियमों के अन्तर्गत पाया जाता है, पर इसका आन्तरिक रूप सूफी विचारों में ही देखा जाता है।

जहाँ तक सूफी मत का प्रश्न है, उसमें आत्मविकास (Development of the Soul) का पाठ सिखाया गया है। इसमें बहुत ऊँचे आन्तरिक आचार की बातें बताई गई हैं। इस्लाम के अनुसार सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं अथवा वासनाओं के विरुद्ध करना चाहिए। अध्यात्म की दृष्टि से सूफी अहिंसा के अधिक करीब दिखायी देते हैं।

1.8 पारसी धर्म और अहिंसा—

पारसीधर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे, उनका प्रमुख ग्रंथ 'अवेस्ता' है। पारसियों की प्राचीन धर्म पुस्तक को गाथा या जेन्दावेस्ता भी कहते हैं। जेन्द का अर्थ 'टीका' है और 'अवेस्ता' भाषा का नाम है।

1.8.1 इस मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्तव्य हैं—

(1) अपने शत्रु को मित्र बनाना,

(2) दानव को मानव बनाना, और

(3) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह–सद्‌भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनाएँ होंगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस में मित्रता की हरियाली नहीं लहलहाएगी। अहिंसा से ही सद्‌भाव की वृद्धि होगी।

जरथुष्ट्र ने कहा—" जो व्यक्ति किसी के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है, या किसी भी प्राणी का घात कर प्रसन्न होता है तो उसे अहुरा–मज्दा निकृष्ट कोटि में रखते हैं।"

उन्होंने कहा—"किसी से भी बदला लेने की भावना अत्यन्त निम्नवृत्ति है। दूसरे से बदला लेने की भावना से अनेक प्रकार के अहित होने की सम्भावना है। बदले की भावना तुम्हें सतत सताती रहेगी, अतः शत्रु से भी बदला मत लो। बदले की भावना से प्रेरित होकर कभी कोई पाप कार्य मत करो। सदा सर्वदा मन में सद्विचारों के दीपक प्रकाशित रखो।

पारसी धर्म ने दान आदि सद्‌गुणों पर अत्यधिक बल दिया है, जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

1.9 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-वेदों की संख्या कितनी है ?

(क) चार ☐
(ख) तीन ☐
(ग) दो ☐

प्रश्न 2-विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक किसे कहा जाता है ?

(क) यजुर्वेद ☐
(ख) ऋग्वेद ☐
(ग) सामवेद ☐

प्रश्न 3-'सिक्खपंथ' को किसने चलाया ?

(क) ईसामसीह ☐
(ख) गौतम बुद्ध ☐
(ग) गुरु नानक देव ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-'वेद' क्या है ? इनकी संख्या कितनी है ? नाम सहित बताइए ?

प्रश्न 2-सिक्खधर्म में अहिंसा का स्वरूप बताइए ?

प्रश्न 3-यहुदियों के अनुसार ईश्वर ने अहिंसा की प्रगाढ़ भावना को अभिव्यक्त करते हुए कौन से पाँच वचन बताए?

प्रश्न 4-पारसी धर्म के मतानुसार व्यक्ति के कितने कर्तव्य बताये हैं और कौन से ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-"बौद्धधर्म में आरंभ से ही अहिंसा की प्रधानता रही है" इस बात को स्पष्ट कीजिए ।

पाठ-2 – जैनधर्म में अहिंसा का विवेचन

2.1 अहिंसा-एक अनुचिन्तन—

अहिंसा वह विराट, व्यापक व उदात्त भावना है, जिसमें विश्वकल्याण की सामर्थ्य निहित है। वह समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसक के हृदय से सतत प्रवाहित होने वाला स्नेह निर्झर है। प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि है। एकता की प्रगाढ़ अनुभूति है।

जिजीविषा और सुखलिप्सा प्राणिमात्र की सहजवृत्ति है। अहिंसक, प्राणीमात्र की जिजीविषा और सुखैषणा की प्रवृत्ति को उतना ही महत्त्व प्रदान करता है, जितना स्वयं की जिजीविषा और सुखैषणा को। अहिंसा की नींव प्राणिमात्र के प्रति वही नैसर्गिक प्रीति है, जो प्राणी की अपनी आत्मा के प्रति होती है। अहिंसक अपनी आत्मा के प्रति जितना प्रेम करता है, उतना ही प्रेम उसे अन्य आत्माओं से होता है। उसमें समानता की अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि परपीड़न आत्मपीड़न तुल्य कठिन हो जाता है। परत्व और ममत्व विगलित हो जाता है। विभाजक रेखायें टूट जाती हैं। सारी सृष्टि आत्मवत् हो जाती है। सर्वत्र सम्यग्दृष्टि व स्नेह की सरसता व्याप्त हो जाती है। यही अहिंसा की पूर्णावस्था है। यही वीतरागता है। प्राणिमात्र के विकास की चरम स्थिति भी यही है।

2.1.1 अहिंसा का महत्त्व—

अहिंसा मानवीय गुणों का समुच्चय है। धर्मों का सार है। जीवन का सर्वस्व है। प्रेम प्रसार की पराकाष्ठा है। विकास की चरम परिणति है। आत्म विस्तार का चरम बिन्दु है। इस बिन्दु पर आकर मानव महामानव हो जाता है। आत्मा महात्मा हो जाती है। जैनदर्शन में इसीलिये अहिंसा को अतिशय महत्त्व प्रदान किया जाता है। जैन आचार–विचार सूत्ररूप से इसी अहिंसा दर्शन व अहिंसा आचरण में समाहित है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य शेष व्रत इसी अहिंसा के परिकर में बँधे हुये हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को ही परमब्रह्म कहा है। अहिंसा के तत्त्वज्ञान का क्रमिक, सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक तथा सर्वाङ्गीण विवेचन एवं परिपालन जैनसंस्कृति की मौलिक विशेषता है।

परपीड़न हिंसा है। मन–वचन–काय से प्राणीवध न करना, रागद्वेषादिरूप प्रवृत्ति न करना अहिंसा है। यह अहिंसा की निषेधात्मक व्याख्या है। प्राणों के दो भेद हैं— द्रव्यप्राण और भावप्राण। 5 इन्द्रिय, मन–वचन–काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास द्रव्यप्राण हैं। आत्मा ही शाश्वत ज्ञान–दर्शनरूप चेतना भाव–प्राण है। द्रव्यप्राणों का नाश होने पर भाव प्राणों का विनाश होता ही है किन्तु भाव प्राणों के विनाश के साथ द्रव्यप्राणों का विनाश अनिवार्य नहीं है।

2.1.2 हिंसा का मूल कारण—

हिंसा का मूल कारण प्रमाद है। प्रमाद की उत्पत्ति के कारण हैं क्रोध, मान, माया और लोभ। इनसे अभिभूत होकर स्वपर के प्राणों का विघात हिंसा है। क्रोधादि के वशीभूत होकर अपने शरीर इन्द्रियादि का घात करना अथवा दूसरे के प्राणों का नाश करना हिंसा है। क्रोधादि के वशीभूत अपने परिणामों को कलुषित करना अथवा दूसरों के परिणामों को कलुषित करना हिंसा है।

प्राणियों के शरीर और आत्मा का विच्छेदन मात्र हिंसा नहीं है। हिंसा का सम्बन्ध हिंसक की भावनाओं से है। अनुदात्त भावनाओं की स्थिति ही हिंसा है। हिंसा हिंस्य प्राणी के जीवन–मरण से सम्बद्ध न होकर हिंसक की भावनाओं पर निर्भर है।

जड़ शरीर और चेतन आत्मा का पृथक्करण हिंसा है। हिंसा की इस व्याख्या में शंका की जा सकती है कि शरीर और आत्मा सदैव भिन्न हैं। उनका विच्छेदन औपचारिक है। निश्चय से जीव मरता नहीं और देह जड़ है। जड़ को मार देने से हिंसा नहीं हो सकती।

2.1.3 अहिंसा का तत्त्वज्ञान अति दुर्लभ—

अहिंसा के तत्त्वज्ञान की इसी दुर्बोधता को हृदयंगम करके आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने लिखा है कि "अहिंसा का तत्त्वज्ञान अतीव गहन है और इसको न समझने वाले अज्ञों के लिये सद्गुरु ही शरण हैं, जिनको अनेकांत विद्या द्वारा प्रबोध प्राप्त हो चुका है।"

द्रव्यार्थिकनय से यह सत्य है कि आत्मा और पुद्गल अनादिकाल से पृथक्–पृथक् हैं। पर्यायार्थिकनय से यह भी उतना ही सत्य है कि कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से पुद्गल से संयुक्त है। आत्मा की इस अनादि अशुद्ध, अवस्था के कारण प्राणी जन्म मरण के बन्धनों से बँधा हुआ है। आचार्य श्री अमितगति का कथन है कि (द्रव्यार्थिक नय से कथंचित् भिन्न व पर्यायार्थिक नय से कथंचित् अभिन्न) भिन्नाभिन्न आत्मा के शरीर से पार्थकय होने पर अत्यन्त घोर पीड़ा होती है अतएव किसी जीव के शरीरघात होने पर हिंसा अवश्य होती है।

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीड़ा संजायतेतरां घोरां।
देहवियोगे यस्मात्तस्मात् निवारिता हिंसा।।

सम्पूर्ण सृष्टि दृश्यादृश्य असंख्य जीवराशि से समाकुल है। हमारी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में हिंसा होती ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज उद्भूत होता है कि अहिंसा का पालन सम्भव है क्या ?

2.1.4 अहिंसा व्यक्ति की भावनाओं पर निर्भर है—

यदि व्यक्ति सदय है, तो वह सदैव इस बात के लिये तत्पर रहेगा कि मेरी किसी भी प्रवृत्ति से प्राणीमात्र को पीड़ा न पहुँचे। प्राणीमात्र को पीड़ा न हो इस भावना से प्रेरित होकर जब व्यक्ति यत्नपूर्वक (प्रयत्नपूर्वक, सावधानीपूर्वक) प्रवृत्ति करता है, तब वह अहिंसक है। हिंसा का कारण प्रमाद है। अप्रमाद अहिंसा का आधार है।

प्रमाद की उत्पत्ति के कारण हैं कषाय—क्रोध,मान, माया और लोभ। क्रोधादि से अभिभूत होकर स्वपर के प्राणों का विघात हिंसा है। अपने तथा दूसरों के परिणामों को कलुषित करना भी हिंसा है। कषायों का मूल है रागद्वेष। अज्ञान के वशीभूत होकर भी मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होते हैं।

चेतन सक्रिय है। इसकी सक्रियता जिससे प्रकट होती है, वे तीन द्वार हैं जिन्हें प्रवृत्ति कहते हैं। मन कुविचारों में प्रवृत्त होकर अपने सद्भावों की हिंसा करता है। दुर्वचन अपने और दूसरे के भावों की हिंसा करते हैं। शारीरिक क्रिया क्रोधादि से आविष्ट होकर स्व–पर द्रव्य हिंसा में प्रवृत्त होती है। इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना अहिंसा है। समिति और गुप्ति अहिंसा पालन के साधन हैं।

अहिंसा के लिये अहिंसक को "मेरे किसी कृत्य से किसी भी प्राणो को पीड़ा न हो" यह संकल्प रखना अनिवार्य है अन्यथा वे एकेन्द्रिय प्राणी जो अव्यक्त चेतना वाले हैं, जिनसे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुँचती अहिंसक कहलायेंगे। अहिंसा का आधार सम्यक्त्व है, ज्ञान है। अज्ञानी परपीड़ा न करते हुए भी अहिंसक नहीं है। एकेन्द्रिय प्राणियों की भाँति व्यक्त चेतना वाले भी परपीड़ा न करते हुए भी अहिंसक नहीं हैं क्योंकि पर प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने का संकल्प नहीं लिये हुये हैं।

2.1.5 सर्वजीव समभाव अहिंसा का विधेयात्मक स्वरूप है—

मैत्री, करुणा, सेवा आदि उसकी विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। अहिंसा के इस विधेयात्मक रूप में निषेधात्मक रूप स्वतः समाविष्ट है। जहाँ मैत्री भावना होगी, वहाँ व्यक्ति परपीड़न में उद्युत ही नहीं होगा। मैत्री, करुणा, सेवा आदि उदात्त भावनाओं से युक्त व्यक्ति–हिंसा–त्यागी ही होगा। अहिंसा में आत्मा के समस्त सद्गुण अन्तर्भूत हो जाते हैं। सम्यक्त्व, क्षमा, करुणा, अभय, समत्व, मैत्रीभाव अहिंसा के सोपान है।

2.2 अहिंसा सम्यक्त्व गुणों की आधारभूमि है—

आत्मा के प्रति श्रद्धान सम्यक्त्व है। आत्मश्रद्धानी व्यक्ति ही दया, क्षमा, प्रमोद, मैत्री, समता आदि गुणों का धारक हो सकता है। क्रोध का बाह्य कारण उपस्थित रहने पर भी चित्त में क्रोध की उत्पत्ति न होना क्षमा है। क्षमा सम्यक्त्व का अनुगमन करती है। क्रोध का वास्तविक कारण बाह्यदृष्टि है, अन्य वस्तुओं में रागद्वेष करना है। जहाँ आत्मदृष्टि जागृत हो जाती है पर वस्तुओं में रागद्वेष तिरोहित हो जाता है, वहां उन वस्तुओं, व्यक्तियों के सम्पर्क से अनुकूल–प्रतिकूल दुर्भाव नहीं जगते। यही स्थिति उत्तम क्षमा है। करुणा इसका अगला चरण है। भेदविज्ञान के कारण पर वस्तुओं में रागद्वेष न होने से क्रोध कषाय के आन्तरिक कारण का नष्ट हो जाना क्षमा है। अज्ञानी व्यक्ति का अपनी आत्मा की निर्मल वृत्ति को कलुषित करने की ओर प्रवृत्ति देखकर उनके प्रति करुणा दया है। उन्हें सन्मार्ग में प्रेरित करना करुणा का फल है। भीतिग्रस्तों को अभय का वरदान देना अहिंसा का कार्य है। प्राणीमात्र के प्रति समता की अनुभूति अहिंसा की आधारशिला है। प्राणियों के प्रति मैत्री भाव अहिंसा है। क्षमा, करुणा, अभय, समता, मैत्रीभाव अहिंसा की ही उत्तरोत्तर सीढ़ियाँ हैं।

2.2.1 अहिंसा केवल सैद्धान्तिक नहीं प्रयोगात्मक है—

वह कोरा आदर्श नहीं, यथार्थ व्यवहार है। अहिंसा का आरम्भ होता है सम्यक्त्व से, पालन होता है संयम और अप्रमाद से, विकास होता है अभेदानुभूति से। सर्वजीव समभाव दृष्टि द्वारा अहिंसा का विराट्रूप व्यक्त होता है। अहिंसापथ पर अग्रसर होने के लिये गृहस्थधर्म व साधुधर्म रूप द्विविध सोपान निर्मित किये हैं। गृहस्थधर्म प्रथम सोपान है, जिसमें संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग विहित है। शेष विरोधी, आरम्भी और उद्यमी हिंसा की मर्यादायें हैं। मुनि के लिये चारों ही प्रकार की हिंसा त्याज्य है। अणुव्रत और महाव्रत की व्यवस्था व्यावहारिकता का ही सुपरिणाम है।

अहिंसा कायरता नहीं है, वीरता है, निर्भयता है। निर्भयता ही वीरता है। अहिंसक स्वयं निर्भय होता है। दूसरों को अहिंसा का अमृत वितरित करता है। शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय भी निरर्थक हिंसा का त्याग कर देने पर अहिंसक है।

आत्मघात महापातक है, हिंसा है। जीवन में असफल व्यक्ति आत्मघात करते हैं। प्राणी स्वभावतः जिजीविषु है। आत्मघात करने वाले की जिजीविषा और अधिक तीव्र होती है, कारण वह अपने मनोनुकूल जीवन जीना चाहता है वैसा जीवन न मिलने पर निराशा में आत्मघात करता है, यह उसकी तीव्रतम जिजीविषा है। जिजीविषु व्यक्ति का जीवन नष्ट करना निश्चित ही हिंसा है। इसके अतिरिक्त आत्मघाती व्यक्ति अपने आत्मगुणों की भी हिंसा करता है।

समाधिमरण आत्मघात न होकर धार्मिक अनुष्ठान है। आत्मश्रद्धानी व्यक्ति शरीर को धर्म का साधन समझता है। धर्मसाधन के रूप में ही उसका रक्षण करता है किन्तु जब शरीर धर्मसाधन में असमर्थ हो जाता है अथवा बाधक बन जाता है उस स्थिति में शरीर का त्याग करना समाधिमरण है। यह आत्मघात नहीं है, इसमें आत्मिक गुणों का उत्कर्ष होता है।

2.2.2 विश्वशांति की स्थापना हेतु अहिंसा की आवश्यकता—

अहिंसा को व्यावहारिक रूप देने में आज का मानव असफल हो रहा है, उस असफलता का कारण है अहिंसा के प्रति विश्वास की कमी। अहिंसा विश्वशांति की स्थापना के लिये सफल साधन हो सकता है या नहीं यह शंका उसे अहिंसा मार्ग पर चलने नहीं दे रही है। वस्तुतः अहिंसा समस्याओं के समाधान का साधन नहीं साध्य है। अहिंसा प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को पा लेने पर शेष समस्यायें स्वतः सुलझ जाती है। यह नैतिक और आत्मिक बल है। असंख्य प्राणियों के निर्विघ्न जीवन की मंगलकामना है। क्रोध, अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम आदि दुर्भावनाओं का निषेध है।

अहिंसा के स्तवन में एक आचार्य की विनम्राञ्जलि है "जिसे संसार निरन्तर नमस्कार करता है, विनम्र अञ्जलि प्रदान करता है, वह तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण संसार का मान्य धर्म अहिंसा है। इस अहिंसा धर्म के एक पार्श्व में स्याद्वाद और दूसरे पार्श्व में अनेकान्तरूप कल्पद्रुम स्थित है, मानो किसी सम्राट के दोनों ओर दो चामरधारी स्थित हों।

यं लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्मै विनम्राञ्जलिं
मार्गस्तीर्थकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः।
नित्यं चामरधारणमिव बुधाः यस्यैकपार्श्वे महान्
स्याद्वादः परतो बभूवतु स्थानैकान्तकल्पद्रुमः।।

2.3 अहिंसक आचरण सम्बन्धी क्रियाएँ—

जैनधर्म के अनुयायी अहिंसाभावना के अनुरूप दैनिक क्रियाओं में ऐसी अनेक क्रियाएँ करते हैं, जो उनकी शुद्ध, अहिंसक जीवन शैली को प्रगट करती हैं। उन क्रियाओं में कुछ प्रमुख क्रियाओं का उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

2.3.1 शाकाहार—

आहार शुद्धि पर जैनधर्म अत्यधिक बल देता है। जैनधर्म में माँसाहार का कड़ा निषेध है। अण्डा, माँस, शराब आदि पदार्थों का सेवन, किसी भी मनुष्य को नहीं करना चाहिए। 'म' से प्रारम्भ होने वाले तीन मकार 'मद्य–माँस–मधु' गृहस्थ श्रावकों को अनिवार्य रूप से त्यागने योग्य हैं। जैनधर्म में शुद्ध शाकाहारी पदार्थों को भी उनकी कालावधि के बाद सेवन करने का निषेध है क्योंकि एक समय सीमा के बाद उनमें भी सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं; उनका सेवन करने से हिंसा तो होती ही है, स्वास्थ्य भी खराब होता है।

जमीन के भीतर उत्पन्न होने वाले प्याज–लहसुन आदि जमीकन्द पदार्थों का सेवन भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उनमें अनन्त सूक्ष्मजीव रहते हैं, उनकी हिंसा होती है और इनका सेवन तामसिकता को बढ़ाता है। बाजार में बनी वस्तुओं को भी अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि उनकी निर्माण विधि शुद्ध स्वच्छ नहीं होती और मिलावट का भय बना रहता है। इन सभी नियमों का पालन जिससे ज़ितना भी बन सके, अपनी–अपनी क्षमता और विवेक के अनुसार करना ही चाहिए।

2.3. 2 पानी छानना—

जल, मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है। यदि मनुष्य अशुद्ध जल पिएगा तो उसका जीवन संकट में आ जाएगा। जैनधर्म ने मनुष्यों से कहा कि पानी छान कर पीओ क्योंकि उसमें असंख्य जीव रहते हैं। पहले लोगों को विश्वास नहीं होता था कि पानी में जीव कहाँ से आये ? हजारों–लाखों वर्षों से जैनधर्म ने अपने इस विश्वास को नहीं छोड़ा और अपनी बात कहता रहा। अब जाकर आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित किया है कि एक बूँद जल में 36,450 जीव होते हैं। पानी विधिपूर्वक नहीं छानने से इन जीवों की हिंसा तो होती ही है, साथ ही इससे स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है। एक पुरानी कहावत है—

पानी पीओ छानकर, जीव जन्तु बच जायें।
लोग कहें धर्मात्मा, रोग निकट नहिं आयें।।

यदि जीवों की हिंसा से बचना चाहते हो तो पानी को विधिपूर्वक छानकर ही प्रत्येक कार्य में उपयोग लेना चाहिए।

2.3.3 रात्रि भोजन त्याग—

जैनधर्म में रात्रि भोजन का निषेध है। जैनधर्म के अनुसार सूर्य की किरणों से वातावरण शुद्ध रहता है और सूर्यास्त के बाद रात्रि में अनेक जीव उत्पन्न होते हैं, जो वातावरण को अशुद्ध करते हैं। रात्रि में भोजन बनाने और खाने से बहुत हिंसा होती है। साथ ही रात्रि में पाचन क्रिया मन्द होने से, भोजन करने से स्वास्थ्य पर भी गलत प्रभाव पड़ता है; अतः रात्रि में भोजन न बनाना चाहिए और न ही करना चाहिए।

रात्रि में अन्न ग्रहण करना खाने के प्रति अत्यधिक आसक्ति को दर्शाता है। जैन परम्परा में तो सभी आचार शास्त्र रात्रि भोजन का कड़ा निषेध करते ही हैं साथ ही वैदिक परम्परा में भी रात्रि के भोजन को उचित नहीं माना गया है।

महाभारत में लिखा है—

''श्वभ्रद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।''

तथा—

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयंति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।।

अर्थात् रात्रि भोजन नरक का प्रथम द्वार है तथा जो रात्रि में आहार नहीं करते उन्हें महीनें में 15 दिन के उपवास का फल मिल जाता है।

स्कन्द पुराण के अनुसार दिन में भोजन करने वाला तीर्थयात्रा के जैसा फल पा लेता है—

''अनस्तभोजिनो नित्यं तीर्थ यात्रा फलं भजेत्''।।

इस प्रकार रात्रि का भोजन सिर्फ धार्मिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अहिंसा के अनुकूल नहीं है।

2.3.4 लोकोपकारी कार्य—

जीव कल्याण और समाज सेवा की भावना से अहिंसा धर्म के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य करने चाहिए। जैसे—निर्धनों को वस्त्र आदि देना, जनता की सेवार्थ चिकित्सालय खोलना, धर्मशाला बनवाना, शिक्षा के लिए विद्यालय खोलना, गोशाला तथा पशु–पक्षी चिकित्सालय का सञ्चालन करना, समाज में व्यसन मुक्ति हेतु कार्य करना, आदि आदि। जैनधर्म के अनुयायी, इन सब कार्यों को जीव–दया की दृष्टि से करते हैं। उनके ये कार्य सिर्फ जैनों के लिए ही नहीं हैं, वरन् सभी मनुष्यों के लिए हैं, चाहे वे किसी भी धर्म या जाति के हों। सहृदय अहिंसक भावना वाला गृहस्थ मनुष्य, मानव सहित सभी जीवों के हित के लिए जितना कर सकता है, उतना कार्य अवश्य करना चाहिए। निःस्वार्थभाव से किए गए इन कार्यों से सामाजिक सौहाई बढ़ता है और सम्पूर्ण विश्व शान्ति की ओर बढ़ता है।

इस प्रकार और भी अनेक नियम व कार्य हैं, जो जैनधर्म की अहिंसाभावना को प्रगट करते हैं। यहाँ अहिंसा सिर्फ सिद्धान्त के रूप में ही नहीं बल्कि प्रयोगिक रूप में भी स्पष्ट दिखलाई देती है।

2.4 मानसिक और वाचिक अहिंसा; अनेकान्त और स्याद्वाद—

जैनधर्म ने सापेक्ष चिन्तन पर जोर दिया है। हम कभी किसी भी घटना या प्रतिस्थिति को सिर्फ अपनी ही दृष्टि से न सोचें; दूसरों के सम्यक् दृष्टिकोण का भी ख्याल रखें, हो सकता है कि वह सही हो। इसे जैनधर्म का 'अनेकान्त–चिन्तन' कहते हैं। जैनदर्शन के अनुसार 'हिंसा' का मूलकारण 'एकान्त–चिन्तन' ही है। जैनदर्शन 'मेरा सो खरा' वाली नीति पर विश्वास नहीं करता। उसे तो 'खरा सो मेरा' वाली ही नीति ही पसन्द है और यही उसका अनैकान्तिक दृष्टिकोण है। सत्य अनेकान्त स्वरूप ही है। अपने अलावा दूसरों के सम्यक् विचारों का भी चिन्तन करना और वस्तु में गर्भित अनन्त और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का विचार करना,यह चिन्तन में अनेकान्त है, इसे **'मानसिक अहिंसा'** का नाम दिया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार "जो वस्तु तत् (जैसी) है, वही अतत् (वैसी नहीं) है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है; इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक साथ प्रकाशन होना, अनेकान्त है।"

वचनों का संसार भी अद्भुत है। हम वचनों को भी सापेक्ष बनाकर उन्हें शुद्ध कर सकते हैं। एकांङ्गी या मिथ्या वचनों का प्रयोग अशान्ति फैलाता है इसीलिए वाणी की पवित्रता व सत्यता बहुत जरूरी है अतः जैनधर्म वाणी में स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रयोग की बात कहता है।

स्याद्वाद का अर्थ है कि सापेक्ष अर्थात् किसी अपेक्षा से कथन करना। जैसे, मैं कहूँ कि 'मैं पुत्र हूँ' तो यहाँ संशयपूर्ण वचन होगा परन्तु यदि मैं कहूँ कि 'मैं माता–पिता की अपेक्षा पुत्र हूँ' तो यह वचन अधिक शुद्ध वचन होगा तथा किसी को संशय नहीं होगा और न ही संघर्ष होगा अतः यदि शुद्ध बोलें और हित–मित–प्रिय वचन बोलें तो सभी को अच्छा लगता है। ऐसा नहीं बोलें जिससे दूसरों को दुःख पहुँचता हो, उससे हिंसा होती है।

जैनधर्म के अनुसार वचनों की अहिंसा का व्यावहारिक जीवन में भी प्रयोग किया जाना चाहिए अर्थात् हिंसक शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे—'सब्जी या फल काट दो' कहने की अपेक्षा 'सब्जी या फल बना दो या सुधार दो' कहना अहिंसक वचन है। 'काटना' शब्द हिंसक है अतः इसके कहने से हिंसा का वातावरण बनता है। अगर सिर्फ इतना है कि सोचने और कहने का अन्दाज अलग–अलग है। इसी प्रकार मनुष्यों के वैचारिक स्तर में भी अन्तर हो जाता है।

2.5 अहिंसा के तीन स्तर : मानसिक, वाचिक और कायिक—

किसी भी प्राणी को नहीं मारना, उसे दुःख नहीं पहुँचाना, यह सामान्य अर्थ में अहिंसा है। व्यापक अर्थ में मन–वचन–काय और कृत, कारित, अनुमोदना से प्राणीमात्र को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना या उनके प्राणों का घात न करना, अहिंसा है। मन, वचन और काय (शरीर) में से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीव की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है; ऐसे जीवन को निरन्तर धारण करना ही अहिंसा है।

अहिंसा का यह सैद्धान्तिक और नैतिक आधार जैनधर्म दर्शन में उपलब्ध है। अहिंसा का क्षेत्र सीमित नहीं है। अहिंसा का सम्बन्ध अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूपों में हैं। प्राणीमात्र को मन, वचन और काय से किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाना, उसका दिल नहीं दुःखाना, यह तो बहिरंग अहिंसा है और राग–द्वेष से निवृत्त होकर साम्यभाव में स्थिर होना, अन्तरंग अहिंसा है। इतनी व्यापक परिभाषा हमें पूर्व से लेकर पश्चिम तक कहीं भी देखने को नहीं मिलती। कोई भी कार्य या क्रिया, जो राग–द्वेष भाव से की जाती है, वह अहिंसा की श्रेणी में नहीं आती है। वस्तुतः अन्तरंग में आंशिक साम्यता आए बिना अहिंसा की शुरुआत हो ही नहीं सकती।

कहा जाता है कि चारों तरफ हिंसा बढ़ रही है। सम्पूर्ण विश्व में रोजमर्रा की जिन्दगी में हिंसा प्रभावी हो रही है। इस सन्दर्भ में क्या कभी यह विचार किया कि वास्तव में हिंसा कितनी बढ़ रही है ? क्या बाह्य हिंसा की मात्रा बाह्य अहिंसा से अधिक हो गई है ? सामान्यतः मनुष्य चौबीस घण्टे किसी न किसी को सिर्फ मारने–मारने का काम नहीं कर सकता। यह घटना कभी–कभी ही होती है। अधिकांश समय मनुष्य शान्ति से किसी को कष्ट पहुँचाए बिना ही व्यतीत करता है। दंगे–फसाद भी कोई वर्ष भर तो चलते नहीं हैं। कभी–कभी अचानक इस प्रकार की घटनाएँ होती हैं। ऐसी घटनाएँ ज्यादा भी हों तो भी उन दिनों की संख्या कहीं ज्यादा ही निकलेगी, जिन दिनों में ऐसी घटना या बातें नहीं होती हैं।

बात स्पष्ट है कि हिंसक प्रवृत्ति की प्रधानता वाला मनुष्य या समाज भी सतत हिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकता क्योंकि हिंसा प्राणीमात्र का स्वभाव नहीं अपितु विभाव है। मनुष्य का मूलस्वभाव तो अहिंसा है। जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता है किन्तु कभी अग्नि आदि के संयोग से वह गर्म हो जाता है। उष्णता, जल का स्वभाव नहीं है इसलिए अग्नि का निमित्त हट जाने पर कुछ समय बाद वह पुनः स्वतः शीतलता की ओर बढ़ता है और वहाँ पहुँचकर सदा स्वतः वैसा ही बना रहता है।

यद्यपि तथाकथित कुछ मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि हिंसा भी मनुष्य का स्वभाव है परन्तु यह उनके सोचने का अपना तरीका है। उनके हिंसा–अहिंसा के कारणों को खोजने के मापदण्ड भिन्न हैं तथापि धर्म की यह मान्यता है कि मनुष्य में सिर्फ शरीर और मन ही नहीं है बल्कि मनुष्य में एक आत्मा भी वास करती है और उस आत्मा का स्वभाव, अहिंसा, क्षमा, शान्ति, और करुणा है।

2.5.1 मानसिक अहिंसा—

हिंसा की व्याख्या करते समय प्रातः यह समझा जाता है कि यदि किसी की जान ली जा रही है, उसे दुःख पहुँचाया जा रहा है तो हिंसा हो रही है और यदि ऐसी घटनाएँ नहीं हो रही हैं तो अहिंसा है किन्तु यह स्थूल व्याख्या है। हमारे जीवन में बाह्य हिंसा से अधिक मानसिक हिंसा होती है। वास्तव में तो लगभग 99 प्रतिशत बाह्य हिंसा के पीछे मानसिक हिंसा ही कारण होती है इसीलिए मानसिक हिंसा से बचने के लिए सदा सौहार्दभाव, स्वस्थ चिन्तन बढ़ाते रहना चाहिए।

अपने मन में किसी के अहित का विचार करना मानसिक हिंसा तो है ही; किसी दूसरे के मन को दुःख पहुँचाना भी मानसिक हिंसा का ही एक रूप है। किसी व्यक्ति, परिवार, समाज या समग्र राष्ट्र को दुःखी करने के उद्देश्य से उनके अहित का चिन्तन करना और योजनाएँ बनाना भी मानसिक हिंसा है। जैनदर्शन में मान्यता है कि किसी को तकलीफ पहुँचाना तो दूर, इसके बारे में मन में बुरा ख्याल आना भी हिंसा है। उदाहरण के रूप में हमने किसी को मारने का विचार किया किन्तु मारा नहीं तो भी हमें हिंसा का दोष अवश्य लगेगा। कई बार फिल्म या सीरियल देखते समय खलनायक या अन्य किसी के अनिष्ट का चिन्तन करके हम व्यर्थ ही मानसिक हिंसा के भागी बन जाते हैं।

अनेक घटनाओं में यह देखा जाता है कि हिंसा का सतत चिन्तन करते रहने के कारण मनुष्य का मानसिक सन्तुलन खराब हो जाता है और वह बड़ी–बड़ी हिंसक घटनाओं को अंजाम देने लगता है इसीलिए मानसिक रूप से अहिंसक भावना को विशेष महत्त्व दिया गया है। मनुष्य जब मन से शान्त रहेगा, हिंसक विचार नहीं करेगा तो बाह्य हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठेगा। मानसिक और वैचारिक शान्ति हमारे अहिंसक व्यवहार का प्रमुख कारण है। मन में राग–द्वेष रूप विचारों को नहीं आने देना और क्षमा, समता, शान्ति आदि अहिंसक विचारधारा को अपने में सतत प्रवाहित होने देना ही मानसिक अहिंसा है।

2.5.2 वाचिक अहिंसा—

हिंसा का द्वितीय स्तर वाचिक हिंसा है। सर्वप्रथम मनुष्य हिंसा का विचार मन में लाता है फिर अपने वचनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। कई बार जनसभाओं में ऐसे–ऐसे भाषण दिए जाते हैं कि जनसमुदाय भड़क जाता है और हिंसा पर उतारू हो जाता है, यह वाचिक हिंसा का एक रूप है। अपने वचनों के माध्यम से ऐसे शब्दों का प्रयोग करना, जिससे किसी व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र की शान्ति भंग हो या उन्हें दुःख पहुँचे, वाचिक हिंसा है। व्यावहारिक रूप में गाली देना, किसी की निन्दा करना, अपशब्दों का प्रयोग करना, यह सब वाचिक हिंसा है और ऐसा नहीं करना वाचिक अहिंसा है।

कई बार लोगों को अनावश्यक बड़बड़ाने या व्यर्थ का अधिक बोलने की आदत होती है, उनसे अनायास ही वाचिक हिंसा होती रहती है; अतः वाणी पर संयम रखना ही वाचिक अहिंसा है। किसी महापुरुष ने कहा है कि अनावश्यक बोलो ही मत; जरूरत पड़े तो कम बोलो; वह भी बहुत विचारपूर्वक नाप–तोल कर बोलो; जो भी बोलो, हित–मित–प्रिय बोलो। संयमित वचनों से हमारा व्यक्तित्व निखरता है।

2.5.3 कायिक अहिंसा—

मनुष्य का मन पर संयम नहीं रहता तो वह मानसिक हिंसा करता है, उससे आगे वचनों पर संयम नहीं रहता तो वह वाचिक हिंसा करता है और इसके बाद वह कायिक हिंसा पर उतर आता है। अपने शरीर की क्रियाओं के द्वारा किसी भी प्राणी का अहित करना, कायिक हिंसा है। स्वयं हाथ–पैर चलाकर किसी की जान लेना, उसे तकलीफ पहुँचाना, अंगों के इशारों से किसी दूसरे को हिंसा की अनुमति या आदेश देना या फिर क्रोध में आकर स्वयं के अंगों का घात करना, कायिक हिंसा है।

अनेक स्थितियों में मनुष्य जाने अनजाने भी कायिक हिंसा का दोषी बनता है। इसे अनर्थदण्ड कहा गया है। पार्क

या बगीचों में रास्ते पर चलते–फिरते निष्प्रयोजन (Unnecessary) पेड़–पौधों अथवा फूलों को तोड़ना, टहनियाँ या पत्ते तोड़ना, चलते समय पैरों के नीचे छोटे–छोटे निर्दोष जीवों का ख्याल न करना, घास–फूस को कुचलना, उन पर मल–मूत्र त्यागना, बैठे बैठे हाथ–पाँव चलाना, नदी–तालाब के किनारे बैठकर उसमें पत्थर या कूड़ा–करकट फेंकना इत्यादि अनेक उदाहरण हैं, जब हम अनायास अकारण और निष्प्रयोजन ही कायिक हिंसा करते हैं, जबकि मन में हिंसा की भावना नहीं रहती है। यहाँ प्रमाद हिंसा का कारण बनता है। इससे पर्यावरण भी बिगड़ता है तथा इस पर हमारी आदतों से बुरा असर पड़ता है। मन–वचन–काय की अहिंसा का पालन करके हम पर्यावरण को भी सन्तुलित रख सकते हैं। मानसिक और वैचारिक प्रदूषण, शोर–शराबे का प्रदूषण और हमारी असंयमित क्रियाओं से अन्य सभी किस्म के प्रदूषण, हमारे वातावरण को दूषित बना देते हैं, जिससे शान्ति भंग होती है, पर्यावरण असन्तुलित होता है। अहिंसा के द्वारा हम इसे सन्तुलित बना सकते हैं।

2.6 हिंसा के प्रकार—

हिंसा के अनेक प्रकार हैं। विविध माध्यमों से, विविध तरीकों से हिंसा होती है। जैन परम्परा में स्थूलरूप से हिंसा के चार भेद इस प्रकार माने गऐ हैं—

2.6.1 संकल्पी हिंसा—संकल्पपूर्वक किसी प्राणी को पीड़ा देना या उसका वध करना 'संकल्पी हिंसा' है। आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगों, जाति विरोधी हमलों और माँसभक्षण आदि के लिए किया गया शिकार इत्यादि प्रवृत्तियों में होने वाली हिंसा इस परिभाषा में आती है। धार्मिक अनुष्ठानों का बहाना लेकर अथवा देवी–देवताओं के समक्ष की जाने वाली बलि आदि प्रथाएँ भी संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत ही हैं।

2.6.2 आरम्भी हिंसा—घर गृहस्थी एवं अपने जीवन के आवश्यक कार्यों में, जैसे—भोजन बनाने, नहाने–धोने, वस्तुओं को रखने–उठाने, चलने–फिरने, उठने–बैठने इत्यादि कार्यों में अपरिहार्यरूप से जो जीवघात होता है, वह 'आरम्भी हिंसा' है।

2.6.3 उद्योगी हिंसा—आजीविका उपार्जन के लिए नौकरी, कृषिकार्य और उद्योग–व्यापार आदि कार्यों में अपरिहार्यरूप से जो जीव–हिंसा होती है, वह सब 'उद्योगी हिंसा' की श्रेणी में आती है किन्तु अहिंसा का समर्थक मनुष्य वही व्यापार करेगा, जिसमें कम से कम जीवघात हो और अन्य का शोषण न हो।

2.6.4 विरोधी हिंसा—राष्ट्र–धर्म–समाज या अपने कुटुम्ब–परिवार स्वजन आदि पर आये संकट को दूर करने या उनकी रक्षा या आत्मरक्षा करते हुए किसी आक्रमणकारी की हिंसा न चाहते हुए भी हो जाती है, वह 'विरोधी हिंसा' कहलाती है क्योंकि यहाँ उद्देश्य रक्षामात्र था, उन्हें मारना नहीं।

इन चार प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ मनुष्य, जो साधु या संन्यासी नहीं है, वह प्रथम संकल्पी हिंसा का पूर्णरूप से त्याग करता है। शेष तीन हिंसा उसके गृहस्थ सामाजिक जीवन में होती तो अवश्य है और वहाँ भी वह हिंसा से बचने का प्रयास करता है किन्तु मजबूरीवश हिंसा हो जाती है।

2.7 क्या हिंसा का पूर्ण त्याग सम्भव है ?—

यदि गृहस्थ जीवन है तो हिंसा किसी न किसी रूप में अवश्य होगी, फिर पूर्ण अहिंसा कैसे सम्भव है ? यह आज का सामान्य प्रश्न है। शास्त्रों में साधु–संन्यासियों के लिए सम्पूर्ण अहिंसा के लिए अहिंसा महाव्रत का वर्णन है। गृहस्थ के लिए पूर्ण अहिंसा सम्भव नहीं है, इस कारण उसके लिए व्यवहारिक अहिंसा का मार्ग है 'हिंसा का अल्पीकरण' अर्थात् यथासम्भव कम से कम हिंसा हो। तात्पर्य यह है कि जीने के लिए जो बहुत जरूरी नहीं, वैसी हिंसा का त्याग किया जा सकता है।

इस दृष्टि से हम हिंसा को दो स्तरों में विभाजित कर सकते हैं—

1. सार्थक हिंसा और 2. निरर्थक हिंसा

2.7.1 सार्थक हिंसा—

इनसे तात्पर्य है–प्रयोजनमूलक आवश्यक हिंसा, जिसके बिना हम जी नहीं सकते। जैसे, पौधों या वृक्षों से भोजन–सामग्री लेना आदि। दूसरी अनर्थक अथवा निरर्थक हिंसा का तात्पर्य है—निष्प्रयोजन हिंसा। जैसे, हमारे जीवन में भी अनेक प्रकार की ऐसी हिंसाएँ होती हैं, जिनको छोड़ने से हमारी कोई हानि नहीं होती। व्यर्थ की हिंसा से हमारा जीवन भरा पड़ा है; अतः यदि गृहस्थ पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो हिंसा छोड़ने का प्रारम्भ तो अनावश्यक हिंसा को छोड़कर किया ही जा सकता है। जो-जो आवश्यक नहीं, उसे छोड़ते चले जाएँ, इसके बाद जो अति आवश्यक बचेगा, वही जीवन का यथार्थ होगा, सार्थक हिंसा होगी।

खाने के लिए वृक्ष से पके हुए फल तोड़ना अपराध नहीं है किन्तु उसके लिए पूरी डाल तोड़ लेना या पूरा वृक्ष काट डालना अपराध है। यही सार्थक हिंसा और निरर्थक हिंसा में भेद है।

2.8 हिंसा के दुष्परिणाम—

आज हिंसा के भयंकर दुष्परिणाम सभी के सामने हैं। परमाणु बमों के प्रयोग से हिरोशिमा और नागासाकी की जो हालत हुई, वह किसी से छिपी नहीं है। आज भी उस युद्ध के परिणाम की तस्वीरें देख लें तो दिल दहल उठता है। प्रश्न उठता है अस्तित्व की कीमत पर इतनी हिंसा क्यों ? जब मनुष्य ही नहीं रहेगा तो किसका राज्य रहेगा और किसकी सत्ता रहेगी ? अपने अहं और अनियन्त्रित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अपनी शक्तियों का दुरुपयोग इस कदर कर रहा है कि उसकी हिंसा से न परिवार सुरक्षित है, न समाज, न राष्ट्र और न ही विश्व।

आतंकवाद, साम्प्रदायिक दंगे, व्यक्तिगत और अन्याय सम्पत्ति के लिए होने वाले संघर्ष और राज्य, भाषा एवं धर्म को लेकर होने वाली हिंसा तथा विविध राजनैतिक हिंसाएँ क्या मानव जीवन के हित में हैं ? उत्तर होगा—नहीं, तो फिर यह सब व्यर्थ में क्यों और किसलिए की जाती हैं ?

हम अपने संसाधनों के विकास के लिए निरन्तर वृक्षों को काट रहे हैं, पर्वतों को उखाड़ रहे हैं, जंगलों को नष्ट कर रहे हैं, प्रकृति का उपयोग करने की जगह उसका दोहन कर रहे हैं। यह कार्य सम्पूर्ण विश्व में चल रहा है। पहले हम इस विषय पर चिन्तन करना अनावश्यक समझते थे किन्तु अब उसके दुष्परिणाम प्राकृतिक प्रकोप, मानसून असन्तुलन, ओजोन छिद्र और ग्लोबल वार्मिंग के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। आज हम इस विषय पर सोचने लगे हैं, ये सब वे कार्य हैं जिन्हें हम हिंसा मानते ही नहीं थे।

पर्यावरण को सन्तुलित रखने वाले जानवरों और पशु–पक्षियों को भोजन की वस्तु बनाया जा रहा है, जीभ के स्वाद के लिए निरीह, मूक जीवों का कत्ल किया जा रहा है। मांस निर्यात हेतु रोज नये नये कत्लखाने खुल रहे हैं। यहाँ प्रश्न है, इतने विशाल स्तर पर होने वाली जीवहिंसा तथा जीवों के करुण क्रन्दन और चीखों का असर हमारे पर्यावरण पर पड़े बिना कैसे रह सकता है ? टाइम्स ऑफ इण्डिया के सम्पादकीय पृष्ठ पर एक ब्रिटिश रिसर्च के परिणाम प्रकाशित हुए हैं, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि ग्लोबल वार्मिंग (निरन्तर बढ़ते हुए तापमान) के लिए ये बूचड़खाने और माँसाहार जिम्मेदार हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिकी के तीन प्राध्यापकों डॉ. मदनमोहन बजाज, डॉ. इब्राहीम तथा डॉ. विजयराज सिंह ने स्पष्ट गणितीय वैज्ञानिक गवेषणाओं के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दुनिया भर में होने वाली समस्त प्राकृतिक आपदाओं सूखा, बाढ़, भूकम्प, चक्रवात का कारण हिंसा और हत्याएँ हैं।

गरीबों का शोषण एवं गर्भपात जैसी हिंसा से भी हम पाप के भागीदार तो बन ही रहे हैं, साथ ही अपने पर्यावरण को

प्रदूषित करके वातावरण को हिंसक बना रहे हैं, जिसका सीधा असर मनुष्य की सुख–शान्ति पर पड़ता है। मनुष्य जैसा खाएगा, वैसा ही सोचेगा।

बहुत पुरानी कहावत है–'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।' मनुष्य अण्डा–माँस खाएगा, मद्यपान करेगा तो उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी हिंसक होगी। मनुष्य से ही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व निर्मित होता है। मनुष्य का चरित्र गिरेगा तो वह हिंसक होगा फिर इसका प्रभाव परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व पर भी पड़ेगा तथा जब विश्व हिंसक बनेगा तो उसका प्रभाव मानव जीवन और उसके अस्तित्व पर भी अवश्य पड़ेगा।

मानव की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए हर हाल में हमें उसके मूलधर्म 'अहिंसा' की चेतना को जीवित रखना होगा क्योंकि अहिंसा रहेगी तो अस्तित्व रहेगा; अन्यथा विनाश को कोई रोक नहीं सकेगा।

हिंसा और उसके दुष्परिणामों को देखकर यह बात अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की जाने लगी है कि यह विश्व प्राकृतिक दृष्टि से अखण्ड है। प्रत्येक जीवधारी उस अखण्डता का एक अविभाजित भाग है। किसी भी एक भाग को कष्ट होगा तो उसक सूक्ष्म दुष्प्रभाव सभी जीवधारियों पर पड़ेगा। अभी पर्यावरण के स्तर पर यह बात स्वीकार की जाने लगी है। विश्व की इस आन्तरिक व्यवस्था को अभी तक सिर्फ अध्यात्म समझ रहा था किन्तु विज्ञान भी इस तथ्य को समझने लगा है।

अहिंसा की दृष्टि सभी जीवधारियों को समान दृष्टि से देखती है। आज अहिंसा के स्वर को मात्र शास्त्रों के आधार पर प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता, उसके लिए हमें अनेक तर्क जुटाने होंगे। इस काम में विज्ञान हमारी मदद कर सकता है।

2.9 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-.....ने अहिंसा को ही परमब्रह्म कहा है।

(क) आचार्य जिनसेन स्वामी ☐
(ख) आचार्य समन्तभद्र स्वामी ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-हिंसा का मूल कारण क्या है ?

(क) प्रमाद ☐ (ख) चेतना ☐ (ग) प्रमाद और चेतना दोनों ☐

प्रश्न 3-पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास.....है।

(क) द्रव्य प्राण ☐ (ख) भावप्राण ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-हिंसा किसे कहते हैं एवं इसका मूल कारण क्या है ? बताइए ?

प्रश्न 2-हमें जमीकंद एवं बाजार की वस्तुओं का सेवन क्यों नहीं करना चाहिए ?

प्रश्न 3-जैनधर्म में पदार्थ रात्रि भोजन का निषेध क्यों है ?

प्रश्न 4-स्याद्वाद का क्या अर्थ है ? बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-हिंसा के कितने भेद हैं ? उनके नाम बताते हुए उनकी व्याख्या कीजिए ?

पाठ-3 – अपरिग्रह

3.1 राष्ट्र एवं समाज हित में परिग्रहपरिमाण व्रत की उपादेयता–

धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति के मूल बिन्दु हैं, जिनके कारण विश्व में भारत की पहचान आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रभावी है। भारतीय संस्कृति में दो विचारधाराएँ प्रमुख हैं—(1) श्रमण संस्कृति (2) वैदिक संस्कृति। जहाँ श्रमण साधना आत्मा की अपरिमित सत्ता में विश्वास रखती है और मानती है कि जब आत्मा सभी कर्मों से मुक्त हो जाती है तो वह अवस्था मोक्ष की होती है—"सर्व कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।" आत्मा ही पूर्ण गुणात्मक विकास कर लेने पर परमात्मा बन जाती है जबकि वैदिक संस्कृति प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश मानती है। इसकी अवधारणा इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तथ कथ्यो ग्यानी।।

वैदिक दृष्टि में ईश्वर या परमात्मा जगत् का कर्ता, नियन्ता एवं विनाशक है, जिसकी कल्पना वह ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में करता है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति अनादिनिधन स्वाभाविक व्यवस्था को अंगीकार करती है जिसमें गुणात्मक विकास सर्वोपरि है।

3.1.1 श्रमण संस्कृति के आधारस्तंभ— श्रमण संस्कृति के आधार स्तम्भ पंच अणुव्रत और पंच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन पंच व्रतों के सम्यक् परिपालन से ही मानव मानवीय आचरण कर सकता है, संसार में रहता हुआ सुखी रह सकता है और संसार से मुक्त भी हो सकता है। यहाँ प्रकृत विषय अपरिग्रह है अतः अपरिग्रह की चर्चा करना ही इष्ट है, प्रयोज्य है।

कहा जाता है कि मनुष्य में संग्रह की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। कर्म भी उसमें कारण होते हैं। यह संग्रह की प्रवृत्ति जब आवश्यकता से अधिक बढ़ने लगती है तो समाज में उथल–पुथल मच जाती है और अभाव की विभीषिका झेल रहे लोग हिंसक क्रान्ति पर उतारू हो जाते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील रूप पाप भी इसके कारण होते देखे जाते हैं। भगवान् महावीर का अपरिग्रह दर्शन इस दृष्टि से महान् है कि उसने विश्व को अहिंसक/अपरिग्रह संस्कृति दी जिसमें बताया गया कि मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक बनो और अपनी आवश्यकतानुसार ही सामग्री का संग्रह करो, शेष का बिना किसी के दबाव के स्वैच्छिक रूप से त्याग करो।

जो सजीव एवं निर्जीव वस्तु का स्वयं संग्रह करता है और दूसरों के द्वारा भी ऐसा ही संग्रह करवाता है अथवा अन्य व्यक्ति को ऐसा संग्रह करने की सम्मति देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है। धनलिप्सा (परिग्रह) दुष्कर्मों को जन्म देती है। धन इस लोक और परलोक में शरण देने वाला नहीं है। अंधकार में जैसे दीपक बुझ जाये तो दिखा हुआ मार्ग भी अनदीखा हो जाता है उसी प्रकार पौद्गलिक वस्तुओं (धनादि) के अंधकार में न्यायमार्ग को देखना असंभव हो जाता है। इस स्थिति से बचाव का एक ही मार्ग है और वह है—अपरिग्रह। यह अपरिग्रह जैनधर्म-दर्शन की मौलिक विशेषता है।

3.2 परिग्रह का स्वरूप–

'बृहत् हिन्दी कोश' (पृ. 650) के अनुसार 'परिग्रह' शब्द का अर्थ, लेना, ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, आवेष्टित करना, धारण करना, धन आदि का संचय, किसी दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, किसी स्त्री को भार्या रूप में ग्रहण करना, पत्नी, स्त्री, पति, घर, परिवार, अनुचर, सेना का पिछला भाग, राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शपथ, कसम, मूल आधार, विष्णु, जायदाद, स्वीकृति, मंजूरी, दावा, स्वागत सत्कार, आतिथ्य सत्कार करने

वाला, आदर, सहायता, दमन, दण्ड, राज्य, सम्बन्ध, योग, संकलन शाप बताया गया है। इसमें एक ओर जहाँ परिग्रह को संचय के अर्थ में लिया है, वहीं शाप के अर्थ में भी रखा है जिससे परिग्रह की शोचनीय दशा प्रकट होती है। जैनाचार्यों की धारणा मे परिग्रह **'परितो गृह्यति आत्मानमिति परिग्रहः'** अर्थात् जो सब ओर से आत्मा को जकड़े, वह परिग्रह है।

आचार्य उमास्वामी (तत्त्वार्थसूत्र 7/17) के अनुसार मूर्च्छा परिग्रह है—**''मूर्च्छा परिग्रहः।''** इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि (7/17/695) में लिखा है कि—"गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।" आचार्य श्री पूज्यपाद की ही दृष्टि में **''ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः''** (सर्वार्थसिद्धि 6/15/638) अर्थात् यह वस्तु मेरी है; इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। राजवार्तिक (4/21/3/236) के अनुसार "लोभकषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं"। **''ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमान संकल्प परिग्रह इत्युच्यते''** (राजवार्तिक 6/15/3/525) अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममत्व-परिणाम परिग्रह है।

'धवला' पुस्तक (12/4,2, 8, 6/282/9) के अनुसार—**''परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः' बाह्यार्थग्रहणं हेतुरत्र परिणामः। परिगृह्यते इति परिग्रहः''** अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है, इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है तथा **'परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः'** जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है। इस निरुक्ति के अनुसार यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।

समयसार आत्मख्याति (210) के अनुसार 'इच्छा परिग्रह' अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है।

3.2.1 परिग्रह के भेद—

परिग्रह के दो भेद हैं—(1) अभ्यन्तर, (2) बाह्य

इनमें अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं—

(1) मिथ्यात्व, (2) क्रोध कषाय, (3) मान कषाय, (4) माया कषाय, (5) लोभ कषाय, (6) हास्य नोकषाय, (7) रति नोकषाय, (8) अरति नोकषाय, (9) शोक नोकषाय, (10) भय नोकषाय, (11) जुगुप्सा नोकषाय, (12) स्त्री वेद नोकषाय (13) पुंवेद नोकषाय, (14) नपुंसक वेद नोकषाय।

बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं—(1) क्षेत्र (खेत), (2) वास्तु (मकान), (3) चाँदी, (4) सोना, (5) धन, (6) धान्य, (7) दासी, (8) दास, (9) वस्त्र, (10) बर्तन।

3.2.2 परिग्रह पाप है—

जैनागम में पाँच पाप माने गये हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इसके अनुसार परिग्रह भी पाप है। परिग्रह बनाम मूर्च्छा पाँचों प्रकार के पापों का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्द्धन एवं संरक्षण के प्रति जो सचेत है, वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म से बच नहीं सकता। सर्वार्थसिद्धि (7/17/695) के अनुसार—"सब दोष परिग्रहमूलक हैं।' 'यह मेरा है', इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है,. चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं, वे सब इसमें उत्पन्न होते हैं।

आचार्य श्री गुणभद्र की दृष्टि में–सज्जनों की भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी समुद्र को स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखा जाता है—

शुद्धैधनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय–119 में परिग्रह से हिंसा होती है, यह माना है—

हिंसापर्यायत्वासिद्धा हिंसान्तरङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छेव हिंसात्वम्।।

अर्थात् हिंसा के पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं।

3.2.3 परिग्रह त्याग की प्रेरणा—

जैनाचार्यों ने परिग्रह त्याग हेतु इसे अणुव्रत, प्रतिमा एवं महाव्रत के अन्तर्गत रखा है। अणुव्रत एवं प्रतिमा सद्गृहस्थ श्रावक एवं परिग्रह त्याग महाव्रत मुनि धारण करते हैं।

3.3 परिग्रह परिमाण—

परिग्रह दुःखमूलक होता है। 'ज्ञानार्णव' (16/12/178) में कहा गया है कि—

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्।।

अर्थात् परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। उसे नगकगति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।

दुःख रूप परिग्रह से बचने के लिए जैनाचार्यों ने परिग्रह को परिमाण (सीमित) करने को अणुव्रत के रूप में मान्यता दी है। 'सर्वार्थसिद्धि' (7/20/701) के अनुसार–"**धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्।**" अर्थात् गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिए उसके पाँचवां परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा–339, 340) के अनुसार—

जो लोहं णिहणित्ता संतोस–रसायणेण संतुट्ठो।
णिहणिदि तिण्हादुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं।।
जो परिमाणं कुव्वदि धण–धण्ण–सुवण्ण–रिक्तमाणि।
उवयोगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स।।

अर्थात् जो लोभ कषाय को कम करके, संतोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है, उसके पाँचवां (परिग्रह परिमाण) अणुव्रत होता है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (श्लोक 61) में आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है कि—

धनधान्यादिग्रंथं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामाणि।।

अर्थात् धन–धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् परिमाण करके 'इतना रखेंगे', उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना, सो परिग्रह परिमाण व्रत है तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है।

इस प्रकार संचित परिग्रह को निरन्तर कम–कम करते जाने का संकल्प तथा संकल्पानुसार कार्य परिग्रह परिमाण कहा जाता है।

3.3.1 परिग्रह परिमाण आवश्यक—

परिग्रह संचय एक मानवीय मानसिक विकृति है जिसके कारण व्यक्ति जीवन भर दुःख उठाता है तथा पाँचों पापों के कार्यों में संलग्न होता है। कहा भी है—

कनक-कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराय जग, वा पाये बौराय।।

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (6/17) में मनुष्यगति के आस्रव में अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह का भाव प्रमुख माना है—"**अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।**" वहीं बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है—"**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः**" (तत्त्वार्थसूत्र 6/15)। अब हमें यह विचार करना है कि हम परिग्रह का परिमाण करके मनुष्य बनना चाहते हैं या बहुत अधिक परिग्रह का संचयन करके नकरगति के दुःख भोगना चाहते हैं ? कबीर ने इसीलिए कहा कि—

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।

कुछ लोग धर्म, दान, पूजा आदि के लिए धनादि परिग्रह संचय को उचित मानते हैं किन्तु पैसा बटोरकर दान करना वैसा ही है, जैसा कि कीचड़ लगाकर धोना। संस्कृत में सूक्ति है कि '**प्रलाक्षनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्**" अर्थात् कीचड़ लगने पर धोने से अच्छा है कि उसे दूर से ही त्याग दें। उसी प्रकार परिग्रह संचय कर दान करने की अपेक्षा परिग्रह त्याग ही उचित है। गृहस्थ को तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप परिग्रह परिमाण ही करना चाहिए।

3.3.2 परिग्रह संचय का दुष्परिणाम—

परिग्रह संचय का ही यह दुष्परिणाम है कि एक ओर जहाँ लोग भूख से मर रहे हैं, वहीं दूसरी और धनाढ्य वर्ग गरिष्ठ भोजन करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ रहे हैं। कुछ लोगों के 'विलासिता के' साधनों के लिए 'आवश्यकता की' वस्तुओं से भी अन्य कई लोग वंचित किये जा रहे हैं। ऐसे में यदि कोई समुचित मार्ग बचता है तो वह परिग्रह परिमाण ही है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

तुम्हारे दिल की चुभन भी जरूर कम होगी।
किसी के पाँव से काँटा निकालकर देखो।।

एक बार महात्मा गाँधी से किसी मारवाड़ी सेठ ने पूछा कि—गाँधीजी, आप सबसे टोपी लगाने को कहते हैं, यहाँ तक कि आपके अत्यन्त आग्रह के कारण टोपी के साथ आपका नाम जुड़कर गाँधी टोपी हो गया है, लेकिन आप स्वयं टोपी नहीं लगाते हैं ?

यह प्रश्न सुनकर गाँधीजी ने उनसे पूछा कि आपने यह जो पगड़ी बाँध रखी है, इसमें कितनी टोपियाँ बन सकती हैं ?

मारवाड़ी सेठ ने कहा कि—"बीस"

तब गाँधी जी ने कहा कि "जब तुम्हारे जैसा एक आदमी बीस टोपियों का कपड़ा अपने सिर पर बाँध लेता है तो मुझ जैसे उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना पड़ता है। यह उत्तर सुनकर वह सेठ निरुत्तर हो गये।

वास्तव में परिग्रह परिमाण ही गृहस्थ को सामाजिक बनाता है। परिग्रह की दीवारें हमारे प्रति घृणा एवं विद्वेष को जन्म देती हैं। अली अहमद जलीली का एक शेर है कि—

नफरतों ने हर तरफ से घेर रखा है हमें,
जब ये दीवारें गिरेंगी रास्ता हो जायेगा।।

3.3.3 परिग्रह परिमाण हेतु समाजवाद की अवधारणा—

परिग्रह परिमाण के लिए समाजवाद की अवधारणा सामने आयी। समाजवाद की अवधारणा अगर अंश है तो परिग्रह परिमाण उस अंश को पाने की दिशा में उठाया गया महत्त्वपूर्ण कदम है जो क्रमशः परिमित होते हुए जब अपरिग्रह की स्थिति में आता है तो पूर्णलक्ष्य बन जाता है। यहाँ अर्थ की अनर्थता की नित्य भावना करने वाला प्राणी,

धन को स्व परोपकार का निमित्तमात्र मानता है। सर्वप्रथम अपनी अभिलाषाओं को संतोष में बदलकर वह दानशीलता की ओर उन्मुख होता है। परिग्रह का परिमाण करता है और निरन्तर आत्मविकास करता हुआ परिमाण किये परिग्रह में भी ममत्व छोड़कर पूर्ण अपरिग्रही बन जाता है।

राष्ट्र एवं समाज में शान्ति परिग्रह परिमाण से ही संभव है किन्तु स्वार्थ और संचय की प्रवृत्ति ने समाजवाद को स्थापित ही नहीं होने दिया।

'शेक्यपियर' ने लिखा है कि—

Gold is worse pain in the souls of men, doing more murders in this world than any mortal drug.

अर्थात् सोना (स्वर्ण) मनुष्य की आत्मा को अत्यधिक रूप से दुःखी करता है। किसी मरणदायक औषधि की अपेक्षा सोने के कारण संसार में अधिक हत्यायें हुई हैं।

अपने यहाँ कहावत है कि 'बुभुक्षितः किन्नु करोति पापं' अर्थात् भूखा मनुष्य क्या पाप नहीं करता ? मुट्ठीभर लोगों के हाथ में पूँजी व अन्य सामग्री संगृहीत होकर जनता को त्रस्त करती है, जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

परिग्रह स्वयं में एक रोग है। यह जिसे लग जाता है, वह दिन रात इसी में लगा रहता है, किन्तु जो निष्परिग्रही होता है, वह कभी बैचेन नहीं रहता। जिसके पास परिमित परिग्रह है, वह चैन से रहता है, चैन से खाता है और चैन से सोता है तथा अणुव्रत रूप में पालन करे तो कर्मों की निर्जरा भी करता है, अतः परिग्रह का परिमाण कर सुखी होना ही इष्ट है, उपादेय है।

कहते हैं कि परिग्रह दुःखों का कारण है। यह अहंकार को जन्म देता है। अहंकार स्वयं में कषाय है और शेष कषायों को भी अपनी ओर आकृष्ट करता है।

भगवान् महावीर का चिन्तन स्पष्ट था। वे हर बुराई को विचार के स्तर पर ही समाप्त करना चाहते थे। इस परिग्रह को ममत्व परिणाम से युक्त एवं जीव को चारों ओर से घेरने वाला बताया गया है अतः इसका परिग्रह नाम सार्थक है।

3.4 अपरिग्रह महाव्रत—

इन पदार्थों के प्रति ममत्वभाव (मूर्च्छा) ही पाँचों पापों का मूल स्रोत है। बाहरी पदार्थों का होना ही पाप नहीं है बल्कि इनमें जो रागानुभूति, आसक्ति, प्राप्त करने की आकांक्षा, प्राप्त वस्तुओं के निरन्तर संरक्षण या खर्च न हो जाने का भाव भी परिग्रह की कोटि में आता है। जो परिग्रही है और परिग्रह के अर्जन, संवर्द्धन एवं संरक्षण में मन–वचन–काय से संलग्न है, वह हिंसा, झूठ, चोरी व कुशील के पास से बच नहीं सकता इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा कि परिग्रह का परिमाण करो। इसे परिग्रह परिमाण अणुव्रत कहा गया। 'सर्वार्थसिद्धि' (7/20/701) के अनुसार—'धनधान्यक्षेत्रादीना–मिच्छावशात् कृत परिच्छेदो गृहीति पञ्चमणुव्रतम्'' अर्थात् गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवां परिग्रह अणुव्रत होता है।

जब अणुव्रत से महाव्रत की ओर यह जीव बढ़ता है तो परिग्रह परिमाण अणुव्रत से ही काम नहीं चलता बल्कि उसे अपरिग्रह या आकिञ्चन्य धर्म को अपनाना पड़ता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने बारस अणुवेक्खा (गाथा 79) में इसे परिभाषित करते हुए कहा है—

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं।।

अर्थात् सर्व प्रकार के परिग्रह से निःसंग होकर तथा सुख–दुःखदायक कर्मजनित निज परिणामों (इष्ट अनिष्ट) का निग्रह करके जो अनगार (मुनि) निर्द्वन्द्वता (समता) पूर्वक प्रवर्तन करता है, उसके आकिञ्चन्य अर्थात् अपरिग्रह धर्म होता है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने समयसार, गाथा 43 में कहा है कि जब पूर्ण अपरिग्रह की स्थिति होती है, तब यह स्थिति बनती है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणु मित्तं पि।।

अर्थात् मैं एक (अकेला) हूँ, आत्मरूप हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन–ज्ञानरूप हूँ। मैं अन्य किसी भी रूप वाला नहीं हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

3.4.1 आज भी अपरिग्रह को अपनाया जा सकता है—

यह स्थिति तब ही बनती है, जब यह जीव परिग्रह के परिणामों को जान लेता है। आज भी अपरिग्रह को अपनाया जा सकता है क्योंकि परिग्रह के दुष्परिणामों से आज कौन अनभिज्ञ है ? या कौन ऐसा है जो इसके दंश को भोग नहीं रहा है ? धनलोलुपता ने मनुष्य–मनुष्य को बाँट दिया है, कोई पूँजीवादी है तो कोई साम्यवादी, कोई समाजवादी है तो कोई नक्सलाइट्स, कोई विकसित है तो कोई विकासशील, कोई अमीर है तो कोई गरीब। हर व्यक्ति धन से आक्रांत है और भय से भरा हुआ है। कोई आर्थिक सबलता कम न हो जाये इसलिए निर्बलों को दबाये रखना चाहता है, तो कोई धन सम्पन्नों के विरुद्ध निर्धनों, निर्बलों को हिंसक तरीके अपनाने के लिए उकसा रहा है। हिंसक प्रतिस्पर्धा हो रही है। धन के लिये हर कर्म उचित ठहराया जा रहा है चाहे वह कितना ही अनैतिक और घृणित क्यों न हो ? मानव अंगों का व्यापार, वेश्यालयों, जुआघरों का खुलना, पशु माँस व्यापार, मद्य पदार्थों का व्यापार, मानव माँस का विक्रय, चोरी से किडनी आदि को निकाल लेना, आदि दुष्कर्म इसके प्रमाण हैं। समाज तनावग्रस्त है लेकिन बिना कषाय और परिग्रह की लालसा छोड़े इस पर विराम भी नहीं लग सकता। ऐसे में अपरिग्रह को ही यदि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में मान्यता प्रदान की जाये, उसे जीवन के हर कार्य में आत्मसात् किया जाये तभी विश्व के क्षितिज पर राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, समता, सहअस्तित्व और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विकसित किया जा सकता है।

3.4.2 समाजवाद का जन्म—

सन् 1827 में एक विचारधारा का जन्म हुआ जिसे समाजवाद नाम दिया गया, इसका लक्ष्य समाज का हित रखा गया। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के अनुसार—"समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में वैयक्तिक समपत्ति के हित के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं होगा। इस समाज की सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी तथा अनर्जित आय और आय सम्बन्धी भीषण असमानतायें सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीयेंगे।"

समाजवाद का लक्ष्य है—व्यक्ति के शोषण को रोकना और बिना किसी भेदभाव के सभी को समान अवसर उपलबध करवाना। इस तरह समाजवाद की अवधारणा सामाजिक परिप्रेक्ष्य के थोड़े निकट बैठती है लेकन जब हम अपरिग्रह के स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि समाजवाद मात्र बाह्य परिग्रह के समान विभाजन पर ही बल देता है, संचय की प्रकृति के विरुद्ध है किन्तु वह मानसिक स्तर पर लोभजन्य विकारों, परिग्रह त्याग की स्वावलंबन सम्बन्धी धारणाओं के विषय में मौन है। यह सिद्ध है कि जब तक आन्तरिक शुचिता नहीं आयेगी तब तक बाह्य विकार भी समाप्त नहीं होंगे अत: समाजवाद को अपरिग्रह की दिशा में बढ़ता हुआ एक कदम तो कह सकते हैं किन्तु पूर्ण नहीं कह सकते।

आज धन संचय की प्रवृत्ति ने समाज और सामाजिकता का बहुत नुकसान किया है। जो धनसम्पन्न हैं, वे समाज पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष नियंत्रण चाहते हैं। सबको साथ लेकर या सबका साथ देकर चलने की प्रवृत्ति उनमें कम ही देखी जाती है।

3.4.3 समाजवादी विचारधारा — समाजवादी विचारधारा कहती है कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक धन–धान्यादि है, उसे अपना वह अतिरिक्त धन–धान्यादि गरीबों, अशक्तों व दीन-दुखियों में बाँट देना चाहिए। ऐसा करने से समाज में विषमता नहीं होगी, धन के लिए की जाने वाली छीना–झपटी, चोरी, डकैती, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ नहीं पनपेंगी। विभिन्न वर्गों के बीच होने वाला वर्ग संघर्ष समाप्त होगा। समाज में खुशहाली, समानता और सह अस्तित्व की भावना का विकास होगा। हमारा राष्ट्र व विश्व प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज समाजवाद को इस रूप में परिभाषित करते हैं—

अरे कम से कम
शब्दार्थ की ओर तो देखो !
समाज का अर्थ होता है समूह
और
समूह यानी
सम — समीचीन ऊह — विचार है
जो सदाचार की नींव है।
कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार–प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार–विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे।

3.5 चार प्रकार का दान एवं दान के सात क्षेत्र—

चार प्रकार का पात्रदान बताया गया है—

(1) औषधिदान, (2) शास्त्रदान, (2) अभयदान, (4) आहारदान।

दान के लिए सात क्षेत्र बताए गए हैं—

जिनबिम्ब जिनागारं जिनयात्रा प्रतिष्ठितम्।
दान पूजा व सिद्धान्त लेखनं क्षेत्र सप्तकम्।।

अर्थात् जिनबिम्ब की स्थापना, जिनमंदिर का निर्माण, जिनयात्रा (तीर्थयात्रा), पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, चार प्रकार का दान, जिनेन्द्र पूजा और जिनवाणी शास्त्र लेखन; ये दान के सात क्षेत्र बताये गये हैं।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत इस दिशा में प्रथम कदम है। जो गृहस्थी के परिग्रह की ओर बढ़ते कदमों को सर्वप्रथम रोकता है और अपरिग्रह महाव्रत अंतिम कदम है, जिसमें व्यक्ति स्वाधीन होता है।

अपरिग्रह के मूल में सर्वोदय की भावना अन्तर्निहित है। सर्वोदयी सबका भला चाहता है। इस विषय में बिनोवा भावे ने लोकनीति, पृ. 21 पर लिखा है कि—

दुर्भाग्य से वह परिस्थितियाँ आज तक नहीं बन सकीं। आज तो अर्थ की ही दुनिया है, जिसमें अर्थ सर्वोपरि है। इसमें बदलाव संभव दिखायी दे रहा है क्योंकि कोई भी दण्डात्मक व्यवस्था इसे बदल नहीं सकती। हमें इसके लिए मानसिक एवं वैचारिक परिवर्तन के स्तर पर प्रयास करना होगा। भगवान् महावीर ने यही किया था, वे दण्ड के पक्षधर नहीं थे बल्कि मन–वचन-काय पर स्वत: नियंत्रण के पक्षधर थे। इसी से सबका भला हो सकता है।

हमारी जैन परम्परा सबका हित, सबका उत्कर्ष और सबकी सुरक्षा चाहती है इसीलिए जैन श्रावक प्रतिदिन भावना भाता है कि—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।।

अर्थात् सब प्रजा का कल्याण हो। राजा बलवान और धार्मिक हो। मेघ समय–समय पर अच्छी वृष्टि करें। सब रोगों का नाश हो। जगत् में प्राणियों को दुर्भिक्ष, चोरों का उपद्रव तथा मारी (प्लेग) क्षण भर के लिए भी न हो और सब सुखों का देने वाला जैनधर्म सदा फैला रहे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज एवं राष्ट्र में समरसता एवं सहअस्तित्व के लिए राजनैतिक विचारधारा के रूप में समाजवाद आवश्यक है, वहीं समाजवाद की सफलता तभी संभव है जबकि जैन धर्मानुसार लोग परिग्रह परिमाणव्रत को स्वीकार करें। बिना परिग्रहपरिमाणव्रत के लोक एवं आत्मकल्याण असंभव है।

3.7 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–पाँच अणुव्रतों में से एक–

(क) हिंसा ☐
(ख) क्रोध ☐
(ग) अपरिग्रह ☐

प्रश्न 2–परिग्रह कितने प्रकार का है ?

(क) पाँच ☐
(ख) दो ☐
(ग) दश ☐

प्रश्न 3–मिथ्यात्व कौन सा परिग्रह है ?

(क) अभ्यंतर ☐
(ख) बाह्य ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–अणुव्रत कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 2–परिग्रह के कितने भेद हैं एवं उनके उत्तरभेद भी नाम सहित बताइए ?

प्रश्न 3–ज्यादा परिग्रह अथवा कम परिग्रह रखने से हमें कौन–कौन गति प्राप्त होती है ?

प्रश्न 4–परिग्रह किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप समझाइए एवं अपरिग्रह को कम करने के लिए जैनों ने कौन से चार चरण मान्य किये हैं ? बताइए ?।

पाठ-4 – अनेकांतवाद : एक दार्शनिक विश्लेषण

4.1 अनेकान्त की स्तुति—

आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने अनेकान्त की स्तुति में कहा है—

योऽनेकान्तपदं प्रवृद्धमतुलं स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम्।
प्राप्तोऽनन्तगुणोदयं निखिलवन्निः शेषतो निर्मलम्।।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानन्दनः।
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहितः श्रीवर्द्धमानोदितः।

(प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 513 द्वि. भाग)

अर्थात् जो अनेकान्त पद को प्राप्त है, ऐसा अखिल प्रमाण का विषय जयशील हो। वह अनेकान्त पद प्रवृद्धशाली एवं अतुल है तथा अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि को देने वाला है, उसमें अनन्त गुणों का उदय है, वह पूर्ण रूप से निर्मल, जीवों को आनन्दित करने वाला, मिथ्या एकान्त रूप महान अन्धकार से रहित तथा श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित है।

4.1.1 अनेकान्त का स्वरूप—

किसी भी वस्तु को उसके अनेक पहलुओं से देखना, जाँचना अथवा उस तरह देखने की वृत्ति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्तदृष्टि है। अन्त कहते हैं अंश अथवा धर्म को। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक अथवा अनेकधर्म वाली है। न वह सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है, न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है, किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत् , सर्वथा असत् , सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथंचित् सत् , कथंचित् असत् , कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार' की आत्मख्याति नामक टीका में लिखा है कि 'जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है, वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त का कार्य है।

4.1.2 एक ही वस्तु में एक साथ परस्पर विरोधी दो धर्म कैसे रह सकते हैं ?—

जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समय में एक ही साथ भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से छोटा, बड़ा, बच्चा, बूढ़ा, जवान, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य आदि परस्पर विरुद्ध रूपों को धारण करता है, उसी तरह सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु में एक ही साथ पाए जाते हैं। जिस समय देवदत्त अपने लड़के का पिता है, उसी समय वह अपने पिता का पुत्र भी है, अपने शिष्य का यदि गुरु है तो अपने गुरु का शिष्य भी तो है। तात्पर्य यह है कि एक ही साथ भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। इसलिए पदार्थों में सर्वथा अत्यन्तविरोध तो नहीं कहा जा सकता। कथंचित् थोड़ा बहुत विरोध तो सभी पदार्थों में पाया जाता है। जो एक वस्तु में धर्म है, वह दूसरी में नहीं है। वस्तुओं में कथंचित् विरोध हुए बिना भेद ही नहीं हो सकता। वस्तुओं में कथंचित् विरोध तो प्रयत्न करने पर भी नहीं हटाया जा सकता, इसलिए वह अपरिहार्य–अवश्यंभावी होने से दूषणरूप नहीं है।

प्रश्न—अनेकान्तवाद में प्रमाण भी अप्रमाण, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ तथा सिद्ध भी संसारी हो जायेगा।

उत्तर—यह कथन निरर्थक है; क्योंकि स्याद्वादी प्रमाण को भी अपने विषय में ही प्रमाणरूप मानते हैं, पर विषय में तो वह अप्रमाणरूप ही है। घटज्ञान घटविषय में प्रमाण है तथा पटादिविषयों में अप्रमाण। अतः एक ही ज्ञान

विषयभेद से प्रमाण भी है तथा अप्रमाण भी। सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञान की अपेक्षा सर्वज्ञ है तथा संसारी जीवों के अल्पज्ञान की अपेक्षा असर्वज्ञ। यदि संसारियों के ज्ञान की अपेक्षा भी वह सर्वज्ञ हो जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसार के समस्त प्राणी सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ अपने ज्ञान के द्वारा ही सबको जानता है। यदि वह हम लोगों के ज्ञान के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान कर सके तो फिर उसकी आत्मा और हमारी आत्मा में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। जिस तरह हम अपने ज्ञान से जानते हैं, उसी तरह सर्वज्ञ भी हमारे ही ज्ञान से जानता है। अतः सर्वज्ञ और हमारी आत्मा में अभेद होने से या तो सर्वज्ञ की तरह हम लोग सर्वज्ञाता हो जायेंगे या हमारी तरह सर्वज्ञ भी अल्पज्ञ ही हो जायेगा। सिद्ध मुक्त जीव भी अपने साथ लगे हुए कर्मपरमाणुओं से छूटकर सिद्ध हुए हैं, अतः वे स्वसंयोगी कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा मुक्त हुए है, न कि अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा। यदि वे अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा भी सिद्ध माने जाँय तो इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य आत्माओं के धर्म भी सिद्धजीव के स्वपर्याय हैं, तभी तो वह अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा भी सिद्ध माना जाता है। इस तरह अन्य संसारी आत्माओं तथा सिद्ध आत्माओं में सीधा स्वपर्याय का सम्बन्ध होने से अभेदरूपता हो जायेगी और इससे या तो समस्त संसारी जीव सिद्ध हो जायेंगे या फिर सिद्ध संसारी हो जायेंगे। अभेद पक्ष में एकरूपता ही हो सकती है या तो सब संसारी बने रहें या फिर सब मुक्त हो जाँय। इसी तरह अनेकान्तवाद में कहा हुआ भी वचन कथंचित् नहीं कहा हुआ, किया हुआ कार्य कथंचित् न किया हुआ, खाया हुआ भी भोजन कथंचित् नहीं खाया हुआ होना चाहिए, इत्यादि दूषण भी असत्य हैं; क्योंकि एक ही वस्तु में भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से विरोधी धर्म मानना प्रमाण सिद्ध है। जो कार्य किया गया है, उसकी ही अपेक्षा कृत, जो बात कही गयी है, उसकी ही अपेक्षा उक्त तथा जो भोजन खाया गया है, उसकी ही अपेक्षा भुक्त व्यवहार हो सकता है, न कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा। अतः अन्य वस्तुओं की अपेक्षा 'अकृत, अनुक्त या अभुक्त व्यवहार होने में कोई बाधा नहीं आती।

4.1.3 सिद्धों के कर्मक्षय में अनेकान्तरूपता—

प्रश्न—आपके सिद्ध मुक्त जीवों ने कर्मों का एकान्त से सर्वथा क्षय किया है या कथंचित् ? यदि सर्वथा क्षय किया है तो अनेकान्तवाद कहाँ रहा ? जहाँ कोई भी बात 'सर्वथा ऐसा ही है' मानी, वहीं एकान्तवाद का प्रसंग हो जाता है। यदि सिद्धों ने कर्मों का क्षय कथंचित् किया है तो इसका यह अर्थ हुआ कि आपके सिद्ध सर्वथा कर्मरहित नहीं है, उनमें भी कथंचित् कर्म का सद्भाव है, जैसे कि संसारी जीवों में। इस तरह अनेकान्तवाद बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

उत्तर—सिद्ध जीवों ने भी कर्मपरमाणुओं की स्थिति, फल देने की शक्ति तथा अपने प्रति कर्मत्वरूप से परिणमन करने का नाश किया है, न कि कर्मपरमाणुमात्र का समूलनाश। उन्होंने उन परमाणुओं का अपनी आत्मा में कर्मरूप से सम्बन्ध नहीं रहने दिया। परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य तो नष्ट नहीं किया जा सकता। कोई अनन्तशक्तिशाली भी किसी द्रव्य का समूलनाश नहीं कर सकता। यदि इस तरह परमाणुओं का नाश होने लगे तो फिर मुद्गर आदि के परमाणुओं तक समूलनाश होने से एक न एक दिन संसार से परमाणुओं का नामोनिशाँ मिट जायेगा। उनका सर्वापहारी लोप हो जाने से संसार से परमाणुओं को नामोनिशाँ मिट जायेगा। उनका सर्वापहारी लोप हो जाने से संसार के समस्त पदार्थों का अभाव हो जायेगा। अतः जिस तरह मुद्गर की चोट घड़े की पर्याय का नाश करती है और परमाणुओं को पड़े रहने देती है, उसी तरह सिद्ध भी कर्मपरमाणुओं की कर्मत्वपर्याय का नाश करते हैं, न कि परमाणुओं का। वे परमाणु जली रस्सी की तरह सिद्ध की आत्मा के ऊपर भी पड़े रहते हैं तब भी बन्धन में कारण नहीं हो सकते। अतः सिद्धों के कर्मक्षय में भी अनेकान्तरूपता है। इस तरह प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि प्रमाणों से सर्वथा अबाधित अनेकान्त शासन की सिद्धि हो जाती है।

4.2 वस्तु की अनेकान्तात्मकता अनुभवगम्य है—

आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन–समुच्चय में वस्तु की अनेकान्तात्मकता को अनुभवगम्य सिद्ध किया है। उनके

अनुसार सभी प्रमाण या प्रमेय रूप वस्तु में स्व–पर द्रव्य की अपेक्षा क्रम और युगपत् रूप से अनेक धर्मों की सत्ता पायी जाती है। उदाहरणार्थ—सोने के घड़े को लिया जा सकता है। विवक्षित घड़ा अपने द्रव्य में है, अपने क्षेत्र में है तथा अपने काल में है एवं अपनी पर्याय में है, दूसरे पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से नहीं है। घड़ा, घड़ा रूप ही है, कपड़ा या चटाई रूप नहीं है, वह अपनी जगह है कपड़े और चटाई की जगह नहीं है, वह अपने समय में है, दूसरे के समय या अतीत, अनागत समय में नहीं है; वह अपनी घट पर्याय में है, कपड़ा, चटाई आदि की हालत में नहीं है। जिस समय उसी घड़े के सत्व, ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मों की अपेक्षा विचार करते हैं, तब वे सत्व आदि सामान्य धर्म घड़े के स्वपर्याय रूप ही हो जाते हैं, उस समय कोई भी पर पर्याय नहीं रहती; क्योंकि सत्, ज्ञेय या प्रमेय कहने से सभी वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है। सत् की दृष्टि से तो घट, पट आदि अचेतन तथा मनुष्य, पशु आदि चेतन में कोई भेद नहीं है। सभी सत् की दृष्टि से सजातीय है, कोई विजातीय नहीं है, जिससे व्यावृत्ति की जाये। अतः घड़े का सत् ज्ञेय, प्रमेय आदि सामान्यदृष्टि से विचार करने पर सभी सत् रूप से घड़े के स्वपर्याय रूप फलित होते हैं, सभी सजातीय हैं, उस समय घड़े की किससे व्यावृत्ति की जाये ? व्यावृत्ति तो विजातीय से होती है। सत् , ज्ञेय आदि की दृष्टि से तो घड़े का विजातीय कोई है ही नहीं। जब पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो घड़ा पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से सत् है, धर्म, अधर्म, आकाशादि द्रव्यों की अपेक्षा असत् है। पौद्गालिक घड़े का पौद्गलिकत्व ही स्वपर्याय है तथा जिनधर्म अधर्म, आकाश और अनन्त जीव द्रव्यों से घड़ा व्यावृत्त होता है, वे सब अनन्त ही परपदार्थ परपर्याय है। घड़ा पौद्गालिक है, धर्माधर्मादि द्रव्यरूप नहीं है। घड़ा पुद्गल होकर भी पार्थिव पृथ्वी का बना है। जल, आग या हवा आदि से नहीं बना है। अतः पार्थिवत्व घड़े की स्वपर्याय है तथा जल आदि अनन्त परपर्याय है, जिनसे कि घड़ा व्यावृत्त रहता है। इस तरह आगे भी जिस रूप से घड़े की सत्ता हो, उसे स्व–पर्याय तथा जिससे घड़ा व्यावृत्त होता हो, उन्हें परपर्याय समझ लेना चाहिए।

4.2.1 क्षेत्र की दृष्टि से वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

क्षेत्र की दृष्टि से जब घड़े पर त्रिलोक में रहने वाले रूप से व्यापक क्षेत्रदृष्टि से विचार करते हैं तो वह किसी से व्यावृत्त नहीं होता, अतः त्रिलोरूप व्यापक क्षेत्र की दृष्टि से स्वपर्याय तो बन सकती है, परपर्याय नहीं। यद्यपि अलोकाकाश में घड़ा नहीं रहता, अतः अलोकाकाश को परपर्याय कह सकते हैं, परन्तु चाहने पर भी अलोक में घड़ा कभी भी नहीं रह सकता, वह सर्वदा लोक में ही रहता है, अतः उस रूप से परपर्याय की विवक्षा नहीं की है। यदि विवक्षा की जाय तो फिर घड़ा आकाश में रहता है, इस रूप में जब आकाश स्वपर्याय होगी तब परपर्याय कुछ भी नहीं होगी। त्रिलोकवर्ती घड़ा भी मध्यलोक में रहता है, स्वर्ग या नरक में नहीं, अतः मध्यलोक की दृष्टि से सत् है तथा ऊर्ध्व और अधोलोक की दृष्टि से असत् । मध्यलोकवर्ती होकर भी घड़ा जम्बूद्वीप में रहता है, अतः जम्बूद्वीप की दृष्टि से सत् तथा अन्य द्वीपों की दृष्टि से असत् है। जम्बूद्वीप में भी वह भरतक्षेत्र में रहता है, विदेह आदि क्षेत्रों में नहीं, अतः भरतक्षेत्र की दृष्टि से सत् है तथा विदेह आदि की दृष्टि से असत् आदि–आदि। जिनकी अपेक्षा अस्तित्व का विचार किया जाता है, वे स्वपर्यायें थोड़ी हैं तथा जिनकी अपेक्षा नास्तित्व का विचार होता है, वे परपर्यायें तो असंख्य हैं; क्योंकि लोक के प्रदेश असंख्य होते हैं।

4.2.2 भाव की दृष्टि से वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

भाव की दृष्टि से घड़ा पीला है, अतः पीले रंग की अपेक्षा सत् है तथा अन्य नीले लाल आदि रंगों से असत्। घड़े का वह पीलापन किसी पीले द्रव्य से दुगुना पीला है, किसी से तिगुना, किसी से चौगुना, इस तरह किसी से अत्यन्त कम पीले द्रव्य से अनन्तगुना पीला भी होगा। इसी तरह घड़े का वह पीलापन किसी से एक गुना कम पीला है, किसी से दो गुना कम पीला है, किसी से तीन गुना कम। इस तरह किसी परिपूर्ण पीले द्रव्य से अनन्तगुना कम पीला भी तो है। तात्पर्य यह है कि तरतम रूप से पीलेपन के ही अनन्त भेद हो सकते हैं, वे सब उसकी स्वपर्यायें हैं तथा पीलेपन की ही

तरह नीले और लाल आदि रंग भी रूप से अनन्त प्रकार के होते हैं, उन सब अनन्त नीलादि रंगों से इस घड़े का पीलापन पृथक् है, अतः परपर्यायें भी अनन्त ही हैं। इसी तरह उस घड़े का अपना जो मीठा आदि रस होगा, उसके भी रूप की ही तरह तरतम रूप से अनन्त भेद होंगे। ये सभी उसकी स्वपर्यायें हैं तथा नील आदि पररूपों की तरह खारे आदि पर रस भी रूप से अनन्त हैं, उन सबसे इसका रस व्यावृत्त होता है, अतः परपर्यायें भी अनन्त है। इसी तरह उसकी सुगंध के तरतम रू से अनन्त ही भेद होंगे जो कि उसकी स्वपर्यायें कहे जायेंगे तथा जो गंध उसमें नहीं पाई जाती, उसके अनन्तभेद परपर्याय होंगे। इसी तरह भारी, हल्का, कोमल, खुरदरा, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा इन आठ स्पर्शों के भी प्रत्येक के तरतम रूप से अनन्त भेद होते हैं। इनमें जो स्पर्श जिस रूप से उसमें पाये जाते हैं, उनकी अपेक्षा अनन्त स्वपर्यायें तथा जो स्पर्श नहीं पाए जाते, उसकी अपेक्षा अनन्त ही परपर्यायें समझ लेनी चाहिए। सिद्धान्त में स्पष्ट कहा है कि–एक अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध में भारी आदि आठों ही स्पर्श पाए जाते हैं, अतः इस घड़े में भी आठों ही स्पर्श का कथन किया गया है।

4.2.3 शब्द की दृष्टि से वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

शब्द की दृष्टि से घड़ा नाना देश की अपेक्षा घटादि अनेक शब्दों के द्वारा वाच्य होने से अनेक ही स्वधर्म होंगे तथा जिन पटादि अनन्त पदार्थों में घट के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता, उन सबसे घड़ा व्यावृत्त होता है, अतः अनन्त ही परधर्म होते हैं अथवा घड़े के जितने स्वधर्म कहे हैं तथा कहे जायेंगे, उनके वाचक जितने भी शब्द हैं, उतने ही घड़े के स्वधर्म हैं तथा अन्य पदार्थों के वाचक जितने शब्द हैं, उतने ही परधर्म हैं। संख्या की अपेक्षा भी घड़े में स्वधर्म और परधर्म होते हैं। भिन्न–भिन्न द्रव्यों की अपेक्षा घड़े में पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, अनन्त संख्या तक के व्यवहार हो सकते हैं। ये सभी स्वधर्म हैं तथा इन संख्याओं के अविषयभूत पदार्थों से व्यावृत होने के कारण वे सब परधर्म हैं अथवा घड़े के परमाणुओं की जितनी संख्या तथा उसके वजन के रत्तियों की जितनी संख्या है, वह संख्या स्वधर्म है और वह संख्या जिन अनन्त पदार्थों में नहीं पायी जाती, वे सब परधर्म हैं। अनन्तकाल से उसे घड़े का सभी द्रव्यों के साथ संयोग तथा विभाग होता रहा है, अतः वे संयोग और विभाग स्वधर्म हैं तथा जिनमें वे संयोग और विभाग नहीं पाए जाते, उन अनन्त पदार्थों से घड़े की व्यावृत्ति होती है, अतः वे परधर्म हैं।

परिमाण माप की अपेक्षा भी घड़े में स्वधर्म और परधर्म होते हैं। घड़ा किन्हीं बड़े मकान आदि परद्रव्यों की अपेक्षा छोटा, छोटे लोटा आदि की अपेक्षा बड़ा, लम्बा, ठिगना आदि अनन्त प्रकार के माप वाला कहा जा सकता है, ये सब स्वधर्म हैं तथा अन्य परधर्म। घड़ा जिन समस्त परपदार्थों से पृथक् है, वे सब परपर्याय हैं तथा जिनसे पृथक् नहीं है, वे स्वपर्याय हैं।

4.2.4 काल की अपेक्षा वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

काल की अपेक्षा वही घड़ा किसी से एक क्षण पुराना है तो किसी से दो क्षण, किसी से एक घड़ी, दो घड़ी, एक दिन, माह, वर्ष, युगादि पुराना है तो वही घड़ा किसी से एक, दो, चार क्षण नया अथवा किसी से एक दिन, माह, वर्ष या युगभर नया होता है। तात्पर्य यह कि घड़ा अन्य पदार्थों की अपेक्षा एक क्षण से लेकर अनन्त वर्ष तक का नया या पुराना होता है, अतः ये सब उसके स्वधर्म हैं।

4.2.5 ज्ञान की अपेक्षा वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

ज्ञान की अपेक्षा वही घड़ा संसार के अनन्त जीवों के अनन्त ही प्रकार के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, विभंगादि अवधिज्ञान आदि का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से विषय होता है। ग्राहक ज्ञान में भेद होने से उसकी अपेक्षा ग्राह्य विषयभूत पदार्थ में भी भेद होता ही है। यदि पदार्थ एक रूप ही रहे तो उसको जानने वाले ज्ञानों में भी स्वभाव भेद नहीं होगा, वे सर्वथा एक रूप ही हो जायेंगे। इस तरह घड़े को जानने वाले अनन्त ज्ञानों की अपेक्षा घड़े में भी अनन्त ही स्वभाव भेद हैं और ये

सब उसके स्वधर्म हैं।

4.2.6 स्वपर्याय एवं परपर्याय की अपेक्षा वस्तु की अनेकान्तात्मकता—

पहले जितने प्रकार के स्वधर्म या परधर्म कहे गए हैं, उन सबमें प्रकृत घड़ा अन्य घड़ों से एक, दो, तीन अनन्त धर्मों से समानता रखता है, घड़ों से ही क्या, अन्य पदार्थों से भी घड़े की एक, दो आदि सैकड़ों धर्मों से समानता पायी जाती है। अतः सादृश्य रूपी सामान्य की दृष्टि से घड़े के अनन्त ही सदृशपरिणमन रूप स्वभाव हो सकते हैं। इस प्रकार सामान्य की अपेक्षा घड़े में स्वपर्याय तथा उससे भिन्न धर्मों की अपेक्षा परपर्यायों का विचार करना चाहिए।

इसी तरह यह घड़ा अन्य अनन्त ही द्रव्यों से एक, दो, तीन आदि अनन्त ही धर्मों की अपेक्षा विलक्षण है, उनसे व्यावृत्त होता है, अतः उसमें अन्य पदार्थों से विलक्षणता कराने वाले अनन्त ही धर्म विद्यमान है और इसीलिए वह विशेष विलक्षणता की दृष्टि से भी अनन्त स्वभाव वाला है। अनन्त ही द्रव्यों की अपेक्षा इस घड़े में किसी की अपेक्षा मोटापन तो किसी की अपेक्षा पतलापन, किसी की अपेक्षा समानता, असमानता, सूक्ष्मता, तीव्रता, सुन्दरता, चौड़ापन, सकरापन, नीचता, उच्चता, विशालमुखपना आदि अनन्त ही प्रकार के धर्म पाए जाते हैं। इस तरह इन सूक्ष्मता आदि धर्मों की अपेक्षा भी घड़े में अनन्त स्वधर्म हैं।

इसी तरह घड़े की जिन-जिन स्व–पर पर्यायों का कथन किया है, उनके उत्पाद, विनाश तथा स्थिति रूप धर्म अनादिकाल से बराबर प्रतिक्षण होते आ रहे हैं, पहले भी होते थे तथा आगे भी होते जायेंगे। इन त्रैकालिक उत्पाद, विनाश तथा स्थिति रूप त्रिपदी से भी घड़े में अनन्त धर्म सिद्ध होते हैं।

जब ऊपर कहे गए स्वद्रव्य, क्षेत्र आदि तथा परद्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा घट को एक ही शब्द से एक ही साथ कहने की इच्छा होती है तो घड़ा अवक्तव्य हो जाता है; क्योंकि संसार में कोई ऐसा शब्द ही नहीं है, जिससे घड़े के स्वधर्मों का युगपत् प्रधान भाव से कथन किया जा सके। शब्द के द्वारा वे दोनों धर्म क्रम से ही कहे जा सकते हैं, एक साथ प्रधान रूप से नहीं। इस तरह प्रत्येक स्वधर्म और परधर्म की एक साथ कहने की इच्छा होने पर घड़े में अवक्तव्य धर्म भी पाया जाता है। यह अवक्तव्य धर्म स्वपर्याय है। यह अवक्तव्य धर्म अन्य अनन्त वक्तव्य धर्मों से तथा अन्य पदार्थों से व्यावृत्त है, अतः इसकी अपेक्षा अनन्त ही परपर्याय होते हैं।

जिस तरह घड़े में अनन्त धर्मों की योजना की गई है, उसी तरह समस्त आत्मा आदि पदार्थों में अनन्त धर्मों का सद्भाव समझ लेना चाहिए।

4.3 भगवान् जिनेन्द्र के वचन अनेकान्तरूप हैं—

अनेकान्त सम्पूर्ण नयों के समूह को कहते हैं। जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत में पिरो देने से हार बन जाता है उसी प्रकार भिन्न–भिन्न पड़े हुए नयरूप मोतियों को स्याद्वाद रूपी एक सूत में पिरो देने से उसकी 'श्रुतप्रमाण' संज्ञा हो जाती है।

प्रश्न—यदि प्रत्येक नय भिन्न–भिन्न रहने पर विरोधी हैं, तो सबको मिला देने पर विरोध कैसे मिट सकता है ?

उत्तर—जिस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वादियों को यदि कोई मध्यस्थ युक्तिपूर्वक निर्णय करने वाला मिल जाता है तो वे विवाद छोड़कर शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार नय भी परस्पर में शत्रुता धारण करते हैं, परन्तु जब सर्वज्ञदेव का शासन पाकर 'स्यात्' शब्द के मिल जाने से आपस के विरोधभाव छोड़कर शान्त हो जाते हैं, तब वे ही नय परस्पर में अत्यन्त मैत्री धारण करके ठहर जाते हैं। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन सर्वनयस्वरूप होने से अविरुद्ध है; क्योंकि एक–एक नयस्वरूप ही सब दर्शन हैं।

प्रश्न—यदि भगवान् का दर्शन सम्पूर्ण दर्शन स्वरूप है तो वह सम्पूर्ण भिन्न–भिन्न दर्शनों में क्यों नहीं दिखाई देता है ?

उत्तर—सम्पूर्ण नदियों का समूह ही समुद्र है, परन्तु भिन्न–भिन्न बहती हुई नदियों में वह नहीं दीखता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है–

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्ववोदधिः।।

"जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्णदर्शन आपके दर्शन में तो मिलते हैं, परन्तु फिर भी जिस प्रकार भिन्न–भिन्न रहने वाली नदियों में समुद्र नहीं दिखता, उसी प्रकार आपका दर्शन भी उन भिन्न–भिन्न दर्शनों में नहीं दीखता।"

4.3.1 अनेकान्तवाद और स्याद्वाद—

अनेकांत 'अनेक' और 'अन्त' शब्दों योग से बना है जिसका अर्थ होता है 'अनेक धर्मात्मक'। इस कारण यह दृष्टि वस्तु में अनेक धर्मों (Attributes) को अंगीकार करती है। जो–जो पदार्थ हमारे ज्ञानगोचर होता है वह सब अनेक धर्म समुदायात्मक है–अनेकान्त दृष्टि एक धर्म को प्रधान कर देती है और अन्य सब को गौण। जैसे ग्वालिन दही–मथन करते समय रस्सी को एक ओर से खेंचती है और दूसरी ओर से ढीला कर देती है।

'स्याद्वाद' शब्द के अन्तर्गत दो शब्द हैं–स्यात् और वाद। स्यात् का अर्थ अपेक्षा–सहित (दृष्टिकोण सहित) तथा वाद शब्द का अर्थ सिद्धान्त या मत होता है। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ 'सापेक्ष सिद्धान्त' समझना चाहिये। अपने व दूसरे के विचारों, वचनों व कार्यों में अपेक्षा या दृष्टिकोण का ध्यान रखना ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद शब्द एकान्त या सर्वथापन का निषेधक और अनेकता का सूचक है। स्याद्वाद का अर्थ होता है–पदार्थ का भिन्न–भिन्न दृष्टियों से (अपेक्षाओं से) परीक्षण कर निर्णय करना। क्योंकि सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ का सर्वांग निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने सब से प्रथम 'सिद्धिकरनेकान्तात्' अर्थात् 'वस्तु तत्त्व की सिद्धि अनेकान्त स्याद्वाद से ही हो सकती है अन्यथा नहीं' की घोषणा की। अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद और स्याद्वाद–ये सब एकार्थाची शब्द हैं।

गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने ठीक ही लिखा है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरूणो णमोऽणेगंतवायस्स।।

सन्मतिप्रकरण 3/70

4.3.2 प्रमाणों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु

न्यायवतार में कहा गया है—

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।।

–न्यायावतार–29

"सब ज्ञानों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय एकदेश से विशिष्ट वस्तु है एवं अनेकान्तात्मक वस्तु के सर्वदंश को साधने वाला प्रमाण है।

4.3.3 अनेकान्त दृष्टि की व्यापकता—

अनेकान्त दृष्टि जब अपने विषय में प्रवृत्त होती है तब अपने स्वरूप के विषय में वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियों का समुच्चय होने से अनेकान्त तो है ही परन्तु वह एक स्वतन्त्र दृष्टि होने से उस रूप में एकान्तदृष्टि भी है। इसी तरह अनेकान्त दूसरा कुछ नहीं है, वह तो भिन्न–भिन्न दृष्टि रूप इकाइयों का सच्चा जोड़ है। ऐसा होने से वह

अनेकान्त होने पर भी एकान्त भी है ही। इसमें इतनी विशेषता है कि यह एकान्त यथार्थता का विरोधी नहीं होना चाहिए। सारांश यह कि अनेकान्त में सापेक्ष एकान्तों को स्थान है ही। जैसे अनेकान्त दृष्टि एकान्तदृष्टि के आधार पर प्रवर्तित मतान्तरों के अभिनिवेश से बचने की शिक्षा देती है, वैसे ही अनेकान्तदृष्टि के नाम से जन्मने वाले एकान्ताग्रहों से बचने की भी शिक्षा देती है, वैसे ही अनेकान्तदृष्टि के नाम से जन्मने वाले एकान्ताग्रहों से बचने की भी शिक्षा देती है। जैन प्रवचन अनेकान्तरूप है, ऐसा मानने वाला भी यदि उसमें आए हुए विचारों को एकान्तरूप से ग्रहण करें, तो वह स्थूल दृष्टि से अनेकान्तसेवी होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से एकान्ती ही बन जाता है। इससे वह सम्यग्दृष्टि नहीं रहता। उदाहरणार्थ ज्ञान और आचार की कुछ मुख्य बातों को ले सकते हैं–

जैन आगमों में संसारी जीव के छः निकाय (जातियाँ) बताये गये हैं और आचार के बारे में कहा गया है कि हिंसा अर्थात् जीवघात अधर्म का कारण है। इन दोनों विचारों को एकान्त रूप से ग्रहण करने में यथार्थता का लोप होने से अनेकान्त दृष्टि ही नहीं रहती। जीव की छः ही जातियाँ हैं, ऐसा मानने पर चैतन्य रूप से जीवतत्त्व का एकत्व भुला दिया जाता है और दृष्टि से मात्र भेद ही आता है। अतः पृथ्वीकाय आदि छः विभागों को एकान्तरूप से ग्रहण न करके उनमें चैतन्य के रूप में जीवतत्व का एकत्व भी माना जाय तो वह यथार्थ ही है। इसी तरह 'आत्मा एक है तथा अनेक है', इस प्रकार के भिन्न–भिन्न शास्त्रीय वाक्यों का समन्वय होता है।

4.4 अनेकान्त रूप वस्तु ही नियम से कार्यकारी है—

जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही नियम से कार्यकारी है; क्योंकि लोक में अनेक धर्मयुक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है। एकान्त रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता और जो कार्य नहीं करता, उसको द्रव्य कैसे कहा जाय ?

प्रयोजन निष्पत्ति को अर्थक्रिया कहते हैं। जैसे ज्ञान का प्रयोजन जानना है, अतः ज्ञान का परिच्छित्ति रूप जो परिणमन है, वही ज्ञान की अर्थक्रिया है। अपने स्वरूप को न छोड़कर परिणमन करना द्रव्य का प्रयोजन है; क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से ही द्रव्य की सत्ता है। अतः द्रव्य में जो परिणमन रूप क्रिया होती है, वह द्रव्य की अर्थक्रिया है।

4.5 प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार सापेक्ष है—

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने कहा है–

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थादूहिरर्थ एव न।
प्रमेयशून्यस्य नहि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता।।

लघुतत्त्वस्फोट 5-9

बाह्य पदार्थों का अभाव मानने पर अन्तर्वर्ती पदार्थ कैसे हो सकता है और अन्तर्ज्ञेय के बिना बाह्य अर्थ नहीं हो सकता। निश्चय से प्रमेय–बाह्य पदार्थ से रहित ज्ञान में प्रमाणता नहीं हो सकती और प्रमाण से रहित वस्तु में प्रमेयता नहीं रह सकती।

शून्याद्वैतवादी जैसे कुछ दर्शनकार बाह्य पदार्थ का सर्वथा अभाव मानकर एक ज्ञान का ही अद्वैत सिद्ध करते हैं और चार्वाक् जैसे कुछ दर्शनाकार ज्ञान–दर्शन के आधारभूत आत्मतत्त्व के अस्तित्व को अस्वीकृत कर ज्ञान दर्शन का भी अस्तित्व नहीं मानते हैं। उन दर्शनकारों की मान्यता का प्रतिषेध करते हुए आचार्य ने कहा है कि यदि बाह्य पदार्थों का निह्नव किया जाता है—या उनके अस्तित्व को अस्वीकृत किया जाता है तो अन्तर्ज्ञेय का अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसी प्रकार अन्तर्ज्ञेय के बिना बाह्य अर्थ का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। प्रमाण के बिना पदार्थ में प्रमेय का व्यवहार नहीं हो सकता है और प्रमेय के बिना प्रमाण में प्रमाण का व्यवहार नहीं हो सकता।

उपर्युक्त श्लोक में आचार्य श्री ने अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय की चर्चा की है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान में जो विकल्प आता है, वह अन्तर्ज्ञेय कहलाता है और उस विकल्प में कारणभूत जो पदार्थ है, वह बहिर्ज्ञेय कहलाता है। जैन सिद्धान्त दोनों ज्ञेयों को स्वीकृत करता है; क्योंकि बहिर्ज्ञेय के बिना अन्तर्ज्ञेय की और अन्तर्ज्ञेय के बिना बहिर्ज्ञेय की सत्ता नहीं सिद्ध होती है। दोनों परस्पर सापेक्ष है।

4.5.1 एकत्व और अनेकत्वभाव परस्पर सापेक्ष हैं—

लघुतत्त्वस्फोट में कहा गया है–

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्न्येकनिषण्णः।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेकोभावस्तस्य तवैषो विषयः स्यात्।।18/2।

हे भगवन् ! आपका यह एक भाव प्रकट हुई अनेक पर्यायों की महिमा में एक पर निर्भर अर्थात् सामान्यग्राही होने से अनेकों में एकत्व को स्थापित करने वाला प्रतिभासित होता है। जो पुरुष अनेक पदार्थों में निपुणमति है–पदार्थों के अनेकत्व को स्वीकृत करता है, उसी का एक भाव है—एकत्व का अनेकत्व के साथ अविनाभाव स्वीकृत होना और यही एकानेकात्मक भाव आपका ज्ञेय है।

यहाँ एक और अनेक दो विरोधी धर्मों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका यह एक भाव अनेक पदार्थों में व्यापक रहने से उनके साथ अविनाभावी है और अनेक, एक के साथ अविनाभावी है। यह एकानेकात्मक भाव आपका ज्ञेय है–आपके ज्ञान का विषय है, तात्पर्य यह है कि यह एकत्व और अनेकत्वभाव परस्पर सापेक्ष है, अतः पदार्थ के एकत्व को वही ग्रहण कर सकता है, जो अनेकत्व को ग्रहण करने में कुशल है और अनेकत्व को भी वही ग्रहण कर सकता है, जो एकत्व को ग्रहण करने में निपुण है।

4.5.2 कारण-कार्य के विषय में अनेकान्त—

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने कहा है—

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम्।
सर्वेऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि।।

लघुतत्त्वस्फोट 18/17

कार्य रूप से उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होने वाला प्रत्येक पदार्थ कारण रूप से अपने ही परिणाम को ग्रहण कर उत्पन्न हुआ है, अतः आप सम्पूर्ण रूप से कारण ही हैं और कार्य ही हैं, जब कि शुद्धभाव कारण और कार्य का विषय नहीं है।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से न कोई उत्पन्न होता है और न कोई विनाश को प्राप्त होता है, इसलिए उसमें कारण–कार्यभाव की चर्चा नहीं है। इसी अभिप्राय से यहाँ कहा गया है कि शुद्धभाव कारण कार्य का विषय नहीं है, परन्तु पर्यायार्थिक नय से पदार्थ उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त होता है, अतः उसमें कारण कार्यभाव की चर्चा आती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह कार्य कहलाता है और उसमें जो निमित्त पड़ता है, वह कारण कहलाता है। यहाँ कारण के लिए उपादान की दृष्टि से कर्त्ता भी कहा जाता है। परमार्थ से जो परिणमन करता है, वह कर्ता कहलाता है और जो परिणमन है, वह कर्म कहलाता है 'यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म' ऐसा समयसार कलश में भी कहा है। उत्पन्न होने वाला प्रत्येक कार्य अपने परिणमन को ही कारणरूप से स्वीकृत करता है, अन्य पदार्थ को नहीं, जैसे मिट्टी से घट बनता है। यहाँ घट कार्य है और मिट्टी उसका कारण अथवा कर्ता है। अध्यात्म की दृष्टि में कर्तृकर्मभाव अथवा कारण कार्यभाव एक ही द्रव्य में बनता है, दो द्रव्यों में नहीं। दो द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक भाव बनता है, इसलिए जो द्रव्यकार्य है, वही द्रव्य उसका कारण होता है, मात्र पूर्व और उत्तरक्षण की अपेक्षा उसमें कारण और कार्य का भेद होता है। पूर्वक्षणवर्ती पर्याय कारण है और उत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य है।

4.5.3 कर्ता और कर्म के विषय में अनेकान्त—

व्यवहारनय के आश्रय से कहा जाता है कि कर्ता अन्य होता है और कर्म अन्य होता है, परन्तु निश्चयनय की मान्यता है कि जो कर्ता होता है, वही कर्म होता है; क्योंकि परमार्थ से कर्ता, क्रिया और कर्म ये तीनों पृथक्–पृथक् नहीं हैं।

4.6 आधाराधेय के विषय में अनेकान्त—

व्यवहारनय दो भिन्न पदार्थों में आधाराधेयभाव को मानता है, परन्तु निश्चयनय एक ही पदार्थ में आधाराधेयभाव को स्वीकृत करता है।

4.6.1 पूर्णता और रिक्तता के विषय में अनेकान्त—

लघुतत्त्वस्फोट में कहा गया है–

पूर्णः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्तः पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्तः।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्ते तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्ट प्रमार्ष्टि।।22/12।।

हे भगवन् ! जो पूर्ण होता है, वह नियम से पूर्ण ही होता है और जो रिक्त है, वह रिक्त ही रहता है, परन्तु आप रिक्त होकर भी पूर्ण हैं और पूर्ण होकर भी रिक्त हैं। इस जगत् में लोगों के मध्य जो प्रकट है कि पूर्ण पूर्ण ही रहता है और रिक्त रिक्त ही रहता है, वह आपके तत्त्व का घात करने वाला है, परन्तु आपका जो कोई अनिर्वचनीय महिमा से युक्त तत्त्व है, वह निश्चय से लोक में देखे गए तत्त्व को नष्ट नहीं करता है अर्थात् लोकसिद्ध तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

भगवान् रिक्त होकर भी पूर्ण हैं; क्योंकि कर्मोदयजन्य विकारी भावों से रहित होकर भी स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हैं और स्वाभाविक गुणों से पूर्ण होकर भी उपाधिजन्य विकारी भावों तथा द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हैं।

4.6.2 भेदाभेदात्मक तत्त्व—

गुण और गुणी में, सामान्य और सामान्यवान् में, अवयव और अवयवी में, कारण और कार्य में सर्वथा भेद मानने से गुण–गुणी भाव आदि नहीं बन सकते। सर्वथा अभेद मानने पर गुण–गुणी व्यवहार नहीं हो सकता। गुण यदि गुणी से सर्वथा भिन्न है तो अमुक गुण का अमुक गुणी से ही सम्बन्ध कैसे नियत किया जा सकता है ? अवयवी यदि अवयवों से सर्वथा भिन्न है तो एक अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहेगा या एकदेश से ? पूर्ण रूप से तो जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी मानने होंगे। यदि एकदेश से; तो जितने अवयव हैं उतने प्रदेश उस अवयवी के स्वीकार करने होंगे। इस तरह अनेक दूषण सर्वथा भेद और अभेद पक्ष में आते हैं, अतः तत्त्व को कथंचित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिए। जो द्रव्य है, वही अभेद है और जो गुण और पर्याय हैं, वही भेद है। दो पृथक् सिद्ध द्रव्यों में जिस प्रकार अभेद काल्पनिक है, उसी तरह एक द्रव्य का अपने गुण और पर्यायों से भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझाने के लिए है। गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जो इनमें रहता हो।

4.6.3 अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं है—

सामान्य अंश के प्रत्यक्ष, विशेष अंश के अप्रत्यक्ष और विशेष की स्मृति होने से संशय होता है, जैसे—स्थाणु तथा पुरुष की स्थिति के योग्य देश में और न अति प्रकाश, न अति अन्धकार सहित बेला ऊर्ध्वतासामान्य के देखने वाले और स्थाणु में रहने वाले वक्रकोटर तथा पक्षियों के घोंसले आदि विशेषों को तथा पुरुषनिष्ठ वस्त्रधारण तथा हस्तपाद आदि विशेषों को न देखने वाले मनुष्य को स्थाणु पुरुष के विशेषों के स्मरण से यह स्थाणु है या पुरुष है ऐसा संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अनेकान्तवाद में तो विशेष धर्मों की उपलब्धि निर्बाध ही है; क्योंकि स्वरूप, पररूप विशेषों की उपलब्धि प्रत्येक पदार्थ में है इसलिए विशेष की उपलब्धि से अनेकान्तवाद संशय का हेतु नहीं है।

4.6.4 सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त—

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण से अविरुद्ध एक वस्तु में अनेक धर्मों के निरूपण करने में जो तत्पर है, वह सम्यक् अनेकान्त है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध जो एक वस्तु में अनेक धर्मों की कल्पना करता है, वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् अनेकान्त प्रमाण और मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है।

4.6.5 सह अनेकान्त और क्रम अनेकान्त—

आचार्य श्री गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्याय युक्त प्रतिपादित किया है। यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द ने दिया है। इस पर शंका की गई कि गुण संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो नयों का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहाँ मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नय की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इस शंका का समाधान आचार्य सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द तीनों तार्किकों ने किया है। सिद्धसेन ने बतलाया कि गुण पर्याय से भिन्न नहीं—पर्याय में ही गुण संज्ञा जैनागम में स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणार्थिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये सब उसके पर्यायवाची शब्द हैं तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेष के पर्यायवाची हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुण का ग्राहक द्रव्यार्थिक नय ही है; उससे भिन्न गुणार्थिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ अथवा गुण और पर्याय अलग अलग नहीं है–पर्याय का ही नाम गुण है।

आचार्य सिद्धसेन और अकलंक के इन समाधानों के बाद भी शंका उठायी गयी कि यदि गुण द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्य लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का निवेश क्यों किया ? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था ? इसका उत्तर आचार्य विद्यानन्द ने जो दिया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सूक्ष्म प्रज्ञा से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप (पिण्ड) है–1. सहानेकान्त और 2. क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों पदों का निवेश युक्तियुक्त तथा सार्थक है।

4.7 द्रव्यविषयक अनेकान्त—

4.7.1 द्रव्य का लक्षण—

द्रव्य का लक्षण सत् है। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों पाए जाँय उसे सत् कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो उत्पन्न होता है, जो विलीन होता है तथा जो ध्रुव–सदा स्थिर है, उसको सत् कहते हैं, यही सत् का लक्षण है। इस स्वभाव से जो रहित है, उसको असत् समझना चाहिए। एक बार गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से पूछा—

किं तच्च ? तत्त्व क्या है ?

भगवान ने कहा—उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा अर्थात् उत्पन्न होना, विनष्ट होना और ध्रुव रहना तत्त्व है। जैसे—एक मनुष्य सुवर्ण के घड़े को चाहता है, दूसरा मनुष्य सुवर्ण के मुकुट को चाहता है और तीसरा मनुष्य केवल सुवर्ण को चाहता है। स्वर्णकार ने स्वर्ण घट को तोड़कर मुकुट बनाया। उस समय सुवर्ण घट के नष्ट हो जाने पर सुवर्णघट के चाहने वाले पुरुष को शोक होता है। शोक का कारण है, वस्तु का नाश। तोड़े गए घट के सुवर्ण का मुकुट बन जाने पर मुकुट के चाहने वाले पुरुष को हर्ष होता है। हर्ष का कारण है–वस्तु का उत्पाद। केवल सुवर्ण के चाहने वाले पुरुष को घट के नष्ट हो जाने पर न तो शोक होता है और न मुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष होता है, वह तो दोनों अवस्थाओं में मध्यस्थ रहता है। मध्यस्थ रहने का कारण है वस्तु का ध्रौव्यत्व। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्–

पृथक् न होते तो सोना एक पुरुष को शोक का कारण, दूसरे पुरुष को हर्ष का कारण और तीसरे पुरुष को माध्यस्थ भाव का कारण कैसे होता ? हर्ष, विषाद आदि निर्हेतुक नहीं हो सकते हैं, उनका कोई न कोई हेतु तो होना ही चाहिए। अतः घट पर्याय का विनाश शोक का हेतु है, मुकुट पर्याय की उत्पत्ति हर्ष का हेतु है और सुवर्ण द्रव्य का ध्रौव्यत्व मध्यस्थ भाव का हेतु है। जो सुवर्ण मात्र को चाहता है, उसको घट के टूटने और मुकुट के उत्पन्न होने से कोई प्रयोजन नहीं है। घट के बने रहने पर उसका काम चल सकता है, मुकुट के बने रहने पर उसका काम चल सकता है, और घट के टूट जाने के बाद मुकुट के बन जाने पर भी उसका काम चल सकता है। इस प्रकार वस्तु में निर्बाध रूप से उत्पाद, व्यय आदि तीन की प्रतीति होती है और वह प्रतीति वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सिद्ध करती है।

आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्व की त्रयात्मकता सिद्ध करने हेतु एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। वे कहते हैं–जिसको दूध खाने का व्रत है, वह दही नहीं खाता है, जिसको दही खाने का व्रत है, वह दूध नहीं खाता है और जिसको गोरस नहीं खाने का व्रत है, वह दोनों नहीं खाता है। इसलिए तत्त्व तीन रूप है।

4.7.2 वस्तु की त्रयात्मकता का अनन्तात्मकता से कोई विरोध नहीं है—

वस्तु के त्रयात्मक होने पर भी अनन्तात्मक होने में कोई विरोध नहीं है। उत्पाद आदि तीन धर्मों में से प्रत्येक धर्म भी अनन्त रूप है। एक वस्तु का उत्पाद उत्पन्न होने वाली अनन्त वस्तुओं के उत्पाद से भिन्न होने के कारण अनन्त रूप है। एक वस्तु का विनाश होने वाली अनन्त वस्तुओं के नाश से भिन्न होने के कारण अनन्त रूप है तथा एक वस्तु का ध्रौव्यत्व अनन्त वस्तुओं के ध्रौव्यत्व से भिन्न होने के कारण अनन्त रूप है।

4.7.3 अनन्तधर्मात्मकता का उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यात्मकता से अविनाभाव—

समस्त वस्तुयें अनन्तधर्म वाली हैं; क्योंकि उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाए जाते हैं। जो अनन्तधर्म वाले नहीं है, उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी नहीं पाए जाते, जैसे कि आकाश–कमल में। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तु को निर्विवाद रूप से अनन्तधर्म वाली सिद्ध कर देता है।

4.8 उत्पाद आदि की परस्पर सापेक्षता—

उत्पाद आदि के लक्षण भिन्न–भिन्न हैं अतः इनमें कथंचित् भेद है। ये कभी भी वस्तु से भिन्न या परस्पर भिन्न उपलब्ध नहीं होते, एक वस्तु के उत्पाद आदि को दूसरी वस्तु में नहीं ले जा सकते, अतः ये अभिन्न हैं। उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं; क्योंकि इनके लक्षण ही भिन्न–भिन्न हैं, जैसे रूप, रस आदि के लक्षण भिन्न–भिन्न होने से उनमें परस्पर भेद है, उसी तरह लक्षण भेद से उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य में भी भेद है। उत्पाद, विनाश आदि का लक्षणभेद असिद्ध नहीं है; क्योंकि उनके भिन्न–भिन्न लक्षण हैं। जो पदार्थ पहले नहीं है, असत् है उसके स्वरूप लाभ हो जाने को उत्पाद कहते हैं। विद्यमान पदार्थ की सत्ता का च्युत हो जाना, उसकी सत्ता का वियोग होना विनाश है। इन उत्पाद और विनाश के होते हुए भी द्रव्य रूप से अन्वय रहना ध्रौव्य है। इस तरह उत्पादादि के असाधारण लक्षण सभी के अनुभव में आते हैं। ये उत्पादादि लक्षणभेद से कथंचित् भिन्न होकर भी परस्पर सापेक्ष हैं, एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। ये परस्पर निरपेक्ष होकर अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। यदि ये परस्पर निरपेक्ष तथा अत्यन्त भिन्न हो जायेंगे तो इनका गधे के सींग की तरह अभाव हो जायेगा। जैसे–अकेला उत्पाद सत् नहीं है; क्योंकि वह स्थिति और विनाश से रहित है, जैसे के कछवे के रोम। अकेला विनाश सत् नहीं कहा ता सकता; क्योंकि वह उत्पत्ति और स्थिति से रहित है, जैसे कि कछवे के रोम। स्थिति अकेली सत् नहीं है; क्योंकि वह उत्पाद और विनाश से रहित है, जैसे कि कछवे के रोम। इस तरह परस्पर सापेक्ष ही उत्पादादि सत् हो सकते हैं तथा वस्तु में भी इनकी परस्पर सापेक्ष सत्ता है।

4.8.1 द्रव्य से उत्पाद और व्यय का भिन्नाभिन्नत्व—

द्रव्य से व्यय और उत्पाद सर्वथा अभिन्न नहीं है। यदि अभिन्न माना जाय तो ध्रौव्य का लोप हो जायेगा। कथंचित्

व्यय और उत्पाद के समय भी द्रव्य स्थिर रहता है अतः दोनों में भेद है और द्रव्यजाति का परित्याग दोनों नहीं करते, उसी द्रव्य के ये होते हैं, अतः अभेद है। यदि सर्वथा भेद होता तो द्रव्य को छोड़कर उत्पाद और व्यय पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद पक्ष में एक लक्षण होने से एक का अभाव होने पर शेष के अभाव का भी प्रसंग आता।

4.8.2 तत्त्व कथंचित् तद्रूप और कथंचित् अतद्रूप है—

आचार्य श्री समन्तभद्र ने सुविधि जिन की स्तुति में कहा है कि हे सुविधि जिन! आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (अतद्रूप) है; क्योंकि स्वरूप–पररूप की अपेक्षा उसके द्वारा वैसी ही सत् असत् रूप की प्रतीति होती है। स्वरूपादि चतुष्टय रूप विधि और परूपादि चतुष्टय रूप निषेध में अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता मानने पर शून्य दोष आता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से असत् है। जिस प्रकार तत्त्व स्वरूप आदि की अपेक्षा सत् है, उसी प्रकार पर रूप आदि की अपेक्षा से भी सत् हो तो चेतन और अचेतन में कोई भेद ही नहीं रहेगा। यदि तत्त्व परद्रव्य आदि की अपेक्षा की तरह स्वद्रव्य आदि की अपेक्षा से भी असत् हो तो सब तत्त्व शून्य हो जायेंगे।

पदार्थ को कथंचित् सदसदात्मक सिद्ध करने में अन्य युक्तियाँ भी दी जा सकती है। पदार्थ कथंचित् सदसदात्मक हैं; क्योंकि सब पदार्थ सब पदार्थों के कार्य को नहीं कर सकते।

शीत से रक्षा करना, शरीर का आच्छादन करना आदि पट का कार्य है और कूप से पानी निकालना, पानी भरना आदि घट का कार्य है। पट का जो कार्य है, उसको घट नहीं कर सकता है; क्योंकि घट घटरूप से सत् है, पटरूप से नहीं। यदि घट पटरूप से भी सत् होता हो तो उसे पट का काम करना चाहिए था। यही बात सब पदार्थों के विषय में है। सब पदार्थ अपना–अपना कार्य करते हैं, दूसरों का नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से सत् हैं और पररूप की अपेक्षा से असत् हैं। यदि स्वरूप की अपेक्षा भी असत् होते तो जिस प्रकार वे दूसरों का कार्य नहीं करते, उसी प्रकार अपना भी कार्य नहीं करते, किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही कार्य करता है और कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ का कार्य कभी नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है।

शंका—एक साथ एक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व सम्भव नहीं है; क्योंकि वे विधि और प्रतिषेध रूप हैं। जो विधि और प्रतिषेध रूप होते हैं, वे एक जगह वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते, जैसे—शीतता और उष्णता, विधि–प्रतिषेध रूप अस्तित्व और नास्तित्व है। इस कारण वे एक जगह वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते।

समाधान—आपका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि एक जगह एक साथ रहने वाले अभिधेयपने और अनभिधेयपने के साथ आपका हेतु व्यभिचारी है। किसी एक वस्तु के अपने अभिधायक शब्द की अपेक्षा अभिधेयपना और अन्य वस्तु के अभिधायक शब्द की अपेक्षा अनभिधेयपना दोनों एक साथ स्पष्टतया पाए जाते हैं इसलिए वह एक जगह अभिधेयपने और अनभिधेयपने की एक साथ सम्भवता को साधता है, इस तरह जब यह स्वीकार किया जाता है तो एक स्वरूपादि की अपेक्षा से अस्तित्व पररूपादि की अपेक्षा से नास्तित्व, जो कि निर्बाधरूप से अनुभव में आ रहे हैं, एक जगह वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व की एक साथ सम्भवता को क्यों नहीं साधेंगे ? क्योंकि विधि–प्रतिषेधरूपपना समान है और इसलिए जिनकी एक जगह एक साथ कथंचित् उपलब्धि होती है, उनमें विरोध नहीं आता है। हाँ, यदि जिस रूप से अस्तित्व माना जाता है, उसी रूप से नास्तित्व कहा जाता तो उन सर्वथा एकान्तरूप अस्तित्व नास्तित्व धर्मों के ही एक साथ एक जगह रहने में विरोध होता है–कथंचित् में नहीं।

4.9 छह द्रव्यों में परिणमन—

अनादि अनन्त द्रव्य में अपनी–अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है और विनशती रहती हैं, जैसे जल में लहरें

उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थपर्याय ही होती है किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यंजन पर्यायें भी होती है।

जीव परिणाम युक्त है; क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियों में नि:सन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायों के परिणमन देखे जाने से पुद्गल को परिणामी जानना चाहिए। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य व्यंजन पर्याय के अभाव से यद्यपि अपरिणामी कहलाते हैं तथापि अर्थपर्याय की अपेक्षा ये द्रव्य परिणामी हैं; क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्यों में होती है।

पदार्थ में रहने वाले प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त अन्य गुणों में प्रतिसमय जो सूक्ष्म परिणमन होता है, उसे अर्थपर्याय कहते हैं। यह परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म होता है एवं हमारी दृष्टि में नहीं आता है।

पदार्थ के आकार में जो परिणमन होता है, उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। चूंकि किसी भी पदार्थ का आकार उसमें रहने वाले प्रदेशत्व गुण के कारण होता है; क्योंकि प्रदेशत्व गुण वह है, जिसके कारण वस्तु किसी न किसी आकार में ही रहे। अत: हम कह सकते हैं कि प्रदेशत्व गुण के कार्य (परिवर्तन) को व्यंजन पर्याय कहते हैं।

4.9.1 वस्तु का समत्वभाव—

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा है—"दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त अर्थात् समस्त पदार्थ समान स्वभाव के धारक है; क्योंकि सब पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं, तथापि उनमें दीपक आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा अनित्य है और आकाश आदि कितने ही पदार्थ सर्वथा नित्य है। इस प्रकार आपकी आज्ञा से द्वेष रखने वालों के प्रलाप है।

वैशेषिक ने कहा है कि आकाशादि कुछ पदार्थ नित्य ही है और प्रदीप आदि पदार्थ अनित्य ही हैं, उनका खण्डन करने के लिए आचार्य ने कहा है कि सब पदार्थ समान स्वभाव के धारक हैं; क्योंकि सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य हैं और पर्यायर्थिक नय की अपेक्षा अनित्य हैं।

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य (स्थिरता) स्वरूप होने से आकाश भी नित्य और अनित्य इन दोनों ही धर्मों का धारक है। आकाश अवकाश को देने वाला है। उसमें रहने वाले जीव तथा पुद्गल किसी दूसरे की प्रेरणा से अथवा अपने स्वभाव से आकाश के प्रदेश से दूसरे आकाश के प्रदेश में गमन करते हैं, तब उस आकाश का उनमें रहने वाले जीव और पुद्गलों के साथ एक प्रदेश में तो विभाग होता है और दूसरे प्रदेश में संयोग होता है। संयोग तथा विभाग ये दोनों परस्पर विरोध रखने वाले धर्म हैं अर्थात् जहाँ संयोग रहता है, वहाँ विभाग नहीं रह सकता है। इसलिए जब संयोग और विभाग में भेद हुआ अर्थात् संयोग जुदा और विभाग जुदा रहा तो धर्मी जो आकाश है, उसके भी अवश्य ही भेद हुए। जैसे घट और पट में यही भेद है कि घट तो जल लाने आदि रूप धर्मों का धारण करता है और पट शीत से बचाने आदि रूप धर्मों को धारण करता है। यही इन दोनों भेद का कारण है। घट तो मिट्टी के पिण्ड आदि रूप कारणों से उत्पन्न होता है और पट तन्तु आदि कारणों से उत्पन्न होता है। जब धर्मों के भेद से धर्मी में भेद हुआ तो वह आकाश पूर्व पदार्थ का जो संयोग था उस संयोग से विनाश रूप परिणाम को धारण करने से नष्ट हुआ और दूसरे प्रदेश में जो पुद्गल का संयोग हुआ, इस कारण उस संयोग के उत्पाद (उत्पत्ति) नामक परिणाम को अनुभवन (धारण) करने से वह आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश द्रव्य उन दोनों विनाश और उत्पाद रूप अवस्थाओं में द्रव्य रूप से अनुगत चला आ रहा है अर्थात् विद्यमान है, उसका नाश नहीं हुआ है, इसलिए उत्पाद और व्यय इन दोनों का एक आकाश ही अधिकरण अर्थात् रहने का स्थान है। इस प्रकार आकाश में नित्य तथा अनित्य ये दोनों धर्म सिद्ध हुए।

4.9.2 पर्याय की नित्यानित्यता—

द्रव्य पर्याय से तन्मय रहता है अत: जब पर्याय को गौणकर द्रव्य को प्रधान बनाया जाता है तब अनित्य तत्त्व नित्यत्व को प्राप्त होता है और जब द्रव्य को गौणकर पर्याय को प्रधानता दी जाती है तब नित्य तत्त्व अनित्यत्व को प्राप्त होता है।

4.9.3 पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है—

आचार्य श्री मणिक्यनन्दि ने परीक्षामुख में कहा है—सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषय अर्थात् सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त ऐसा जो पदार्थ है, वही प्रमाण का विषय है अर्थात् प्रमाण के द्वारा जानने योग्य पदार्थ है। पदार्थों में अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रत्यय होते हैं एवं पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति एवं अन्वयी द्रव्य रूप से ध्रुवत्व देखा जाता है। इस तरह की परिणाम स्वरूप अर्थक्रिया देखी जाती है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से होने वाली परिणाम स्वरूप अर्थक्रिया का सद्भाव पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करता है। पदार्थों में सादृश्य को बतलाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय है, जैसे—यह गौ है, यह भी गौ है, इत्यादि अनेक पदार्थों में समानता का ज्ञान होने से तथा पृथकपना बतलाने वाला व्यावृत्त प्रत्यय अर्थात् यह गौ श्याम है, धवल नहीं है, इत्यादि व्यावृत्त प्रतिभास होने से पदार्थों में सामान्य और विशेषात्मकमकपना सिद्ध होता है, जो जिस आकार से प्रतिभासित होता है, वह उसी रूप देखा जाता है, जैसे नीलाकार से प्रतिभासित होने के कारण नील स्वभाव वाला पदार्थ है, ऐसा माना जाता है। सामान्य आकार का उल्लेखी अनुवृत्त प्रत्यय और विशेष आकार का उल्लेखी व्यावृत्त प्रत्यय सम्पूर्ण बाह्य अचेतन पदार्थ एवं आभ्यन्तर चेतन पदार्थों में प्रतीत होता ही है, अतः वे चेतन–अचेतन पदार्थ सामान्य विशेषात्मक सिद्ध होते हैं। पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करने के लिए अकेला अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय ही नहीं है, अपितु पूर्व आकार का त्याग रूप व्यय, उत्तर आकार की प्राप्ति रूप उत्पाद और दोनों अवस्थाओं में अन्वय रूप से रहने वाला ध्रौव्य पदार्थों में पाया जाता है, इस तरह की परिणामस्वरूप अर्थक्रिया का सद्भाव भी उनमें पाया जाता है, इन हेतुओं से पदार्थ की सामान्य–विशेषात्मकता सिद्ध होती है।

4.9.4 एक ही द्रव्य अनेक कैसे बनता है—

आचार्य श्री सिद्धसेन ने कहा है—

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं।।

सन्मति प्रकरण–31

अर्थात् एक द्रव्य के भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थपर्याय तथा शब्द अर्थात् व्यंजनपर्याय होते हैं, वह द्रव्य उतना होता है।

कोई भी परमाणु जीव आदि मूल द्रव्य वस्तुतः अखण्ड होने से व्यक्ति के रूप में भले ही एक हो, परन्तु उसमें तीनों कालों के शब्द पर्याय और अर्थपर्याय अनन्त होते हैं। इसलिए वह एक द्रव्य भी प्रतिपर्याय अर्थात् पर्यायभेद से भिन्न–भिन्न होते हुए भी समान होने से और भिन्न–भिन्न माना जाने से पर्यायों की संख्या के अनुसार अनन्त बनता है अर्थात् अमुक एक पर्याय सहित उस द्रव्य की अपेक्षा दूसरे विवक्षित पर्याय सहित वह द्रव्य उसकी अपेक्षा तीसरे विवक्षित पर्याय सहित वह द्रव्य भिन्न है। इस तरह विशेष्यभूत द्रव्य के एक होने पर भी विशेषणभूत पर्यायों के भेद के कारण उसे भिन्न–भिन्न मानने पर वह जितने पर्याय होते हैं, उतनी संख्या वाला बनता है।

पञ्चाध्यायीकार के अनुसार यद्यपि सत् एक है, तथापि वह सर्वथा एक नहीं है, किन्तु वह अनेक भी है; क्योंकि प्रमाणानुसार वह सप्रतिपक्ष है। दूसरे सत् के अनेक होने में यह युक्ति है कि द्रव्यादि की अपेक्षा अखण्डित होने पर भी सत् इसलिए अनेक है, क्योंकि व्यतिरेक के बिना अन्वय पक्ष अपने पक्ष की रक्षा नहीं कर सकता। गुण का लक्षण भिन्न है और पर्याय का भिन्न। अपने–अपने लक्षण के अनुसार गुण भी है और पर्याय भी है। अतः गुण और पर्याय नियम से अनेक है, तो द्रव्य की अपेक्षा सत् अनेक कैसे नहीं होगा। जो सत् एक देश में है, वह उसी देश में है, दूसरे देशों में नहीं

है। इसी प्रकार दूसरे देश में जो सत् है, वह उसी देश में है, अन्य देश में नहीं है। अतः ऐसा कौन पुरुष है जो क्षेत्र की अपेक्षा सत् को अनेक नहीं मानेगा। जो सत् एक काल में है, वह उसी काल में है, उससे भिन्न दूसरे काल में नहीं। इसी प्रकार जो सत् अन्य काल में है, वह उसी काल में है, उससे भिन्न काल में नहीं है। अतः काल की अपेक्षा भी सत् नियम से अनेक है। सत्मात्र होने से जो एक भाव है, वह अन्य भाव रूप नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जो अन्य भाव है, वह उसी रूप ही है, अन्य रूप नहीं हो सकता, अतः भाव की अपेक्षा सत् नियम से अनेक है।

4.10 वस्तु में अन्वय-व्यतिरेक की सिद्धि—

सभी पदार्थ विधि और निषेध रूप भाव से युक्त है। यदि इन दोनों में से किसी एक का लोप माना जाता है तो उससे भिन्न दूसरे भाव को भी लुप्त होने की आपत्ति आती है। विधि और निषेध में से किसी एक के नहीं मानने पर शेष दूसरे के अभाव का प्रसंग आता है। यदि वस्तु केवल अन्वय रूप है ऐसी प्रतीति मानी जाय तो वह व्यतिरेक के अभाव में अन्वय की साधक कैसे हो सकती है ?

सत् द्वैत रूप होकर भी कथंचित् अद्वैत रूप ही है, इसलिए जब विधि की विवक्षा होती है, तब वह विधिमात्र प्राप्त होता है और जब निषेध की विवक्षा होती है, तब वह निषेधमात्र प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि कुछ भाग विधिरूप है और उससे बचा हुआ कुछ भाग निषेध रूप है; क्योंकि ऐसे सत् की सिद्धि में साधन का मिलना तो दूर रहा, उसमें द्वैत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है; क्योंकि वह अशेष विशेषों से रहित माना गया है।

4.10.1 वस्तु में मुख्य-गौण की विवक्षा—

आचार्य श्री समन्तभद्र ने कहा है—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
तथा ऽरिमित्रा ऽनुभयादिशक्ति द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु।।

स्वयम्भूस्तोत्र 11/3

अर्थात् हे श्रेयांस जिन ! आपके मत में जो विवक्षित होता है—कहने के लिए इष्ट होता है वह मुख्य (प्रधान कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है, जिसका कहना इष्ट नहीं होता, वह गौण कहलाता है और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता–उसकी सत्ता अवश्य होती है। इस प्रकार मुख्यगौण की व्यवस्था से एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियों को लिए रहती है–एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार करने से), दूसरे का शत्रु है (अपकार करने से), तीसरे का शत्रु–मित्र दोनों है (उपकार–अपकार करने से) और चौथे का न शत्रु है और न मित्र (उसकी ओर उपेक्षा धारण करने से), और इस तरह उसमें शत्रु, मित्र दोनों के गुण युगपत् रहते हैं। यथार्थ में वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं) से कार्यकारी होती है—विधि निषेध रूप, सामान्य–विशेष रूप अथवा द्रव्य पर्याय रूप दो–दो सापेक्ष धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करने में प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूप की प्रतिष्ठापक बनती है।

जब मिट्टी का पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप में अर्पित (प्रधान) विवक्षित होता है, तब वह नित्य है और कभी भी वह रूपित्व या द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता। जब वही अनेकधर्मात्मक पदार्थ रूपित्व और द्रव्यत्व को गौणकर केवल 'मृत्पिण्ड' रूप पर्याय से विवक्षित होता है तो वह अनित्य है; क्योंकि पिण्ड पर्याय अनित्य है। यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु ही मानी जाय तो व्यवहार का लोप हो जायेगा; क्योंकि पर्याय से शून्य केवल द्रव्यरूप वस्तु नहीं है और न केवल पर्यायार्थिक नय की विषयभूत ही वस्तु है, वैसी वस्तु से लोकयात्रा नहीं चल सकती; क्योंकि द्रव्य से शून्य पर्याय नहीं होती। अतः वस्तु को उभयात्मक मानना ही उचित है।

4.11 जीवविषयक अनेकान्त—

4.11.1 जीव चेतन भी है, अचेतन भी है—

भट्ट अकलंकदेव ने कहा है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतरत्तस्याच्चेतनचेतनात्मकः।।3।।

प्रमेय आदि धर्मों की अपेक्षा आत्मा अचित् है और ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा आत्मा चिदात्मक है, अतएव आत्मा चेतनात्मक और अचेतनात्मक भी है।

जीव अनादि काल से कर्मों से बँधा हुआ है। उन कर्मों ने जीव के चेतनगुण का घात कर रखा है, कहा भी है—

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स।।

(स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा 211)

पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्वशक्ति है, जिससे जीव का केवलज्ञान स्वभाव भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार जितने अंशों में चेतनगुण का घात हो रहा है, उतने अंशों में अचेतनभाव है। जीव के पाँच स्वतत्त्व भावों में से एक औदयिक भाव है, जिसके इक्कीस भेदों में से एक अज्ञान भी भेद है। कहा भी है—

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।।1।।
गति कषाय लिंगमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतु श्चतुश्चतुर्त्र्येकैकैकैषडभेदाः।।6।।

तत्त्वार्थसूत्र 2/6

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में भी अज्ञान (अचेतन) को भी जीव का स्वतत्त्व कहा गया है; क्योंकि जीव का यह अचेतन भाव द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध से होता है और पौद्गालिक कर्म जीव से भिन्न द्रव्य है, इसलिये असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव में अचेतन भाव है।

आलापपद्धति में कहा है—

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः।।162।।

विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव का भी अचेतन स्वभाव है।

4.11.2 आत्मा में सत, असत् आदि अनेक विकल्पों का समूह है—

आत्मा को जो ज्ञायक स्वभाव है, वह स्वतः स्वभाव से समुत्पन्न है; क्योंकि पदार्थ का स्वभाव परनिरपेक्ष होता है, मात्र उसका विभाव परसापेक्ष रहता है, जैसे जीव का ज्ञानस्वभाव किसी अन्य पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न नहीं है, परन्तु उसका रागादिक विभाव चारित्रमोह कर्म के उदय से समुत्पन्न है। इस प्रकार सहज स्वभाव से समुत्पन्न जीव का ज्ञायक स्वभाव विधि और निषेध रूप है—सामान्य विशेष की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, एकानेक तथा स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा तद्तद्रूप है। जब सहज स्वभाव ही इस प्रकार का है, तब उसमें जो सत् , असत् , एक, अनेक, नित्य, अनित्य, तथा तद् , अतद् आदि के विकल्प उछल रहे हैं, उसमें आश्चर्य ही किस बात का है ?

4.11.3 आत्मा एक और अनेक है—

व्यवहारनय से अनन्त ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा जो केवलज्ञान अनन्तरूपता को प्राप्त हो रहा था, निश्चयनय से वही केवलज्ञान एक आत्मा को जानने के कारण एकरूपता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार व्यवहारनय से जो अनन्त वीर्य अनन्त गुणों का धारक होने से अनन्तरूपता को प्राप्त हो रहा था, वही एक अखण्ड आत्मा के आश्रित होने से

एकरूपता को प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार व्यवहारनय से यह आत्मा यद्यपि अनेक रूप है, तथापि निश्चयनय से एक अखण्ड द्रव्य है। हे भगवान् ! आपने अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन का लक्ष्य इसी एक अखण्ड आत्मा को बनाया है।

4.11.4 एक आत्मा अनेक ज्ञानात्मक है—

पञ्चास्तिकाय में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने कहा है—

ण वियघदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्स रूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहिं।।43।।

ज्ञान से ज्ञानी का भेद नहीं किया जाता, तथापि ज्ञान अनेक हैं, इसलिए तो ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप कहा है।

ज्ञानी, ज्ञान से पृथक् नहीं है; क्योंकि दोनों एक अस्तित्व से रचित होने से दोनों को एकद्रव्यपना है, दोनों के अभिन्न प्रदेश होने से दोनों को एक क्षेत्रपना है, दोनों एक समय में रचे जाने से दोनों को एक कालपना है, दोनों का एक स्वभाव होने से दोनों का एक भावपना है, किन्तु ऐसा कहा जाने पर भी एक आत्मा में अभिनिबोधिक आदि अनेक ज्ञान विरोध नहीं पाते; क्योंकि द्रव्य विश्वरूप है। द्रव्य वास्तव में सहवर्ती और क्रमवर्ती ऐसे अनन्त गुणों तथा पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्त रूपवाला होने से, एक होने पर भी विश्वरूप कहा जाता है।

4.11.5 जीव अनादि अनन्त, सादि सान्त और सादि अनन्त हैं—

जीव वास्तव में सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से अनादि, अनन्त हैं। वे ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि सान्त हैं। वे ही क्षायिक भाव से सादि–अनन्त हैं।

'क्षायिक भाव आदि होने से वह सान्त होगा'–ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है। (कारण इस प्रकार है–) वह वास्तव में उपाधि की निवृत्ति होने पर प्रवर्तता हुआ, सिद्धभाव की भाँति जीव का सद्भाव ही है अर्थात् कर्मोपाधि के क्षयरूप से प्रवर्तता है, इसलिए क्षायिकभाव जीव का सद्भाव ही है और सद्भाव से तो जीव अनन्त ही स्वीकार किये जाते हैं। (इसलिए क्षायिक भाव से जीव अनन्त अर्थात् विनाशरहित ही हैं।)

पुनश्च, 'अनादि–अनन्त सहज चैतन्य लक्षण एक भाव वाले उन्हें सादि सांत और सादि–अनंत भावान्तर घटित नहीं होते अर्थात् जीवों को एक पारिणामिक भाव के अतिरिक्त अन्य भाव घटित नहीं होते' ऐसा कहना योग्य नहीं है; (क्योंकि) वे वास्तव में अनादि कर्म से मलिन वर्तते हुए कीचड़ से संपृक्त जल की भाँति तदाकार रूप परिणित होने के कारण, पाँच प्रधान गुणों से प्रधानता वाले ही अनुभव में आते हैं।

4.11.6 जीव कर्ता है, नहीं भी है—

किसी एक नय से आत्मा (पुण्य–पापादि परिणामों का) कर्ता है और किसी एक नय से (निश्चय नय से) आत्मा इन परिणामों का कर्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है, वह ज्ञानी होता है। ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्थारूप न परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है, न उस रूप उत्पन्न ही होता है (इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है)। व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का है और उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों को भोगता भी है।

जैसे देखने में आता है कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है, उसी का घड़ा बनता है, तथापि घड़े को बनाने वाला कुम्हार है और जल धारण करना, उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है, यह अनादिकाल से लोगों का व्यवहार चला आया है। वैसे ही उपादान रूप से कर्मों का पैदा करने वाला भी कार्मणवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य है, जो अनेक प्रकार के मूल उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए नाना प्रकार ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म हैं, उसका करने वाला व्यवहानय से आत्मा है, ऐसा समझा जाता है।

4.11.7 जीव के अध्यवसानादि भाव निश्चयनय से नहीं है, व्यवहारनय से है—

आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं, उनमें से कितने ही अध्यवसान (रागादि) को, कुछ कर्म को ही जीव कहते हैं तथा कुछ अध्यवसानों में भी तीव्रता, मन्दता को लिए हुए जो अनुभाग होता है,उसे जीव मानते हैं। अन्य कोई नोकर्म को ही जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई कर्म के फल को जो तीव्र, मन्द रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है, वह जीव है ऐसा इष्ट करते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मों के परस्पर संयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी आत्मा के विषय में अज्ञानी लोग भिन्न–भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे वस्तुस्थिति को जानने वाले नहीं है। उपर्युक्त सभी अवस्थायें पौद्गालिक द्रव्य कर्म के सम्बन्ध से होने वाली हैं, इसलिए वे सब जीव नहीं कही जा सकती।

ये रागादि अध्यवसानमयी भाव जीव है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहार नय का मत है।

4.11.8 आत्मा अनेकान्तमय है, फिर भी उसका ज्ञानमात्र से कथन क्यों ?—

लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य–आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

4.11.9 वस्तु एक, रूप अनेक—दृष्टान्त

एक सुन्दर स्त्री का शव किसी वन में पड़ा हुआ था। उसे देखकर एक कामी व्यक्ति के मन में उसके प्रति राग उत्पन्न हुआ। उसी शव को जब एक साधु ने देखा तो संसार और शरीर के स्वरूप का विचार कर उसकी वैराग्य भावना बढ़ी। उस स्त्री के पति ने जब उस शव को देखा तो उसके मन में उसके प्रति और अधिक मोह उत्पन्न हुआ। एक कुत्ता जब उधर से गुजरा तो उस शव को उसने अपना भक्ष्य समझा। एक चोर ने जब उसे देखा तो उसकी दृष्टि उसके पहने हुए आभूषणों पर गई। उसने सोचा, क्या ही अच्छा होता, यदि ये आभूषण मुझे प्राप्त हो जाते। चिकित्सा की शिक्षा ग्रहण करने वाले एक छात्र ने उसे देखा तो उसके मन में यह कल्पना हुई कि यह शव मुझे प्राप्त हो जाता तो मैं इसके अंगों को चीड़–फाड़ कर इसकी शारीरिक रचना का अध्ययन करता। एक पुलिस वाला उधर से गुजरा तो उसके मन में यह इच्छा हुई कि इस स्त्री की मौत किन परिस्थितियों में हुई, इसकी जाँच करनी चाहिए। कहीं इसकी किसी ने हत्या तो नहीं कर दी। एक वस्त्र को बुनने वाले ने जब उस स्त्री को देखा तो सोचा, इसने कितनी सुन्दर साड़ी पहन रखी है। इसका बनाने वाला कितना दक्ष रहा होगा, जिसने इतनी सुन्दर साड़ी और महीन साड़ी का निर्माण किया। इस प्रकार एक ही स्त्री के शव के विषय में भिन्न–भिन्न पहलुओं की अपेक्षा विचार करने पर विभिन्नता रही।

4.12 अनेकान्त : समता का स्त्रोत—

जिसके जीवन में अनेकान्त दृष्टि होती है, उसके जीवन में समता का भाव आ जाता है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।

अर्थात् (संसारावस्था में) एकान्त रूप से किसे सुख की प्राप्ति हुई अथवा ऐकान्तिक रूप से किसे दुःख की प्राप्ति हुई है ? सुख और दुःख की अवस्था चक्र के आरे के समान नीचे–ऊपर होती रहती है।

तात्पर्य यह कि सुख और दुःख दोनों सापेक्ष हैं। जो इनकी सापेक्षता को समझ लेता है, वह सुख की स्थिति आने पर उसमें अत्यधिक मगन नहीं होता है और दुःख की स्थिति में अत्यधिक घबड़ाता नहीं है। उसके जीवन में समता आ जाती है।

जैन परम्परा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परम्परा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टि पोषक सारे आचार–विचार को 'ब्रह्मचर्य' बम्भचेराई' कहा है, जैसा कि बौद्ध परम्परा ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद और शान्तिपर्व की तरह जैनग्रंथ में भी 'समत्व धारण करने वाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अन्तर मिटाने का प्रयत्न किया है। विचार में साम्यदृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है, उसी में से अनेकान्तदृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचारसरणी को ही पूर्व अन्तिम सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना साम्यदृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना, जितना अपनी दृष्टि का, यही साम्यदृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषा प्रधान स्याद्वाद और विचार प्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है।

4.12.1 अनेकान्तवादी : सत्य का प्रयोक्ता—

अनेकान्तवादी सत्य का प्रयोक्ता होता है। आधुनिक युग में इसके सबसे बड़े दृष्टान्त महात्मा गाँधी हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा को सत्य का प्रयोग कहा है। उनका कहना था–"अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में मैं किसी तरह की सम्पूर्णता का दावा नहीं करता। जैसे विज्ञान–शास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम, विचार–सहित और सूक्ष्मता पूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नहीं कहता कि यही सच्चे परिणाम हैं, इस सम्बन्ध में यह संशय नहीं तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोगों के विषय में मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म–निरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जाँचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं, अथवा यही सही है, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता। हाँ, एक दावा जरूर करता हूँ कि मेरी नजरों में ये सही हैं और इस समय तो आखिरी से लगते हैं। यदि ऐसा न लगे तो मुझे इनकी बुनियाद पर कोई इमारत खड़ी नहीं करनी चाहिए। मैं तो हर पद पर जिन वस्तुओं को देखता हूँ, उनके त्याज्य और ग्राह्य दो हिस्से कर लेता हूँ और ग्राह्य के अनुसार अपना आचरण बनाता हूँ और इस प्रकार बनाया हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को जब तक सन्तोष दे, तब तक मुझे उसके शुभ परिणामों के विषय में अटूट विश्वास रखना ही चाहिए।

जब गाँधी जी "भारत छोड़ो" आन्दोलन की योजना बना रहे थे, तब सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर ने उनसे पूछा कि "आपके इस कार्य से युद्ध में बाधा पड़ेगी और अमेरिकी जनता को आपका यह आन्दोलन पसन्द नहीं आएगा। आश्चर्य नहीं कि लोग आपको मित्रराष्ट्रों का शत्रु समझने लगे। गाँधीजी यह सुनते ही घबरा उठे। उन्होंने कहा– "फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो मुख्यतः समझौतावादी मनुष्य हूँ, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ठीक राह पर हूँ।"

चूँकि अनेकान्तवाद से परस्पर विरोधी बातों के बीच सामंजस्य आता है तथा विरोधियों के प्रति भी आदर की बुद्धि होती है, इसलिए गाँधी जी को यह बात अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने लिखा है 'मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी–अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अन्धों ने हाथी को अलग–अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया है कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में है। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।"

सत्य के किसी एक पक्ष पर अड़ जाना तथा वाद विवाद में आँखे लाल करके बोलने लगना, ये लक्षण छोटे लोगों के ही होते हैं, जो कदाचित् सत्य की राह पर अभी आए ही नहीं हैं। सत्य के मार्ग पर आया हुआ मनुष्य हठी नहीं होता, बल्कि स्याद्वादी होता है। जब तक विश्व के विचारक और शासक स्याद्वादी भाषा का प्रयोग नहीं सीखते, तब तक न तो संसार के धर्मों में एकता होगी, न विश्व के विचार और मतवादी ही एक हो पायेंगे।

अनेकान्तवाद : सर्वधर्मसमभाव—

अनेकान्तवादी दूसरे धर्मों के प्रति घृणा का भाव नहीं रखता है। वह सब धर्मों में भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से आंशिक सत्य देखता है। मैक्समूलर ने कहा है–"मेरा मत है कि संसार के महान धर्मों में से प्रत्येक में एक दैवीय तत्त्व विद्यमान है। मैं समझता हूँ कि उनको शैतान की कारस्तानी बताना, जबकि वे सब ईश्वर के बनाए हुए हैं, ईश्वर की निन्दा करना है, और मेरा मत है कि ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ परमात्मा में विश्वास उस दैवीय स्फुरण के बिना हो गया हो, जो मनुष्य में कार्य कर रही दैवीय आत्मा का प्रभाव है। यदि मैं इससे भिन्न विश्वास करूँ, यदि मैं अपनी गम्भीरतम सहजवृत्ति के विरुद्ध अपने आपको यह मानने के लिए विवश करूं कि केवल ईसाइयों की प्रार्थनायें ही ऐसी हैं, जिन्हें कि परमात्मा समझ सकता है, तो मैं अपने आपको ईसाई नहीं कह सकता। सब धर्म केवल हकलाने (अस्फुट भाषण) जैसे हैं, हमारा अपना धर्म भी उतना ही ऐसा है, जितना कि ब्राह्मणों का धर्म। उन सबका अर्थ समझना होगा; और मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि उनमें चाहे जो भी त्रुटियाँ क्यों न हों, उनका अर्थ समझा ही जायेगा।

जैन दार्शनिकों ने दार्शनिक एकान्तवादों का समन्वय करने का प्रयत्न किया, ताकि सबकी कथंचित् सत्यता का भी भान हो सके। इस दृष्टिकोण से उन्होंने भावैकान्त, अभावैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद, कालवाद, स्वभाववाद, आत्मवाद, पुरुषार्थवाद आदि विभिन्न वादों का स्याद्वाद पद्धति से समन्वय किया है। जैन दर्शन के सभी ग्रंथ इसी स्याद्वाद शैली से गुम्फित हैं।

4.12.3 अनेकान्त और प्रेम—

प्रेम का अर्थ है व्यक्ति द्वारा अपनेपन का और अपने प्रभावों का परित्याग। प्रेम दूसरे मनुष्य की आँखों से देखना, दूसरे मनुष्य के हृदय से अनुभव करना और दूसरे मनुष्य के मन के अनुसार समझना है। मनुष्य को सदा प्रेमपूर्वक रहना चाहिए और जिन्होंने हमें कष्ट दिया है, उन पर भी निर्दय होकर अत्याचार नहीं करना चाहिए। जब हम प्रेम करते हैं, तब हमें घृणा का अधिकार नहीं होता, भले ही प्रेमपात्र कितना ही पतित क्यों न हो गया हो।

4.12.4 अनेकान्तवाद : दूसरे की सम्मतियों का सम्मान—

फ्रेंकलिन ने एक बार कहा था—"मैंने यह नियम बना लिया कि दूसरों के विचारों का प्रत्यक्ष प्रतिवाद और अपने विचारों का निश्चित समर्थन नहीं करूंगा। मैंने प्रत्येक ऐसे शब्द और वाक्य का उपयोग छोड़ दिया, जिससे ध्रुव सम्मति टपकती हो, जैसा कि 'निश्चय से, 'निस्सन्देह', इत्यादि और उनके स्थान में, मैं समझता हूँ, या 'मेरी धारणा है' कि अमुक बात ऐसी है, या मुझे ऐसा प्रतीत होता है। जब कोई दूसरा मनुष्य कोई ऐसी बात कहता, जिसे मैं समझता कि गलत है, तो मैं अपने को इसका एकदम खण्डन करने और उसके कथन में तत्काल कोई बेहूदगी दिखलाने से रोकता; और उत्तर देते समय मैं आरम्भ में ही कह देता कि विशेष अवस्थाओं या स्थितियों में उसका मत ठीक होगा, परन्तु वर्तमान दशा में मुझे कुछ अन्तर प्रतीत होता या जान पड़ता है, इत्यादि। अपने ढंग से इस परिवर्तन का लाभ मुझे शीघ्र ही दिखाई पड़ा, जिन वार्तालापों में मैं भाग लेता वे अधिक आनन्ददायक होने लगे। जिसे नम्र भाव से मैं अपनी बात कहता, उसे लोग बहुत उत्सुकता से सुनते और प्रतिवाद कम होता, अपने को गलती पर पाने की अवस्था में मुझे पहले की अपेक्षा कम

लज्जित होना पड़ता, और जब मेरी बात ठीक होती तो दूसरों को अपनी गलतियाँ छोड़कर मेरे साथ मिल जाने के लिए प्रेरणा करना मेरे लिए सरल होता। अत: अनेकान्तवाद दूसरे की सम्मतियों का सम्मान करना सिखाता है।

4.13 शिक्षा मनोविज्ञान में अनेकान्तवाद का प्रयोग—

कोई समय था, जब छात्रों को प्राय: एक जैसी ही शिक्षा दी जाती थी। आज मनुष्य के सोचने समझने का ढंग बदल गया है। एक ही वातावरण और गुरु के विद्यमान रहते हुए आवश्यक नहीं कि प्रत्येक छात्र की रुचि एक जैसी ही हो। शिक्षा मनोविज्ञान में प्रत्येक छात्र की रुचि को ध्यान में रखते हुए उसे कौन सी शिक्षा दी जाय और कैसे दी जाय, इस विषय पर ऊहापोह किया जाता है, अर्थात् अनेकान्तिक दृष्टि से दूसरे के दृष्टिकोण समझने और अपना दृष्टिकोण समझाने का ध्यान रखा जाता है। संस्कृति को समझने के लिए शिक्षकों द्वारा छात्रों को समझने की आवश्यकता है उन्हें छात्रों के पथप्रदर्शकों के रूप में अपने को समझने की आवश्यकता है। एतदर्थ शिक्षकों को अपने शिक्षण में उन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए जो सफल शिक्षण और प्रभावशाली अधिगम के लिए अनिवार्य है। शिक्षा मनोविज्ञान में अनेकान्तिक दृष्टि के प्रयोग से अध्यापक अपने स्वभाव, बुद्धि, स्तर, व्यवहार, योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान उसे अपने शिक्षण कार्य में सफल बनाने में योग देता है। इससे वह बालकों की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि विशेषताओं से परिचित हो जाता है। वह इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर विभिन्न अवस्थाओं के बालकों के लिए पाठ्य विषयों और क्रियाओं का चुनाव करने में सफलता प्राप्त करता है। इससे बालकों का चरित्र निर्माण होता है। अध्यापक अनेकान्तिक दृष्टि के प्रयोग से प्रत्येक छात्र की आवश्यकताओं के बारे में बहुत कुछ सीख सकता है।

मनोविज्ञान के खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बालकों की रुचियों, योग्यताओं तथा क्षमताओं आदि में अन्तर होता है। अत: ऐसा कठिन रुख अपनाने से काम नहीं चलता। शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य बालकों के चरित्र का निर्माण करना, उनके व्यक्तित्व का विकास करना है। जो शिक्षक अपने छात्रों की रुचि के अनुसार शिक्षा देते हैं उनके सामने अनुशासन की कठिनाइयाँ बहुत कम आती है। मनोवैज्ञानिक शिक्षा पद्धति की मुख्य विशेषताएँ हैं–विश्वसनीयता, यथार्थता, विशुद्धता, वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता। इससे अध्ययन की अनेक विधियों का विकास हुआ है जो इस प्रकार है–

4.13.1 (अ) आत्मनिष्ठ विधियाँ—

1. आत्मनिरीक्षण विधि
2. गाथा वर्णनविधि

4.13.2 (ब) वस्तुनिष्ठ विधियाँ—

1. प्रयोगात्मक विधि
2. निरीक्षण विधि
3. जीवन–इतिहास विधि
4. उपचारात्मक विधि
5. विकासात्मक विधि
6. मनोविश्लेषण विधि
7. तुलनात्मक विधि
8. सांख्यिकी विधि
9. परीक्षण विधि
10. साक्षात्कार विधि

11. प्रश्नावली विधि
12. विभेदात्मक विधि
13. मनोभौतिकी विधि

4.13.3 मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अनेकान्त के दर्शन—

इस प्रकार की और भी विधियों का आविष्कार आगे हो सकता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में हमें अनेकान्त के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ—वंशानुक्रम के सिद्धान्त के विषय में लोगों की अलग–अलग राय है। सोरेनसन ने लिखा है कि बुद्धिमान माता–पिता के बच्चे बुद्धिमान, साधारण माता–पिता के बच्चे साधारण और मन्दबुद्धि माता–पिता के बच्चे मन्दबुद्धि होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक रचना की दृष्टि से भी बच्चे माता–पिता के समान होते हैं। विभिन्नता के नियम के प्रतिपादकों का कहना है कि बालक माता–पिता के बिल्कुल समान न होकर उनसे कुछ भिन्न होते हैं। प्रत्यागमन का नियम यह कहता है कि बहुत प्रतिभाशाली माता–पिता के बच्चों में कम प्रतिभा होने की प्रवृत्ति तथा बहुत निम्नकोटि के माता–पिता के बच्चों में कम निम्नकोटि होती है। इस नियम के अनुसार बालक अपने माता–पिता के विशिष्ट गुणों का त्याग करके सामान्य गुणों को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि महान् व्यक्तियों के पुत्र साधारणतया उनके समान महान् नहीं होते हैं।

वातावरण का प्रभाव मानने वालों का कहना है कि बालक के ऊपर मात्र वंशानुक्रम का ही प्रभाव नहीं होता, अपितु वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे जो जापानी और यहूदी अमेरिका में अनेक पीढ़ियों से रह रहे हैं, उनकी लम्बाई भौगोलिक वातावरण के कारण बढ़ गयी है। उचित सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण न मिलने पर मानसिक विकास की गति अन्य बच्चों की अपेक्षा धीमी पायी गयी। जिन बच्चों को पर्याप्त सुविधायें प्राप्त नहीं हो पाती हैं, वे बौद्धिकता में पिछड़ जाते हैं। उदाहरणार्थ–नीग्रो प्रजाति की बुद्धि का स्तर इसलिए निम्न है; क्योंकि उनको अमेरिका की श्वेत प्रजाति के समान शैक्षिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण उपलब्ध नहीं है।

जिन बालकों को निम्न वातावरण से हटाकर उत्तम वातावरण में रखा जाता है, उन सबकी बुद्धि लब्धि में वृद्धि हो जाती है। समाज कल्याण केन्द्रों में अनाथ और परावलम्बी बच्चे आते है। वे साधारण निम्न परिवारों के होते हैं, पर केन्द्रों में उनका अच्छी तरह से पालन किया जाता है, अतः वे अपने माता–पिता से अच्छे सिद्ध होते हैं। न्यूमैन, फ्रीमैन और होलजिंगर ने 20 जोड़े जुड़वाँ बच्चों को अलग–अलग वातावरण में रखकर उनका अध्ययन किया। उन्होंने एक जोड़े के एक बच्चे को गाँव के फार्म पर और दूसरे को नगर में रखा। बड़े होने पर दोनों बच्चों में पर्याप्त अन्तर आ गया। फार्म का बच्चा अशिष्ट, चिन्ताग्रस्त और कम बुद्धिमान था। उसके विपरीत नगर का बच्चा शिष्ट, चिन्तामुक्त और अधिक बुद्धिमान था।

वंशानुक्रम को ही महत्त्व देने वाला वातावरण को नकारने की चेष्टा करता है और वातावरण को ही महत्त्व देने वाला एकान्ती वंशानुक्रम को नकारने की चेष्टा करता है। अनेकान्ती की दृष्टि में वातावरण महत्त्वपूर्ण है या वंशानुक्रम, यह प्रश्न ही बेतुका है। यह प्रश्न पूछना यह पूछने के समान है कि मोटरकार के लिए इंजन अधिक महत्त्वपूर्ण है या पेट्रोल। जिस प्रकार मोटरकार के लिए इंजन और पेट्रोल का समान महत्त्व है, उसी प्रकार बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण का समान महत्त्व है; क्योंकि बालक को जो मूल प्रवृत्तियाँ वंशानुक्रम से प्राप्त होती हैं, उनका विकास वातावरण में होता है।

4.13.4 मूल प्रवृत्तियाँ एक ही प्रकार से सहायक न होकर अनेक प्रकार से सहायक होती हैं।

जैसे–

1. प्रेरणा देने में सहायता

2. रुचि व समझ जानने में सहायता
3. ज्ञान प्राप्ति में सहायता
4. रचनात्मक कार्यों में सहायता
5. व्यवहार परिवर्तन में सहायता
6. चरित्र निर्माण में सहायता
7. अनुशासन में सहायता
8. पाठ्यनिर्माण में सहायता

4.13.5 मूल प्रवृत्तियाँ—

मेक्डूगल ने 14 मूल प्रवृत्तियाँ मानी हैं। मरसेल का मत है कि मूल प्रवृत्तियों की संख्या अपरिमित और अनिश्चित है। बर्नाड ने 140 विभिन्न मूल प्रवृत्तियों का पता लगाया है। इन मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त से किया जा सकता है। कर्म व्यक्ति के संवेगों को भी प्रभावित करते हैं। अत: संवेगों का भी अध्ययन आवश्यक है। शिक्षक बालकों के संवेगों को परिष्कृत कर उनको समाज के अनुकूल व्यवहार करने की क्षमता प्रदान कर सकता है। इसके फलस्वरूप उनमें कला, साहित्य और अन्य सुन्दर वस्तुओं के प्रति प्रेम अथवा वैराग्य उत्पन्न हो सकता है।

व्यक्ति के जीवन में सुझावों का भी महत्त्व होता है। उदाहरणार्थ–भाव चालक सुझाव हमारे अचेतन मस्तिष्क में जन्म लेता है और हमें प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ—नृत्य देखते समय हमारे पैर अपने आप थिरकने लगते हैं। प्रतिष्ठा सुझाव का आधार व्यक्ति की प्रतिष्ठा होती है। उदाहरणार्थ—जवाहरलाल नेहरू के सुझावों का देश के कोने–कोने में स्वागत किया जाता था। व्यक्ति स्वयं को भी सुझाव देता है। जैसे—यदि रोगी अपने को यह सुझाव देता रहता है कि वह अच्छा हो रहा है तो वह शीघ्र अच्छा हो जाता है। हड़ताल के समय छात्र सामूहिक सुझाव के कारण अनुशासनहीनता के कार्य करने लगते हैं। इस प्रकार सुझाव नाना प्रकार से सहायता करता है, जैसे–

1. नये विचार प्रदान करने में सहायता
2. साहित्य शिक्षण में सहायता
3. विभिन्न विषयों के शिक्षण में सहायता
4. वातावरण निर्माण में सहायता
5. रुचियों के विकास में सहायता
6. मानसिक विकास में सहायता
7. चरित्र निर्माण में सहायता
8. व्यक्ति निर्माण में सहायता
9. अनुशासन में सहायता
10. गुरु शिष्य सम्बन्ध में सहायता

4.13.6 सामाजिक सुझाव की एक जाति-अनुकरण—

सामाजिक सुझाव की एक जाति अनुकरण है। जैसे—एक बच्चे को पढ़ते हुए देखकर दूसरे का पढ़ना, बड़े को सिगरेट पीते हुए देखकर छोटे बच्चे का सिगरेट पीना। अनुकरण का शिक्षा में महत्त्व इस प्रकार है—

1. कुशलता की प्राप्ति
2. नैतिकता की शिक्षा
3. अच्छे आदर्शों की शिक्षा

4. सामाजिक व्यवहार की शिक्षा
5. मानसिक विकास का साधन
6. स्पर्द्धा उत्पन्न करने का साधन
7. आत्म अभिव्यक्ति का साधन
8. व्यक्ति निर्माण का साधन

शिक्षा में सहानुभूति का भी महत्त्व है। शिक्षक बालकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करके उनके विचारों और भावनाओं को जान सकता है। रॉस का परामर्श है कि जो व्यक्ति सहानुभूति के गुण से वंचित है, उसे शिक्षक नहीं बनना चाहिए।

बालक के प्रत्येक अंग को प्रभावित करने में खेल की भी उपयोगिता है। इसका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, वैयक्तिक, नैतिक, शैक्षिक एवं चिकित्सकीय महत्त्व है। इस प्रकार खेल बालक के व्यक्तित्व के सभी अंगों को प्रभावित करता है। अतः बालक के विकास में वंशानुक्रम, वातावरण, मूल प्रवृत्तियाँ, सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति और खेल आदि अनेक घटक कार्य करते हैं, यह बात शिक्षा के प्रति अनैकान्तिक दृष्टि अपनाकर ही सीखी जा सकती है।

4.14 अपराध मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेकान्तवाद का प्रयोग—

प्राचीन काल में अपराध के लिए व्यक्ति को उत्तरदायी माना जाता था। आधुनिक युग में अनैकान्तिक चिन्तन के फलस्वरूप अपराध के विषय में मनोवैज्ञानिक पद्धति से विचार करना आरम्भ हुआ। गैब्रिल टार्डे के अनुसार अपराध सामाजिक अनुकरण का परिणाम है। रेक्लेस का कथन है कि अपराध व्यक्ति व समाज की अन्तःक्रिया का प्रतिफल है। टैफ्ट के अनुसार अपराध सांस्कृतिक विघटन का परिणाम है। मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष की दशायें अपराध को जन्म देती हैं। बोन्जर का कथन है कि अपराध सामाजिक परिस्थितियों की देन है। मावरर के मत से आर्थिक दशाएँ अपराध के लिए मुख्य भूमिका तैयार करती हैं। तुराती के अनुसार आर्थिक असमानता व अन्याय के कारण अपराध होते हैं। लेमर्ट का कथन है कि अपराध का मुख्य कारण परिस्थिति का दबाव है। गैरों फेलों का कथन है कि दया, ईमानदारी की भावना का दोषपूर्ण होना ही व्यक्ति को अपराधी बनाता है। गोडार्ड अपराध को मानसिक दुर्बलता का परिणाम स्वीकार करता है। एडलर का कथन है कि अपराधी मन से होता है। फ्रायड के अनुसार अपराध दमन की अभिव्यक्तियाँ हैं।

गुमैचर मनोचिकित्सकीय अनुसंधान के आधार पर अपराधी व्यक्ति को पाँच वर्गों (1) सामाजिक अपराधी, (2) दुर्घटनावश या अवसरवादी अपराधी (3) सावयवी या रचनात्मक रूप से पूर्वनिर्मित अपराधी (4) मनोविकृत या समाजविकृत अपराधी तथा। (5) मनोविक्षिप्त अपराधी में विभाजित करता है। प्रमुख अमेरिकी समाज वैज्ञानिकों का मानना है कि अपराध के लिए व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ या गुण ही प्राथमिक रूप से उत्तरदायी हैं।

डेविड ड्रेसलर ने अपराध और बाल अपराध के कारणों की निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की है–

1. बाल्यावस्था में अभिभावकों का अत्यधिक लाड़–प्यार।
2. बाल्यावस्था में अभिभावकों का अपर्याप्त स्नेह।
3. घर में अत्यधिक शारीरिक दण्ड।
4. घर में अपर्याप्त शारीरिक दण्ड।
5. घर में असंगत शारीरिक दण्ड।
6. विपन्न बाल्यकाल।
7. अत्यधिक सम्पन्न बाल्यकाल।

8. अत्यधिक शिक्षा।
9. अपर्याप्त शिक्षा।
10. धार्मिक प्रशिक्षण का अभाव।
11. अतिदबावमूलक धार्मिक प्रशिक्षण।
12. भग्न परिवार या घर।
13. विवाह विच्छेद या पारिवारिक गहन विच्छिन्नता।
14. निर्धनता
15. धनाढ्यता।
16. पुलिस की कड़ी व्यवस्था।
17. अत्यधिक दमनकारी पुलिस व्यवस्था।
18. मन्दबुद्धिता।
19. बौद्धिक कुशाग्रता।
20. जासूसी एवं अपराध साहित्य।
21. चलचित्रों से हिंसा का बढ़ता हुआ प्रदर्शन।

4.14.1 भारत सरकार के अनुसार बाल अपराध के कारकों की उद्भवन सूची इस प्रकार है–

1. जैवकीय कारक—

1. शारीरिक विकार (2) बुरा स्वास्थ्य (3) वैकासिक दोष (4) विकास की अधिकता।

2. मनोवैज्ञानिक कारक—

(अ) व्यक्तित्व सम्बन्धी कारक–(1) हीनता की भावना (2) मानसिक अन्तर्द्वन्द्व (3) अवरुद्ध या दमित इच्छायें (4) अहम् भावना।

(ब) मानसिक विकास सम्बन्धी–(1) मानसिक रोग, (2) मन्दबुद्धिता (3) मानसिक अस्थिरता।

(3) पारिवारिक परिवेश—

(अ) निर्धनता—(1) परिवार में सदस्यों की अधिकता, (2) बेकारी (3) माता–पिता का घर से अधिकांशतः बाहर रहना (ब) **कुसमायोजित**–1. माता–पिता में लड़ाई (2) सौतेले माता–पिता (3) पक्षपातपूर्ण व्यवहार (4) भाई–बहन में स्पर्द्धा तथा द्वेष (5) अवांछित बच्चा (6) अत्यधिक देखरेख (7) अत्यधिक उदासीनता। **(स) अनुशासन**—(1) अत्यधिक पारिवारिक नियन्त्रण (2) पारिवारिक नियन्त्रण का अभाव **(द) विघटित परिवार**—(1) मृत्यु (2) तलाक (3) पिता का जेल में होना (4) पिता या माता की अन्य कार्यों में बहुव्यस्तता **(य) अनैतिक परिवार**—(1) यौन दुराचार (2) अत्याचारपूर्ण व्यवहार (3) भौतिक परिवेश–(1) बुरा पड़ोस (2) अपराधी दल (3) मनोरंजन की कमी तथा दूषित मनोरंजन (4) शिक्षालय की कमी व अव्यवस्था।

4.14.2 अपराध संबंधी सांख्यिकी—

अपराध सम्बन्धी सांख्यिकी से ज्ञात होता है कि निम्न वर्ग के लोगों द्वारा उच्च वर्गों की अपेक्षा अधिक अपराध किए जाते हैं। यह सांख्यिकी पुलिस एवं न्यायलय की रिपोर्टों पर अधिक निर्भर करती है। इस प्रकार की सांख्यिकी में हत्या, लूटमार, डकैती, यौन अपराध, चोरी, यातायात नियमों के उल्लंघन जैसे अपराधों की ही अधिकता होती है। समरलैंड का कहना है कि इस प्रकार के अपराधी व्यवहार के सिद्धान्त अपूर्ण एवं भ्रामक हैं, क्योंकि इनके उदाहरणों का चयन ही पक्षपातपूर्ण है। इस प्रकार के उदाहरणों में व्यावसायिक लोगों द्वारा किए गए अपराधों के विवरणों की

अवहेलना की जाती है। यह अपराधिकता वित्तीय विवरण गलत बनाने, व्यापारिक घूसखोरी, स्टाक एक्सचेंज में बदलाव, ठेका पाने के लिए अफसरों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रलोभन, झूठे विज्ञापन देना, धन का गवन एवं संचित निधि का दुरुपयोग, कम तौलना या गलत मापों का उपयोग, करों की चोरी, बैंकों के साथ धोखा धड़ी इत्यादि रूपों में व्यक्त होती है। चिकित्सा व्यवसाय भी इस अपराधिता से युक्त है। अलकोहल तथा मादक दवाओं का अवैधानिक विक्रय, गर्भपात, कानून से भागे हुए अपराधियों की चिकित्सा, दुर्घटना के मामले में भ्रामक स्वास्थ्य रिपोर्ट या प्रमाणपत्र झूठी डिग्री लिखना या बिना यथार्थ प्रमाण के विशेषज्ञता का प्रचार, झूठा चिकित्सालय का बिल देना जैसे अनेक अपराध चिकित्सा व्यवसाय के क्षेत्र में होते हैं। यह सब श्वेतवसन अपराध की श्रेणी में आते हैं।

इस प्रकार अपराध अनेक रूपों में बढ़ रहे हैं। उनके कारणों की अनेक खोजें हो रही हैं तथा अपराध रोकने के अनेक उपाय भिन्न–भिन्न अपराधियों को घर में रखते हुए किए जा रहे हैं और यह धारणा बलवती होती जा रही है कि अधिकांश अपराधियों को सुधारा जा सकता है। यह सब अनैकान्तिक दृष्टि के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है। अपराधियों के विषय में आए चिन्तन के परिवर्तन से कारागार व्यवस्था में प्रमुख रूप से निम्नलिखित सुधार हुए हैं–

1. कारागारों में भोजन, शयन एवं कार्य की दशाओं में सुधार।
2. कारागारों में चिकित्सालयों की स्थापना।
3. जघन्य अपराधियों के लिए निर्जन वास की व्यवस्था।
4. अपराधियों का अपराधों की प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण।
5. कारागार अधीक्षक एवं निरीक्षकों के रूप में प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति।
6. आकस्मिक एवं आदतन अपराधी के रूप में वर्गीकरण।
7. बन्दियों को निरीक्षकों की भूमिका कम से कम प्रदान करना।
8. अपराधी परिश्रम का उद्देश्य यातना नहीं, वरन् पुनर्निमाण एवं सुधार होना चाहिए।
9. अपराधी को अपने सम्बन्धियों से कारागार में मिलने की छूट होना चाहिए।
10. कारागार में पुस्तकालयों की स्थापना।
11. पच्चीस वर्ष से कम के अपराधी को शिक्षा जारी रखने की सुविधा।
12. पेरोल पर छोड़ने की व्यवस्था।
13. रिहा होने पर अपराधियों के पुनर्व्यवस्थापन में सहायता प्रदान करना।
14. अपराधियों को कोड़े लगाने जैसे अमानवीय दण्ड न देना।
15. मृत्युदण्ड के औचित्य, अनौचित्य का चिन्तन।
16. अपराधी जीवन के लिए समाज ही उत्तरदायी है अतः उसके साथ सहानभूतिपूर्ण व्यवहार।

4.15 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-परमार्थ से जो परिणमन करता है, वह कहलाता है।

(क) कर्ता ☐
(ख) कर्म ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-उत्पन्न होना, विनष्ट होना और ध्रुव रहना "....." है।

(क) पदार्थ ☐
(ख) तत्त्व ☐
(ग) उत्पाद ☐

प्रश्न 3-अन्त कहते हैं।

(क) अंश ☐
(ख) धर्म ☐
(ग) ये दोनों ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-द्रव्य का लक्षण क्या है ? बताइए ?

प्रश्न 2-द्रव्य से उत्पाद और व्यय भिन्न है या अभिन्न ? समझाइए ?

प्रश्न 3-अनेकांत का स्वरूप क्या है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-एक ही वस्तु में एक साथ परस्पर विरोधी दो धर्म रह सकते हैं। इस बात को स्पष्ट कीजिए ?

इकाई–4 धर्म एवं विज्ञान से संबंधित महत्त्वपूर्ण विषय

इस इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) मानव जीवन को संस्कारित करने के षोडश सोपान

(2) बहत्तर कलाएँ एवं चौंसठ लिपियाँ

(3) छन्द विज्ञान एवं कतिपय छन्दों के प्रयोग

(4) मानव क्लोनिंग

(5) दिगम्बर–श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर

पाठ-1–मानव जीवन को संस्कारित करने के षोडश सोपान

1.1 जैसे खान में से निकला स्वर्ण पाषाण योग्य निमित्त पाकर मूल्यवान बन जाता है और ईंट, चूना, सीमेंट आदि वस्तुएँ कारीगर के संयोग से सुन्दर महल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, उसी प्रकार मानव पर्याय में गर्भ में आते ही बालक-बालिकाओं उपयोगी संस्कार मिल जावें तो वे योग्य बन सकते हैं।

प्रथम तो माता-पिता के रज-वीर्य से बनने वाला पिण्ड, जहाँ जीव आता है, उस पर माता-पिता के जीवन का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के पश्चात् माता के सद्विचार, आचार एवं आहार-विहार के प्रभाव से बालक की शक्तियाँ दृढ़ होती हैं। जैसे कच्चे गेहूँ और चने को सूर्य की धूप-पानी आदि पका देते हैं उसी प्रकार अपने बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करने के लिए उचित निमित्त (संस्कार विधि) की आवश्यकता है।

माता के गर्भ में उत्पन्न होने के पश्चात् और गर्भ में आने के पूर्व संस्कारों का जो महत्व है तथा जिनसे जीवन निर्माण होता है, वे संस्कार सोलह प्रकार के होते हैं, अतः इन्हें षोडश संस्कार के नाम से जाना जाता है।

बिना साफ की गई भूमि में जिस प्रकार बीज फलीभूत नहीं होता, उसी प्रकार यह जीवित शरीर, विधिपूर्वक संस्कारों के बिना संयम, व्रत और शुभाचरण का पात्र नहीं होता।

गर्भ में आने वाले बालक को उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों की दृढ़ता और कमजोरी माता द्वारा प्राप्त होती है। माता के मन, वचन, काय की क्रिया का असर संतान के ऊपर पड़ता है, अतः माता को विवेकशील और धर्मात्मा होना चाहिए।

संतान के पूर्वोपार्जित कर्म, उसके निर्माण में अन्तरंग निमित्त हैं और बाह्य निमित्त अन्य सामग्री होती है। जैसे माता के आहार का अंश गर्भस्थित संतान को प्राप्त होता है, जिससे उसके शरीर को पोषण मिलता है साथ ही उसके विचारों व क्रियाओं का उस पर असर होता है, अतः बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए योग्य माताओं के समान शास्त्रानुसार धार्मिक संस्कारों की आवश्यकता है। ये संस्कार वैज्ञानिक दृष्टि से भी द्रव्य परमाणु की शक्ति की अपेक्षा से बच्चों के मन, वचन और शरीर के भीतर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

1.2 प्रथम गर्भाधान संस्कार—

विवाह केवल विषयाभिलाषा से ही नहीं, अपितु पुत्रोत्पत्ति एवं गार्हस्थ्य जीवन में परस्पर सहयोग द्वारा सदाचरण, लोकसेवा तथा आत्मोन्नति के उद्देश्य से किया जाता है।

स्त्री को मासिक धर्म के तीन दिन, एकान्त में बिना किसी को स्पर्श किये, व्यतीत करना चाहिए। वह चौथे दिन स्नान कर घर के भोजन आदि विशेष कार्यों को न करते हुए बारह भावना का चिन्तवन करती रहे और साधारण

कामकाज में भाग लेती रहे। पाँचवें दिन शुद्ध होकर मंदिर में जाकर जिनेन्द्र दर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि करे। इस प्रकार उसे व्यवहार दृष्टि से 3 दिन और धर्म की दृष्टि से चार दिन की अशुद्धि पालनी चाहिए।

गर्भाधान के पूर्व संस्कार विधि में विनायक यंत्रपूजा व हवन में गृहस्थाचार्य निम्नलिखित विशिष्ट मंत्रों से आहुति देते हुए पति-पत्नी पर आशीर्वादरूप में पीले चावल क्षेपण करें—

"सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव।" पश्चात् पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधि भक्ति व समापन पाठ पढ़कर पूजा पूर्ण करें। अन्त में सौभाग्यवती स्त्रियों से आशीर्वाद ग्रहण करें।

1.3 द्वितीय प्रीति संस्कार—

गर्भ के दिन से तीसरे माह में गर्भाधान क्रिया के अनुसार विनायक यंत्र पूजा, 112 आहुतियों से हवन, पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधि पाठ, क्षमापान करके हवन के नीचे लिखे खास मंत्रों की आहुति देवें और पति-पत्नी पर पुष्पक्षेपण करें।

"त्रैलोक्यनाथो भव, त्रिकालज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव', इसी समय "ॐ कंठ व्हः पः असि आ उसा गर्भार्भकं प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा' यह मंत्र तीन बार पढ़कर गर्भवती पर पति द्वारा जलसेचन करावें।

1.4 तृतीय सुप्रीति संस्कार—

गर्भाधान के पाँचवें माह में यह सुप्रीति या पुँसवन क्रिया श्रवण, रोहिणी, पुष्य नक्षत्र, रवि, मंगल, गुरु, शुक्रवार, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 12, 13 तिथि के मुहूर्त में करें। इसमें पूर्ववत् पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करके निम्न प्रकार खास मंत्रों से आहुति व पुष्पों से आशीर्वाद देवें।

'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभागी भव, निष्क्रांति कल्याणभागी भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, परमनिर्वाण कल्याणभागीभव'। इसी समय पति, पत्नी के सिर की माँग में सिंदूर और 108 जौ के दानों की पहले से तैयार कराई गई माला 'ॐ झं वं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः कान्तागले यवमालां क्षिपामि झौं स्वाहा' मंत्र पढ़कर पत्नी के गले में पहनावें। पत्नी अपनी आँखों में अंजन लगावें।

1.5 चतुर्थ धृति या सीमंतोन्नयन संस्कार—

यह क्रिया सातवें माह में शुभ मुहूर्त मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मूल, उत्तरात्रय, रोहिणी, रेवती इन में से किसी नक्षत्र में व रवि, मंगल, गुरु इन वारों तथा 1, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 13 इन तिथियों में किसी तिथि में करें। इसका दूसरा नाम खोला भरना है। इसमें पहले के समान पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करें। नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व आशीर्वाद देवें—

सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहस्थदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

अनन्तर पुत्र वाली सौभाग्यवती स्त्री द्वारा तेल व सिंदूर में डुबोकर शमी (सोना) वृक्ष की समिधा (सींक) से गर्भिणी पत्नी के केशों की माँग भरी जावे। इसी दिन गोद (खोल) में श्रीफल, मेवा, फल आदि भराकर पति-पत्नी या केवल पत्नी महिलाओं के साथ जिनमंदिर जावें।

1.6 पंचम मोद संस्कार—

यह संस्कार गर्भ के दिन से 9वें माह में किया जाता है। इसमें पूर्ववत् यंत्र पूजा व हवन करें। साथ ही नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व दम्पत्ति को आशीर्वाद देवें।

सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहस्थकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, युवाराज्यकल्याणभागी भव।

पुण्याहवाचन, शान्ति पाठ आदि के पश्चात् गृहस्थाचार्य पति, पत्नी को णमोकार मंत्र पढ़कर रक्षा सूत्र बाँधें।

नोट—यदि गर्भाधान संस्कार क्रमशः न कर सकें तो 4-5वें संस्कारों के साथ उन संस्कारों के मंत्र व क्रियाएँ इसी समय कर ली जावें। गर्भिणी महिला को प्रतिदिन "ओं ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः" इस मंत्र की जाप कर लेना चाहिए। उसे गर्भ के पाँचवें माह से, अधिक ऊँची जमीन पर चढ़ना नहीं चाहिए। वह वाहन (बैलगाड़ी, अश्व या धक्के वाली गाड़ी) पर न बैठे। तेज औषधि न लेवें, बोझा न ढोवे, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे, सादा भोजन करें। स्वाध्याय में अधिक समय व्यतीत करें। हाथ चक्की से आटा पीसने का अभ्यास रखे। इन संस्कारों को छोड़कर अन्यत्र हवन में शामिल न हो। क्रोधादि कषाय न कर शान्त परिणाम रखे। पति का भी कर्तव्य है कि वह पत्नी को उक्त कार्यों में सहयोग देवें।

1.7 छठा प्रियोद्भव संस्कार—

बालक के जन्म के बाद यह संस्कार किया जाता है। जन्म का 10 दिन का सूतक होने से गृहस्थाचार्य या जिनको सूतक न लगे, वे जिनमंदिर में पूजा-विधान करें। हवन में 'दिव्य नेमिविजयाय स्वाहा' परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हत्यनेमिविजयाय स्वाहा, घातिजयो भव, श्रीआदि देव्यः जातक्रियाः कुर्वन्तु, मन्दराभिषेकार्हो भवतु।' इन मंत्रों से आहुति देवें। पिता आदि भी पुत्र को देखकर यह आशीर्वाद देवें। इस दिन बाजें बजवावें।

नोट—कन्या उत्पन्न होने पर भी पहले बताये समान यथायोग्य संस्कार करें। उसकी उपेक्षा न करें। क्योंकि कन्या रत्न मानी जाती है।

1.8 सप्तम नामकर्म संस्कार—

जन्म के 12, 16 या 32वें दिन यह संस्कार करें। दस दिन सूतक होने से जिनाभिषेक, पूजा, शास्त्र का स्पर्श नहीं होता। सूतक त्रिलोकसार, मूलाचार आदि प्राचीन ग्रंथों में भी बताया गया है। सूतक वाले के घर में मुनिराज आहार नहीं लेते हैं।

नोट—पुत्र या पुत्री के मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने पर जन्म पत्रिका बनाते समय ज्योतिषी अरिष्ट बताते हैं। जैन विधि से उसकी शान्ति निम्न प्रकार करना चाहिए—

मूल शान्ति—यदि मूल या उसके समान नक्षत्रों में पुत्र-पुत्री हों तो उस नक्षत्र की शांति हेतु निम्नलिखित 101 माला का घर में कोई व्यक्ति या अन्य किसी के द्वारा जप करा लें। यह विधि जन्म से 28वें दिन जब वही नक्षत्र आता है, तब की जाती है। इस दिन चौंसठ ऋद्धि मण्डल विधान पूजा कर लें। इसके तीन-चार दिन पूर्व से जप कर लें।

जप मंत्र—ॐ ह्रीं अर्हं असि आ उ सा मूल नक्षत्रोत्पन्न पुत्र-पुत्री संबंधी सर्वारिष्ट निवारणं कुरु कुरु स्वाहा।

घर का प्रसूति स्थान 45 दिन तक अशुद्ध रहता है। 45वें दिन नवजात शिशु को मंदिर ले जावें। वहाँ जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने शिशु की माता अपने शिशु को नीचे सुला दें और गृहस्थाचार्य या अन्य कोई व्यक्ति नव बार णमोकार मंत्र उसके कानों में सुनावें। बालक को उसी समय अष्ट मूलगुण (पाँच उदम्बर और तीन मकार का स्थूलरूप से त्याग) धारण कराकर जैन बनावें। इस त्याग की जिम्मेदारी बालक के विवेकशील होने तक माता-पिता एवं परिवार की रहती है।

यदि कोई दिगम्बर मुनि-आर्यिका आदि गुरुजन विद्यमान हों तो उनके मुखारविंद से णमोकार मंत्र सुनवाएं एवं अष्टमूलगुण भी गुरु से ग्रहण करावें।

नामकरण—"सहस्रनामभागी भव, विजयनामाष्टसहस्रभागी भव, परमनामाष्टसहस्रभागी भव।' इन मंत्रों से आशीर्वाद दिया जावे। अनेक नाम लिखकर किसी से एक चिट उठवाने से भी नाम का निर्णय हो सकता है।

नाम घोषित करने के समय, ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अमुक बालकस्य नामकरणं करोमि। अयं आयुरारोग्यैश्वर्यवान् भवतु भवतु झौं झौं असि आ उसा स्वाहा।' मंत्र पढ़ा जावे।

1.9 अष्टम बहिर्यान संस्कार—

यह संस्कार लोक में प्रसिद्ध सूर्य-दर्शन (सूरज का मुहूर्त) के समान है। इसमें जैनेतर जनता सूर्य व कूप पूजा आदि करती है। इस क्रिया को जन्म से लगभग 15 से 45 दिन के भीतर कर लेते हैं, जबकि 2, 3 या चौथे माह में किये जाने का शास्त्र में उल्लेख है। इसके आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रांति भागी भव, यौवराज्य-निष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव।' बालक को जिनालय में दर्शन कराते समय 'ॐ नमोऽर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्र प्रतिमा दर्शने अस्य बालकस्य दीर्घायुष्यं आत्मदर्शनं च भूयात्' यह मंत्र पढ़ें।

1.10 नवमां निषद्या संस्कार—

पाँचवें माह में बालक को बैठाने की क्रिया की जाती है। उस समय पूर्वमुख कर सुखासन में बैठावें। नीचे लिखे आशीर्वादसूचक खास मंत्र पढ़ें—

'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासन भागी भव।'

1.11 दशवां अन्नप्राशन संस्कार—

जन्म से 7, 8 या नवमें माह में अन्न आहार बालक को कराना चाहिए। इसके पहले अन्न देने से स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। लीवर आदि के रोग इसी के परिणामस्वरूप होते हैं। इसके खास मंत्र ये हैं—

'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।'

1.12 ग्यारहवाँ पादन्यास अथवा गमन संस्कार—

इस गमन विधि का उल्लेख आदिपुराण में नहीं है। परन्तु त्रिवर्णाचारादि संस्कार ग्रंथों में इस संस्कार की पूर्ण विधि पाई जाती है। अतएव इस विधि का लिखना भी परमावश्यक है।

यह संस्कार नवमें महीने में किया जाता है। जिस दिन गमन करने योग्य नक्षत्र वार और योग हो, उसी दिन यह संस्कार करना चाहिए।

प्रथम ही बालक का पिता पहले के समान श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा होम करे। बालक को वस्त्रालंकारों से विभूषित करें। उस मंडप में किनारे-किनारे चारों ओर एक धुला हुआ वस्त्र इस प्रकार बिछावे कि जिसमें वेदी तथा श्रावकादि सज्जनजनों के बैठने का स्थान बीच में आ जाये अर्थात् वेदी और सज्जनों के बैठने का स्थान के चारों ओर परिक्रमारूप से वह वस्त्र बिछावे। यह वस्त्र पूर्व दिशा की ओर से बिछाना प्रारंभ करें और दक्षिण उत्तर पश्चिम की ओर होता हुआ पूर्व दिशा में ही समाप्त करें।

अनन्तर पिता उस बालक के दोनों हाथ पकड़ अग्निकुण्ड की पूर्व दिशा में उत्तर दिशा की ओर मुख कराकर उस बालक को उस बिछे हुए वस्त्र पर खड़ा करे तथा "ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते महावीराय चतुस्त्रिंशदतिशय-युक्ताय बालकस्य पादन्यासं शिक्षयामि तस्य सौख्यं भवतु भवतु ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर उस बालक का दायां पैर आगे बढ़ावे। फिर इसी प्रकार उस बालक के दोनों हाथ पकड़े हुए उसी वस्त्र पर उसे चलाता जाये। पूर्व दिशा समाप्त होने पर दक्षिण की ओर मुड़ जाये। दक्षिण से पश्चिम उत्तर की ओर होता हुआ फिर पूर्व की ओर आ जाये।

इसी प्रकार तीन प्रदक्षिणा करा देवे। ध्यान रहे कि प्रदक्षिणा देते समय अग्निकुण्ड बालक के दायें हाथ की ओर रहेगा।

प्रदक्षिणा दे चुकने पर बालक से श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करावे तथा अग्नि गुरु और वृद्धजनों को भी नमस्कार करावे।

1.13 बारहवाँ वर्ष वर्धन (व्युष्टि) संस्कार—

यह क्रिया बालक के एक वर्ष का होने पर करें। इस दिन मंदिर में पूजा विधान करावें। बालक को मंदिर भेजें। उसका जन्म दिवस मनावें। बालक को इन मंत्रों से आशीर्वाद देवें।

"उपनयन जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव।'

1.14 तेरहवाँ चौल संस्कार—

यह बालक के पाँच वर्ष पूर्ण होने पर होता है। दो-तीन वर्ष में भी यह क्रिया की जा सकती है। कहीं-कहीं 45 दिन में भी मुण्डन कराने की परंपरा है तथा कुछ परिवारों में 1 वर्ष के अंदर ही बच्चे का मुण्डन करा लेते हैं एवं कहीं-कहीं तीर्थों पर ले जाकर भी मुण्डन कराते हैं, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ पर बच्चों के मुण्डन कराने से उनकी विद्या, बुद्धि का खूब विकास होता है। इसके मुहूर्त सोम, बुध, शुक्रवार, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 13 तिथि, ज्येष्ठा, मृगशिरा, चित्रा, रेवती, हस्त, स्वाति, पुनर्वसु, पुष्य, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी नक्षत्र हैं। खास आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयन मुँडभागी भव, निर्ग्रंथमुँडभागी भव, निष्क्रांतिमुँडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, सुरेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्य केश भागी भव, आर्हन्त्य-केशभागी भव।' केश निकल जाने के बाद चोटी के स्थान पर केशर से स्वस्तिक बनावें। इसी समय कर्णछेदन क्रिया भी करते हैं।

1.15 चौदहवाँ लिपि संख्यान संस्कार—

यह पाँच वर्ष पूर्ण होने पर घर में या पाठशाला में सोम, बुद्ध, शुक्र, शनिवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, चित्रा, अनुराधा नक्षत्र में तथा 2, 3, 5, 6, 10, 11, 12 तिथि के मुहूर्त में करें। जिन मंदिर में या घर पर पूजा के बाद यह क्रिया करें। सर्वप्रथम "ॐ और ॐ नमः सिद्धेभ्यः" बालक से पट्टी पर लिखावें और इनका उच्चारण करावें। आशीर्वाद के विशेष मंत्र निम्न प्रकार हैं—

"शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थसंबंधपारगामी भव।' बालक को लिपि पुस्तक दी जावे।

नोट— वर्तमान में 2-3 वर्ष के बालक पर भी यह संस्कार कराये जाते हैं क्योंकि बच्चों को अब 2-3 वर्ष की उम्र में स्कूल भेजे जाने की परम्परा हो गई है।

1.16 पन्द्रहवाँ उपनयन संस्कार—

आठ वर्ष की उम्र के बालकों में यह यज्ञोपवीत संस्कार रवि, सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तरात्रय, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, मूल, रेवती, मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा, आर्द्रा, पूर्वात्रय इन वार व नक्षत्रों में करें। रक्षाबंधन के दिन भी सामूहिक रूप में यह क्रिया की जाती है। इसके आशीर्वाद मंत्र इस प्रकार हैं—

'परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव,

परमार्हन्त्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव।'

यज्ञोपवीत पहनने का मंत्र— ॐ नमः परमशांताय शान्तिकराय पवित्रीकृताहँ रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।

यज्ञोपवीत का उद्देश्य— अष्टमूलगुण (स्थूल रूप से पाँच पाप का त्याग और मद्य, मांस, मधु का त्याग) अभ्यासरूप में विद्याभ्यास के काल में ग्रहण कर उनके चिन्हरूप में यज्ञोपवीत धारण करना है।

1.17 सोलहवाँ व्रतावतरण संस्कार—

पहले गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में विद्यार्थी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याभ्यास करते थे। विवाह के पूर्व अध्ययन पूर्ण होने तक सादा भोजन और सादगीपूर्ण रहन-सहन व्रत चर्या का उद्देश्य है।

1.18 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-मानव जीवन निर्माण में संस्कार कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) दस ☐
(ख) बारह ☐
(ग) सोलह ☐

प्रश्न 2-प्रीति संस्कार गर्भ के दिन से कौन से महीने में दिया जाता है ?

(क) पाँचवें महीने में ☐
(ख) दूसरे महीने में ☐
(ग) तीसरे महीनें में ☐

प्रश्न 3-नवें महीने में कौन सा संस्कार किया जाता है ?

(क) सुप्रीति संस्कार ☐
(ख) मोद संस्कार ☐
(ग) धृति संस्कार ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-नामकर्म संस्कार जन्म के कितने दिन बाद किया जाता है ?

प्रश्न 2-अन्न प्राशन्न संस्कार कब करना चाहिए और इसके मंत्र कौन से हैं ?

प्रश्न 3-यज्ञोपवीत पहनने का मंत्र लिखें ?

प्रश्न 4-यज्ञोपवीत धारने का उद्देश्य क्या है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-षोडश संस्कारों के नाम बताते हुए किन्हीं तीन संस्कारों का वर्णन करें।

पाठ-2 – बहत्तर कलाएँ एवं चौंसठ लिपियाँ

2.1 जीवन को ज्ञान–विज्ञानमय सहज, सरल, सुन्दर एवं रस पूरित बनाने के लिए गहन तत्त्वज्ञान के साथ–साथ कला का ज्ञान होना अनिवार्य है। संसारी जीव प्रतिदिन के तनावपूर्ण व्यस्त जीवन को लालित्य कला के माध्यम से सहज–सरल–सुन्दर–सरसरूप बनाते हैं। संगीत आदि कला से तनाव, मानसिक रोग, शारीरिक रोग दूर होने के साथ मनोरंजन होता है एवं वातावरण परिशुद्ध होता है। इसलिये जब से मानव संस्कृति सभ्यता है तब से कला का प्रचलन सततरूप से प्रवाहमान है।

2.2 गृहस्थावस्था में भगवान ऋषभदेव द्वारा शिक्षण—

प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने के बाद ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल (चतुर्थ काल, सतयुग) में ऋषभनाथ भगवान ने गृहस्थावस्था में ब्राह्मी को अक्षर–लिपि–कला और सुन्दरी को अंक–लिपि–कला तथा भरत, बाहुबली आदि पुत्रों को अर्थशास्त्र, राजनीति, नाट्य आदि कलाओं का प्रशिक्षण दिया था। इसका वर्णन आदिपुराण में निम्न प्रकार पाया जाता है–

इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेम पट्टके।
अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवी सपर्यया।।103।।
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्।
उपादिशल्लिपि संख्यास्थानं चाङ्कैरनुक्रमात्।।104।।

भगवान ऋषभदेव ने ऐसा कहकर तथा उन्हें बार–बार आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर दोनों हाथों से अ आ आदि वर्णमाला उन्हें लिपि (लिखने का) उपदेश दिया और अनुक्रम इकाई, दहाई आदि अंकों के द्वारा उन्हें संख्या के ज्ञान का भी उपदेश दिया। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने दाहिने हाथ से वर्णमाला और बायें हाथ से संख्या लिखी थी।

ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्।
सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम्।।105।।
आकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्।।106।।
अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासुसंततताम्।
संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चिताम्।।107।।
समवादीधरद् बाह्मी मेधाविन्यति सुन्दरी।
सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्।।108।।

तदन्तर जो भगवान के मुख से निकली हुई है, जिसमें "सिद्धं नमः" इस प्रकार का मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर और व्यंजन के भेद से भेदों को प्राप्त है, जो समस्त विद्याओं में पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरों की उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरों से व्याप्त है और जो शुद्ध मोतियों की माला के समान है ऐसे अकार को आदि लेकर हकार पर्यंत तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावली को बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्री ने धारण किया और अतिशय सुन्दर सुन्दरी देवी ने इकाई, दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणितशास्त्र को अच्छी तरह धारण किया।

मानवीय सभ्यता संस्कृति एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए शिक्षा का योगदान सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण अग्नि से संस्कारित होकर, विशुद्ध, चमकदार, मूल्यवान एवं बहुउपयोगी हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य शिक्षा द्वारा सुसंस्कृत होकर विशुद्ध, ज्ञानवान, तेजवान, चारित्रवान एवं बहुआयामी हो जाता है। नीतिकारों ने बताया है—

''विद्या-विहीना पशुभिः समानाः''

विद्या से हीन मनुष्य पशु के समान है। मनुष्य को पशु–स्तर से ऊपर उठाकर मानव, महामानव एवं भगवान् बनने के लिए विद्या की नितान्त आवश्यकता है।

2.3 भोग भूमि की व्यवस्था—

भोगभूमिज मनुष्य स्वभाविक, अनुकूल परिस्थिति एवं सुलभ प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण जीवन क्षेत्र में विशेष संदर्भ नहीं करते थे। वे लोग स्वभावतः पूर्वजन्म के संस्कार से सदाचारी नीतिवान थे। उस समय में सामाजिक राष्ट्रीय संगठन भी नहीं था।

(1) सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्रियों के कारण, (2) सामाजिक राष्ट्रीय आदि संगठन के अभाव के कारण, (3) स्वाभाविक नैतिक एवं सदाचार के कारण, (4) जीवन क्षेत्र में विभिन्न संघर्षों के अभाव के कारण भोगभूमि काल में दूसरों से प्राप्त शिक्षा की विशेष आवश्यकता न होना स्वाभाविक भी था।

2.4 कर्मभूमि की परिस्थितियाँ—

कर्मभूमि प्रवेश के प्राथमिक चरण में भोगभूमि की समस्त परिस्थिति परिवर्तित हो चली। उस समय में काल, परिस्थिति परिवर्तन के साथ–साथ सहज प्राप्त जीवनोपयोगी सामग्री ह्रास होती चली गई। स्वतन्त्रता पूर्ण, व्यक्तिगत जीवन समाप्त होकर सामाजिक जीवन क्रमशः वृद्धिंगत हो रहा था। इस परिस्थिति में मनुष्य को नैतिक, सदाचारी, ज्ञानी, संगठन प्रिय एवं युगानुकूल आगे अग्रसर होने के लिये शिक्षा की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य थी। उस काल के इस भूखण्ड के महाज्ञानी, दूरदृष्टि सम्पन्न ऋषभदेव ने उपरोक्त दृष्टिकोण को लेकर शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए अपने घर (या परिवार) से ही प्रारम्भ किया, क्योंकि व्यक्ति से, परिवार से, समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है। इसलिए व्यक्ति तथा परिवार को शिक्षित, सभ्य, नैतिक बनाना ही समाज एवं राष्ट्र को शिक्षित, नैतिक बनाना है।

भगवान आदिनाथ के दो पुत्रियाँ एवं सौ पुत्र थे। जब ब्राह्मी एवं सुन्दरी शैशव अवस्था का अतिक्रम करके कुमारी अवस्था में पदार्पण कर रही थीं तब ऋषभदेव ने दोनों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए योग्य पात्र समझकर दोनों को विद्या शिक्षा प्रदान की। ब्राह्मी कुमारी को आदिनाथ ने 'अ, आ' आदि स्वर–व्यंजनात्मक वर्णमाला की पद्धति सिखाकर अक्षर विद्या सिखलायी। सुन्दरी को 1, 2 आदि संख्या के माध्यम से अंक विद्या सिखलायी। इसी प्रकार अत्यन्त ही प्राचीन काल से स्त्री शिक्षा के साथ–साथ अंकाक्षर विद्या प्रारम्भ हुई। वह काल आधुनिक भाषा में कहने पर प्रागैतिहासिक काल होगा जो कि ईसा पूर्व अनेक अरबों–खरबों वर्ष पहले है। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि अंकाक्षर विद्या कुछ हजार वर्ष पहले प्रारम्भ हुई। परन्तु जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि वाङ्मय के अध्ययन से सिद्ध होता है कि अंकाक्षर विद्या का प्रारम्भ अत्यन्त ही प्राचीन काल में हुआ है।

2.5 लिपि के बारे में आधुनिक मत—

वर्तमान संसार में प्रायः चार सौ प्रधान लिपियाँ प्रचलित हैं। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार ईसा पू. 100वीं सदी में वर्णमालात्मक लिपियाँ प्रारम्भ हुईं। आधुनिक विद्वानों का मत है कि 25000 वर्ष पूर्व 'क्रो. मेगनाल्' मानव गुफा में

रहते थे एवं गुफा की दीवारों में चित्र बनाते थे। इस चित्र के माध्यम से ही लिपियों का प्रारम्भिक सूत्रपात हुआ। 10,000 वर्ष पहले सभ्य मानव का विकास हुआ। एशिया के पश्चिमी तट पर ईसा पूर्व 2000 में 'सेमेटिक' भाषा परिवार की एक अक्षरमालात्मक लिपि उत्पन्न हुई जो कि प्राचीनतम लिपि है। 1000 वर्ष ईसा पूर्व में व्यंजनात्मक या वर्ण मालात्मक लिपिरूप 'सेमेटिक लिपि' परिवर्तित हो जाती है। प्राचीन 'सुमेरी लिपि' परिवर्तित होकर ईसा पूर्व 800 में ब्राह्मी लिपिरूप में परिवर्तित हुई। इस ब्राह्मी लिपि से ही पूर्ण भारतीय एवं तिब्बती सिंहली आदि लिपियाँ उत्पन्न हुईं। आधुनिक विज्ञान के मतानुसार सर्वप्रथम चित्रलिपि हुई। उसके उपरान्त लिपि क्रम विकसित होकर भाव चित्रलिपि में परिणमन हुए। काल–क्रम से परिवर्तित संवर्द्धित होकर भाव चित्रलिपि ध्वनि संकेतरूप में परिणमन हो गई। अनेक काल परिवर्तन के बाद जो विशेष परिवर्तितरूप हुआ, वह अक्षरात्मक लिपि है। यह अक्षरात्मक लिपि ही सभ्य भाषा के लिए बीज स्वरूप है। समस्त साहित्यरूपी विशाल भवन इस अक्षरात्मक ईंट से निर्मित हुआ है। यह अकारात्मक लिपि ही संयुक्त होकर अन्तिम विकसित लिपि वर्णमालात्मक लिपि में परिवर्तित हो जाती है।

2.5.1 लिपि निर्माता—हिन्दू धर्म की अपेक्षा 'ब्रह्मा' ब्राह्मी लिपि का निर्माता है। प्राचीन मिस्र की अपेक्षा 'थोत् देव' लिपि का निर्माता है। बेबीलोन की अपेक्षा 'नेवी देवता' लिपि का निर्माता है। प्राचीन यहूदी की अपेक्षा पैगम्बर 'मूसा' लिपि का निर्माता था। इस्लाम धर्म की अपेक्षा 'अल्लाह' ने लिपि निर्माण करके आदम को समर्पण किया था। यूनानी लोग 'हेर्मेस' को लिपि का निर्माता मानते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा आदिनाथ, आदिब्रह्मा, ऋषभदेव ने लिपि की शिक्षा पहले ब्राह्मी कुमारी को दी थी।

उपरोक्त आधुनिक शोध से एवं प्राचीन साहित्यों के मंथन से यह निष्कर्ष निकलता हैं कि प्रचलित सम्पूर्ण वर्णमालात्मक लिपि में ब्राह्मी लिपि सबसे प्राचीनतम लिपि है। लिपि विद्या से ही मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता विशेष उन्नत हुई हैं।

2.6 गणित विद्या का प्रारंभ—

आधुनिक गणितज्ञ एवं विद्वान् लोग मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि अनेक विद्या एवं गणित का प्रारम्भ सर्वप्रथम भारत में हुआ था। शून्य एवं 1, 2, 3 आदि 9 तक इकाई संख्याओं का आविष्कार भारत में हुआ था। इटली, ग्रीक आदि देशों में चित्र, संकेत लिपि में संख्या एवं गणित विद्या का प्रचलन था। भारतीय पद्धति के अनुसार जिस वृहत्तम संख्या को आधा लाइन में लिख सकते हैं उसको इटेलियन के अनुसार लिखने पर आठ–दस लाइन अथवा आधा–एक पृष्ठ लगेगा।

2.7 सर्वप्रथम वाङ्मयारंभ एवं उसका स्वरूप—

न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा।
ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत्।।209।।

आ० पु० पर्व 16 पृ० 356

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेव ने सबसे पहले उन पुत्रियों के लिये वाङ्मय का उपदेश दिया था।

सुमेधसावसंमोहादध्येषातां गुरोर्मुखात्।
वाग्देव्याविव निश्शेषं वाङ्मयं ग्रंथतोऽर्थतः।।220।।

अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओं ने सरस्वती देवी के समान अपने पिता के मुख से संशय, विपर्यय आदि दोषों से रहित शब्द तथा अर्थरूप समस्त वाङ्मय का अध्ययन किया था।

पदविद्यामधिच्छन्दोविचितिं वागलंकृत्तिम्।
त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः।।221।।

वाङ्मय के जानने वाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं।

तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभूत् महत्।
यत्तत्परशताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत्।।222।।

उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेव का बनाया हुआ एक बहुत भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौ से अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर था।

छन्दोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरूपादिशत्।
उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदीदृशत्।।223।।

इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायों में छन्दशास्त्र का भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता, अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे।

प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकाद्वित्रिलघुक्रियाम्।
संख्यामथाधवयोगं च व्याजहार गिरांपतिः।।224।।

अनेक विद्याओं के अधिपति भगवान् ने प्रस्तार, नष्ट, उदिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग छन्दशास्त्र के छह प्रत्ययों का भी निरूपण किया था।

उपमादीनलंकारास्तन्मार्ग द्वयविस्तरम्।
दश प्राणानलंकारसंग्रहे विभुरभ्यधात्।।225।।

भगवान् ने अलंकारों का संग्रह करते समय अथवा अलंकार संग्रह ग्रंथ में उपमा, रूपक, यमक आदि अलंकारों का कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकाररूप दो मार्गों का विस्तार के साथ वर्णन किया था और माधुर्य, ओज आदि दस प्राण अर्थात् गुणों का भी निरूपण किया था।

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों की पदज्ञान (व्याकरणज्ञान) रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें और कलायें अपने आप ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं। इस प्रकार गुरु अथवा पिता के अनुग्रह से जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिये पात्रता को प्राप्त हुई थीं। वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयी थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थीं।

2.8 सर्वप्रथम अर्थशास्त्र राजनीति आदि की शिक्षा—

पुरुष शिक्षा

पुत्राणां च यथाम्नायं विनया दानपूर्णकम्।
शास्त्राणि ब्याजहारैवमानुपूर्व्या जगद्गुरुः।।128।।

जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये।

भरतायार्थं शास्त्रं च भरतं च ससंग्रहम्।
अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः।।129।।

भगवान ने भरत पुत्र के लिये अत्यन्त विस्तृत बड़े–बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था।

विभुवृषभसेनाय गीतवाद्यर्थं संग्रहम्।
गंधर्व-शास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परश्शतम्।।120।।

स्वामी वृषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसेन के लिए जिसमें गाना, बजाना आदि अनेक पदार्थों का संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं, ऐसे गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया था।

अनन्तर्विजयायाख्यद् विद्यां चित्रकलाश्रिताम्।
नानाध्यायाशताकीर्णां सकलाः कला।।121।।

अनन्त विजय पुत्र के लिए नाना प्रकार के सैकड़ों अध्यायों से भरी हुई चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओं का निरूपण किया।

विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत्।
अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः।।122।।

इसी अनन्तविजय पुत्र के लिये उन्होंने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। उस विद्या के प्रतिपादक शास्त्रों में अनेक अध्यायों का विस्तार था उसके अनेक भेद थे।

कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम्।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चारवेभगोचरम्।।123।।
तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्यारब्यसूनवे।
व्याचरब्यौ बहुधाम्नातैर ध्यायैरतिविस्तृतैः।।124।।

बाहुबली पुत्र के लिये उन्होंने कामनीति, स्त्री–पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा–हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े–बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाए।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यात्।
तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिषत् प्रजाः।।125।।

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जो–जो शास्त्र थे भगवान आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।

2.9 बहत्तर कलाओं के नाम तथा परिभाषा—

(1) लिखित, (2) पठित, (3) गणित, (4) वैधके, (5) नृत्य, (6) वक्तव्य, (7) वाथा, (8) वचन, (9) नाटक, (10) अलंकार, (11) दर्शन, (12) ध्यान, (13) धर्मकथा, (14) अर्थकला, (15) काम, (16) वाटकला, (17) वृद्धिकला, (18) शोचकला, (19) व्यापार कला, (20) नेपथ्य कला, (21) विलास, (22) नीति, (23) शकुन, (24) क्रीडन, (25) वितन्यात् , (26) हस्तताप, (27) द्यूतकला, (28) कुसुमकला, (29) इन्द्रजाल, (30) विनयकला, (31) स्नेह, (32) पानक, (33) संयोग कला, (34) हास्य, (35) सौभाग्य (36) प्रयोग, (37) गन्धर्व, (38) वस्तु, (39) वाणिज्य, (40) रत्न, (41) पात्र, (42) देशक, (43) भाषक, (44) विधाक, (45) विनय, (46) अग्नु, (47) दाध, (48) समस्त, (49) वर्ण, (50) हस्थि, (51) अष्टक, (52) पुरुष, (53) नारी, (54) भोज्य, (55) पक्ष, (56) भूमि, (57) लेषं, (58) कष्ट, (59) वृष, (60) छद्म, (61) सद्म, (62) हरल, (63) उत्तर, (64) प्रतिउत्तर, (65) शरीर, (66) सत्त्व, (67) साध, (68) धैर्य, (69) पत्रच्छेद, (70) चित्र, (71) भाण, (72) इर्या।

प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार की कलाएँ अपनी चरम सीमा पर पहुँची थीं। कलाओं का प्रचार–प्रसार, शिक्षा आदि भारतवर्ष में प्राचीन काल में बहुत ही उन्नत प्रकार का होता था। विशेष करके बालिकाएँ, महिलायें, संगीत, चित्र,

नृत्य आदि कलाओं में विशेष रुचि लेती थीं और पारंगत भी थीं। कुछ कुमारिकायें युद्ध–विद्या, अस्त्र–शिक्षा, अश्वारोहण आदि कलाओं में भी दक्ष थीं। बालक, युवक, पुरुष लोग विशेष करके युद्ध विद्या, मल्ल–युद्ध, रथ–चालन, रत्न परीक्षा आदि में दक्षता प्राप्ति के साथ–साथ नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओं में भी दक्षता प्राप्त करते थे। वर्तमान में प्राचीन सम्पूर्ण कलाओं का प्रचार–प्रसार शिक्षा आदि प्रभाव के साथ–साथ उनकी परिभाषा भी लोपप्रायः हो गयी है। इसीलिये उनकी परिभाषा प्राप्त करना भी कष्ट साध्य है। अतः यहाँ पर कतिपय कलाओं के बारे में ही वर्णन किया जा रहा है—

1. **लिखित**—भाषा को जिस माध्यम से अनेक प्रकार, फलक, पत्र, कागज आदि में लिपिबद्ध किया जाता है उस कला को लिखित कला या लिपि कला कहते हैं। जो लिपि अपने देश में आमतौर से चलती है उसे अनुवृत्त कहते हैं। लोग अपने–अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना कर लेते हैं उसे विकृत कहते हैं। प्रत्यंग आदि वर्णों में जिसका प्रयोग होता है उसे सामायिक कहते हैं और वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपि का ज्ञान किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं।

2. **नृत्य कला**—नृत्य के तीन भेद हैं तथा इसके अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं।

3. **नाटक**—गीत, नृत्य और वादित्र इन तीनों का एक साथ होना नाटक कहलाता है। श्रृंगार, हास्य, करुणा, वीर, अद्‌भुत, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त ये नौ रस होते हैं।

4. **संगीत**—जो कण्ठ, सिर और उरस्थल इन तीनों स्थानों से अभिव्यक्त होता था तथा नीचे लिखे सात स्वरों में समवेत रहता था। षड्‌ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर कहलाते हैं। जो द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीनों लयों से सहित था तथा अस्त्र और चतुरस इन ताल की दो योनियों को धारण करता था। स्थायी, संचारी, आरोही और अवरोही इन चार प्रकार के पदों में स्थित था। प्रातिपादिक तिड़न्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कार को प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी यह तीन प्रकार की भाषा जिसमें स्थित थी। धवैती, आर्षभी, षड्‌ज–षड्‌जा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्‌ज कैकशी और षड्‌ज मध्यमा ये आठ जातियाँ हैं अथवा गान्धारोदीच्या, मध्यमपंचमी, गान्धार पञ्चमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोदीच्या, कर्माखी, नन्दिनी और कैशिक ये दस जातियाँ हैं। संगीत इन आठ अथवा दस जातियों से युक्त था। प्रसन्नादि प्रसन्नान्त, मध्य प्रसाद और प्रसन्नाधवसान ये चार स्थायी पद के अलंकार हैं। निर्वृत, प्रस्थित, बिन्दु प्रेखोलित, तार–मन्द्र और प्रसन्न ये छः संचारी पद के अलंकार हैं। आरोही पद का प्रसन्नादि नाम का एक ही अलंकार है और अवरोही पद के प्रसन्नात तथा कुहर ये दो अलंकार हैं। इस तरह तेरह अलंकार हैं सो इन सब लक्षणों से सहित उत्तम संगीत है।

5. **वाद्य कला**—तन्त्री अर्थात् वीणा से उत्पन्न होने वाले तत, मृदंग से उत्पन्न होने वाला अवनद्ध, बाँसुरी से उत्पन्न होने वाला शुषिर और ताल से उत्पन्न होने वाला घन ये चार प्रकार के वाद्य हैं। ये सभी वाद्य नाना भेदों से सहित हैं।

6. **वक्तव्यकला**—वक्तव्य नाम की कला है। इसका दूसरा नाम उक्ति कौशल हैं स्थान, स्वर, संस्कार, विन्यास, काकु, समुदाय, विराम, सामान्य निहित, सामानार्थत्व और भाषा ये जातियाँ कही गयी हैं। इनमें से उरस्थल, कण्ठ और मूर्च्छा के भेद से स्थान तीन प्रकार का माना गया है। स्वर के षड्‌ज आदि सात भेद पहले कह ही आए हैं। लक्षण और उद्देश्य अथवा लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा संस्कार दो प्रकार का कहा गया है। पदवाक्य और महावाक्य आदि के विभाग सहित जो कथन है वह विन्यास कहलाता है। सापेक्ष और निरपेक्ष की अपेक्षा काकु दो भेदों से सहित है। गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू की अपेक्षा समुदाय तीन प्रकार का कहा गया है। किसी विषय का संक्षेप में उल्लेख करना विराम कहलाता है। एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना सामान्यनिहित कहा गया है। एक शब्द के द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन करना समानार्थता है। आर्य, लक्षण और मलेच्छ के नियम से भाषा तीन प्रकार की कही गयी

है। इनके सिवाय जिसका पद्यरूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं। ये सब जातियाँ कहलाती हैं। व्यक्तवाक्, लोकवाक् और मार्ग व्यवहार ये मातृकायें कहलाती हैं। इन सब भेदों के भी अनेक भेद हैं जिसे विद्यजन जानते हैं। इन सबसे सहित जो भाषण, चातुर्य है उसे वक्तव्यकला कहते हैं।

7. चित्रकला—नाना शुष्क और वर्जित के भेद से शुष्क चित्र दो प्रकार का कहा गया है तथा चन्दनादि के द्रव्य से उत्पन्न होने वाला आद्रचित्र अनेक प्रकार का है। कृत्रिम और अकृत्रिम रंगों के द्वारा पृथ्वी, जल तथा वस्त्र आदि के ऊपर इनकी रचना होती है। यह अनेक रंगों के सम्बन्ध से संयुक्त होता है।

8. पुस्तकर्म—क्षय, उपचय और सक्रम के भेद से पुस्तकर्म तीन प्रकार का होता है। लकड़ी आदि को छीलकर जो खिलौना आदि बनाया जाता है उसे क्षयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। ऊपर से मिट्टी आदि लगाकर जो खिलौने बनाये जाते हैं उसे उपचयजन्य पुस्तकर्म कहते हैं तथा जो प्रतिबिम्ब अर्थात् साँचे आदि गढ़कर बनाए जाते हैं उसे संक्रमजन्य पुस्तकर्म कहते हैं। यह पुस्तकर्म यन्त्र, निर्यन्त्र, सच्छिद्र तथा निश्छिद्र आदि के भेदों से सहित हैं अर्थात् कोई खिलौने यन्त्र चलित होते हैं और कोई बिना यन्त्र के होते हैं। कोई छिद्र सहित होते हैं कोई छिद्र रहित।

9. पत्रच्छेद—पत्रच्छेद के तीन भेद हैं—बुष्किम, छिन्न, अछिन्न सूई अथवा दन्त आदि के द्वारा जो बनाया जाता है उसे बुष्किम कहते हैं। जो कैंची से काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के सम्बन्ध से युक्त होता है उसे छिन्न कहते हैं। जो कैंची आदि से काटकर बनाया जाता है तथा जो अन्य अवयवों के सम्बन्ध से रहित होता है उसे अछिन्न कहते हैं। यह पत्रच्छेद क्रिया पत्र, वस्त्र तथा सुवर्णादि के ऊपर की जाती हैं तथा स्थिर और चंचल दोनों प्रकार की होती है।

10. माला निर्माण की कला—आर्द्र, शुष्क, तदुन्मुक्त और मिश्र के भेद से माला निर्माण की कला चार प्रकार की है। इसमें से गीले अर्थात् ताजे पुष्पादि से जो माला बनायी जाती है उसे आर्द्र कहते हैं। सूखे पत्र आदि से जो माला बनायी जाती है उसे शुष्क कहते हैं। चावलों के सींक अथवा जवाँ से जो बनाई जाती है उसे शुष्क कहते हैं। चावलों के सींक अथवा जवाँ से जो बनाई जाती है उसे तदुज्झित कहते हैं और जो उक्त तीनों चीजों के मेल से बनता है उसे मिश्र कहते हैं। यह माल्यकर्म रणप्रबोधन, व्यह–संयोग आदि भेदों से सहित होता है।

11. सुगन्धित पदार्थ निर्माणकला—योनिद्रव्य, अधिष्ठान, रस, वीर्य, कल्पना परिक्रम, गुण–दोष, विज्ञान तथा कौशल ये गन्ध योजना अर्थात् सुगन्धित पदार्थ निर्माणकला के अंग हैं। जिनसे सुगन्धित पदार्थ का निर्माण होता है ऐसे तगर आदि योनिद्रव्य हैं। जो धूपबत्ती आदि का आश्रय है उसे अधिष्ठान कहते हैं। कषायला, मधुर, चरपरा, कड़वा और खट्टा यह पाँच प्रकार का रस है। जिसका सुगन्धित द्रव्य में खासकर निश्चित करना पड़ता है। पदार्थों की जो शीतलता अथवा उष्णता है वह दो प्रकार का वीर्य है। अनुकूल–प्रतिकूल पदार्थों का मिलाना कल्पना है। तेल आदि पदार्थों का शोधना तथा धोना आदि परिकर्म कहलाता है। गुण अथवा दोष को जानना सो गुण–दोष विज्ञान है और परकीय तथा स्वकीय वस्तु की विशिष्टता जानना कौशल है। यह गन्ध योजना की कला स्वतन्त्र और अनुगत के भेद से सहित है।

12. रत्न—वज्र अर्थात् हीरा, मोती, वैडूर्य (नीलम), सुवर्ण, रजतायुध तथा वस्त्र–शंखादि रत्नों के लक्षण हैं।

13. आस्वाद्य विज्ञान—भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चुष्य के भेद से भोजन सम्बन्धी पदार्थों के पाँच भेद हैं। इनमें से जो स्वाद के लिये खाया जाये उसे भक्ष्य कहते हैं। यह कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से दो प्रकार का होता है। जो क्षुधा निवृत्ति के लिये खाया जाता है उसे भोज्य कहते हैं। इनके भी मुख्य और साधक की अपेक्षा दो भेद हैं–भोजन, रोटी आदि मुख्य भोज्य हैं और लस्सी, दाल, शाक आदि साधक भोज्य हैं। शीतयोग (शर्बत) जल और मद्य (मधुर रस) के भेद से पेय तीन प्रकार का कहा गया है। इन सबका ज्ञान होना आस्वाद्य विज्ञान है।

14. वस्त्र रंगना—वस्त्र पर धागे से कढ़ाई का काम करना तथा वस्त्र को अनेक रंग विरंग से रंगित करना वस्त्र कला है।

15. शिल्प कला—लोहा, हाथी दाँत आदि लाख, क्षार, पत्थर तथा सूत आदि से विभिन्न प्रकार के सुन्दर उपकरणों का निर्माण करना शिल्प कला कहलाती हैं।

16. गणित कला—मेय, देश, तुला और काल के भेद से मान चार प्रकार का है। प्रस्थ आदि के भेद से मेय के अनेक भेद हैं। वितस्ति, हाथ (फीट, मीटर, गज आदि) देशमान हैं। पल, छटाँक, सेर, ग्राम, किलोग्राम, मन, टन आदि तुलामान हैं। समय, घड़ी, घण्टा, सेकिण्ड, मिनट, दिन, सप्ताह, महीना, वर्ष आदि कालमान हैं। वह मान आरोह, परीणाह तिर्यंक गौरव और क्रिया से उत्पन्न होता है। यह सब गणित कला में गर्भित है।

17. भूति कला—बेल बूटा खिंचने की कला को भूतिकला कहते हैं।

18. निधि ज्ञान कला—गड़े हुए धन, दौलत, रुपया, चाँदी, रत्न आदि का ज्ञान करना निधिज्ञान–कला है।

19. व्यापार कला—विभिन्न प्रकार के क्रय-विक्रय वाणिज्य आदि के ज्ञान को व्यापार कला कहते हैं।

20. जीव–विज्ञान कला—विभिन्न प्रकार के जीवों का शोध–बोध करना जीव विज्ञान कला है।

21. चिकित्सा–विज्ञान कला—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की चिकित्सा को चिकित्सा विज्ञान कला कहते हैं।

22. विमोहन कला—विमोहन अर्थात् मूर्छा को विमोहन कला कहते हैं–(1) मायाकृत, (2) पीड़ा अथवा इन्द्रजालकृत, (3) मन्त्र तथा औषधि द्वारा विमोहन किया जाता है।

23. वादकला—मिथ्यादृष्टि, पाखण्डी, अज्ञानी, स्वार्थान्ध द्वारा प्रतिपादित कल्पित मिथ्या मतों को तर्क, युक्ति द्वारा स्याद्वाद, अनेकान्त द्वारा निरसन करना वाद कला कहलाती है।

24. क्रीड़ा कला—चेष्टा, उपकरण, वाणी और कला व्यासंग के भेद से क्रीड़ा चार प्रकार की है। (1) शरीर से उत्पन्न होने वाली क्रीड़ा चेष्टा है। (2) गेंद आदि से खेलना उपकरण है। (3) नाना प्रकार के सुभाषित नीतिवाक्य आदि कहना वाणी क्रीड़ा हैं। (4) विनोद प्रिय क्रीड़ा करना कला–व्यासंग क्रीड़ा है।

25. लोकज्ञता कला—आश्रित और आश्रय के भेद से लोक दो प्रकार का है। जीव और अजीव आश्रित है तथा पृथ्वी आदि उसके आश्रय हैं। इस लोक में जीव की विभिन्न अवस्था, गति, योनि में जन्म लेना, वृद्धि होना आदि लोकज्ञता कला है। विश्व के अन्तर्गत पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि को जानना भी लोकज्ञता कला हैं।

26. संवाहन कला—संवाहन कला दो प्रकार की है–एक कर्मसंश्रया और दूसरी शच्योपचारिका। (1) त्वचा, (2) माँस, (3) अस्थि, (4) मन। इन चारों को सुख पहुँचाने के कारण कर्मसंश्रया के चार भेद हैं—

(1) त्वचा संवाहन—जिस वाहन से केवल त्वचा को सुख मिलता है उसे त्वचा संवाहन कहते हैं। इसको मृदु अथवा सुकुमार कहते हैं।

(2) माँस संवाहन—जिससे चर्म अथवा माँस को सुख प्राप्त होता है उसे माँस संवाहन कला कहते हैं। यह मध्यम कला है।

(3) अस्थि संवाहन कला—जिससे त्वचा, माँस और अस्थि को सुख मिलता है उसको अस्थि संवाहन कला कहते हैं। यह प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) कहलाता है।

(4) मन संवाहन कला—स्पर्श, माँस, अस्थि के साथ–साथ सुमधुर संगीत से मन प्रसन्न हो जाना उसको मन संवाहन कला कहते हैं। इस संवाहन में निम्नलिखित दोष भी हैं–(1) शरीर के रोम को उद्वर्त्तन करना, जिस स्थानों में माँस नहीं है वहाँ अधिक दबाना, केशाकर्षण, अद्भुत भ्रष्ट प्राप्त, अमार्ग प्रयात, अतिभुग्नक, अदेशाहत, अत्यर्थ और अवसुप्रप्रतीपक। जो इन दोषों से रहित है योग्य देश में प्रयुक्त हैं तथा अभिप्राय को जानकर किया गया है, ऐसा सुकुमार संवाहन अत्यन्त

शोभास्पद होता है। जो संवाहन क्रिया अनेक कारण अर्थात् आसनों से की जाती है वह चित्त को सुख देने वाली शय्योपचारिका नामक क्रिया जाननी चाहिये। अंग-प्रत्यंग से सम्बन्ध रखने वाली कला को मन संवाहन कला कहते हैं।

27. वेष कौशल कला—स्नान करना, सिर के बाल गूँथना तथा उन्हें सुगन्धित आदि करना यह शरीर संस्कार वेष कौशल नाम की कला है।

28. पठित कला—विभिन्न भाषाओं में लिखित साहित्यों का अध्ययन करना पठित कला है।

29. वचन कला—विभिन्न भाषाओं के हितकर मनमोहक-प्रीतिकर वचन बोलना वचन कला है।

30. अलंकार कला—विभिन्न छन्द, राग-रागिनी से गाना (गीत), निर्माण करना अलंकार कला है अथवा विभिन्न प्रकार के हार, नूपुर, कुण्डल, किरीट आदि बनाने को अलंकार कला भी कह सकते हैं अथवा सुन्दर रूप सजावट करना, अलंकृत करना आदि को अलंकार कला कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य कलाओं के संदर्भ में जानना चाहिए।

सुन्दर मनोहर चातुर्यपूर्ण कार्य करने को भी कला कहते हैं। **जल वाय्यग्नि संयोग निरोधैश्च क्रिया कला।** जल, वायु और अग्नि के संयोग से उत्पन्न वाष्प के निरोध से अनेक क्रियाओं का करना 'कला' है।

2.10 चौंसठ लिपियों के नाम—

(1) ब्राह्मी, (2) खरोष्ठी, (3) पुष्करसारी, (4) अङ्गलिपि, (5) वङ्गलिपि, (6) मगधलिपि, (7) मंङ्गल्यलिपि, (8) अंगलीयलिपि, (9) शकारलिपि, (10) ब्रह्मवलिलिपि, (11) पारूष्यलिपि, (12) द्राविड़लिपि, (13) किरातलिपि, (14) दाक्षिण्यलिपि, (15) उग्रलिपि, (16) संख्यालिपि, (17) अनुलोपलिपि, (18) अवमूर्धलिपि, (19) दरदलिपि, (20) खाष्यलिपि, (21) चीनलिपि, (22) लूनलिपि, (23) हूनलिपि, (24) मध्याक्षरविस्तरलिपि, (25) पुष्पलिपि, (26) देवलिपि, (27) नागलिपि, (28) यक्षलिपि, (29) गन्धर्वलिपि, (30) किन्नरलिपि, (31) महोरगलिपि, (32) असुरलिपि, (33) अन्तरिक्षदेवलिपि, (34) मृगचक्रलिपि, (35) वायसरूतलिपि, (36) भौमदेवलिपि, (37) गरुड़लिपि, (38) उत्तरकुरुद्वीपलिपि, (39) अपरगोदानीयलिपि, (40) पूर्वविदेहलिपि, (41) उत्क्षेपलिपि, (42) निक्षेपलिपि, (43) विक्षेपलिपि, (44) प्रक्षेपलिपि, (45) सागरलिपि, (46) वज्रलिपि, (47) लेखप्रतिलेखलिपि, (48) अनपद्रुतलिपि, (49) शास्त्रावर्तलिपि, (50) गणनावर्तलिपि, (51) उत्पेक्षावर्तलिपि, (52) निक्षेपावर्तलिपि, (53) पादावर्तलिपि, (54) द्विरूत्तरपदसंधिलिपि यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपि, (55) अध्याहारिणी-लिपि, (56) सर्वरूतसंग्रणीलिपि, (57) विद्यानुलोभाविमिक्षितलिपि, (58) ऋषितपस्तप्तालिपि (ऋषियों के तप से तपी हुई लिपि) (59) रोचमाना लिपि (देखने में सुन्दर लगने वाली लिपि) (60) धरणीप्रेक्षणीलिपि, (61) गगनप्रेक्षणीलिपि, (62) सर्वोषधिनिष्यन्दा, (63) सर्वसारसंग्रहणीलिपि तथा (64) सर्वभूतरूपग्रहणीलिपि। इस प्रकार ये चौंसठ लिपियाँ होती हैं।

2.11 निष्कर्ष—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु तो रहा ही, साथ ही समस्त विद्याओं और कलाओं की उद्गम स्थली भी भारत ही है। इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अक्षर विद्या, अंक विद्या तथा विविध विद्यायें करोड़ों वर्ष पहले ही भारत में प्रदान कर, इस देश को विश्व गुरु के रूप में प्रतिष्ठापित कर इस देश की ध्वल कीर्ति समस्त विश्व में फैलायी।

2.12 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-भगवान आदिनाथ के कितने पुत्र थे ?

(क) पाँच ☐
(ख) पचास ☐
(ग) सौ ☐

प्रश्न 2-वर्तमान संसार में प्रधान लिपियाँ कितनी प्रचलित हैं ?

(क) सौ ☐
(ख) दौ सौ ☐
(ग) चार सौ ☐

प्रश्न 3-नाटक में कितने रस होते हैं ?

(क) पाँच ☐
(ख) सात ☐
(ग) नौ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भगवान ऋषभदेव ने पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी को कौन सी विद्या सिखाई ?

प्रश्न 2-जैनधर्म, हिन्दू धर्म, यहूदी एवं इस्लाम धर्म के अनुसार ब्राह्मी लिपि के निर्माता कौन है ?

प्रश्न 3-लिखित कला या लिपि कला किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-प्रसिद्ध चौंसठ लिपियों में से किन्हीं आठ के नाम लिखें ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-72 कलाओं के नाम बताते हुए किन्हीं पाँच कलाओं का वर्णन करें।

पाठ-3—छन्द विज्ञान एवं कतिपय छन्दों के प्रयोग

3.1 साहित्य रचना में जिस प्रकार रस, अलंकार, व्याकरण आदि आवश्यक अंग होते है उसी प्रकार "छंद" शास्त्र का भी साहित्य रचना में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य को दो भागों में पाया जाता है- एक गद्यरूप और दूसरा पद्यरूप। दोनों ही रचनाएं प्राचीन काल से चली आ रही है। पद्यात्मक रचना के पठन-पाठन में सुगमता होती है और संगीतगत मधुरता होने के कारण अशांत मन को भी उससे शांति की प्राप्ति होती है। इसीलिए इस पंचमकाल के सर्वज्ञ कहलाने वाले आचार्य कुंद-कुंद देव ने भी समयसार आदि पाहुड़ ग्रन्थों की रचना पद्य में की है क्योंकि पद्य में जो भावों का संक्षिप्तीकरण हो सकता है वह गद्य में संभव नहीं है।

संगीत एक ऐसी कला है, जो साधना के बल पर प्राप्त की जाती है। वस्तुतः संगीत भक्त के हृदय की भक्ति को प्रगट करने का एक सफल माध्यम है। संगीत एक ईश्वरीय नियामत है। स्वर-साधना से एक संगीतज्ञ प्रभु की उपासना करता हुआ एक आध्यात्मिक पुरुष के समान पवित्र मन और हृदय वाला बन जाता है। संगीत का उपयोग प्रारम्भ में भगवान की भक्ति के लिए ही होता था। बाद में विविध भावाभिव्यक्ति के लिए इसे उपयोग में लाया जाने लगा। भगवान के प्रति सर्वतोभावेन आत्म समर्पण होने के लिए इसका उपयोग किया जाता रहा है। संगीत के साथ गायी जाने वाली पद्यात्मक रचना छन्द शास्त्र के नियमानुसार ही होनी चाहिए।

कविवर वृन्दावन जी द्वारा विरचित "छन्दशतक" में १०० प्रकार के छंदों का वर्णन है। इस लघु पुस्तिका में विशेषता यह है कि छन्द के लक्षण में ही छन्द का नाम निहित है तथा उन लक्षण के पद्यों में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति भी हो जाती है। इसलिये यह कृति परिपूर्ण रोचक और सरस है।

3.2 छन्द उच्चारण के नियम—

लघु की रेखा सरल (।) है, गुरु की रेखा बंक (ऽ)।
इहि क्रम सौं गुरु-लघु परखि, पढ़ियौ छंद निशंक।।1।।
कहुँ-कहुँ सुकवि प्रबंध मंह, लघु को गुरु कहि देत।
गुरु हूँ को लघु कहत हैं, समुझत सुकवि सुचेत।।2।।

भावार्थ—हिन्दी छन्द-शास्त्र में कभी-कभी गुरु को लघु तथा लघु को गुरु मानकर पढ़ने की प्रथा प्रचलित है। यह बात संस्कृत भाषा के छन्दों के विषय में नहीं कही जा सकती। हिन्दी भाषा में कई शब्दों के मध्य कुछ वर्ण ऐसे भी होते है जिनका उच्चारण न लघु (ह्रस्व) रूप में होता है न गुरु (दीर्घ) रूप में; जिसे, संकेत द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ से ही इस ओर हिन्दी छन्दाचार्यों का ध्यान न जाने के कारण उसे केवल 'माध्यमिक स्वरोच्चार' कह सकते हैं और , फिर सत्य तो यह है कि वर्ण का लघुत्व और गुरुत्व उसके उच्चारण पर ही निर्भर है, सम्बन्ध बोलने वाले से है। जैसे **'इंद्र जिनिंद्र को गोद धरें चढ़े मत्तगयंद इरावत सोहैं'** सवैया के इस चरण में को और ढ़े, यद्यपि गुरुवर्ण है तथापि लघु उच्चारित किए जाते है और इसलिए इनकी एक-एक मात्रा ही समझी जावेगी।

3.3 आठों गण के नाम, स्वामी, फल तथा लक्षण—

तीन वरन को एक गन, लघु गुरु तैं वसु भेद।
तासु नाम, लच्छन सुनौ, स्वामी सुफल अखेद।।3।।

छन्द सवैया, मात्रा 31

मगन तिगुरु भूलच्छि लहावत, नगन तिलघु सुर शुभ फल देत।
भगन आदि गुरु इंदु सुजस, लघु आदि यगन, जल वृद्धि करेत।।

रगन मध्य लघु, अगिन मृत्यु, गुरुमध्य जगन, रवि रोग निकेत।
सगन अंत गुरु, वायु, भ्रमन, तगनंत लघु, नभ शून्य फलेत।।4।।

तीन-तीन वर्ण के एक-एक गण होते हैं, ये लघु और गुरु से मिलकर आठ भेदरूप हैं। इनके नाम, लक्षण, स्वामी और फल को उक्त सवैया में बताये गये हैं।

तीन गुरु (ऽऽऽ) को मगण कहते हैं इसका स्वामी पृथ्वी है और फल लक्ष्मी है। तीन लघु (।।।) को नगण कहते हैं इसका स्वामी सुर है और फल शुभ है। आदि गुरु (ऽ।।) को भगण कहते है इसका स्वामी चन्द्रमा है और फल सुयश है। आदि लघु (।ऽऽ) को यगण कहते है इसका स्वामी जल है और फल वृद्धि है। मध्य लघु (ऽ।ऽ) रगण है इसका स्वामी अग्नि है और फल मृत्यु है। मध्य गुरु (।ऽ।) जगण है इसका स्वामी सूर्य है और फल रोग है। अन्त गुरु (।।ऽ) सगण है इसका स्वामी वायु है और फल भ्रमण है। अन्त लघु (ऽऽ।) तगण है इसका स्वामी आकाश है और फल शून्य है। इन्हे ही आगे चार्ट में दिखलाया है।

चार्ट- आठों गण के नाम, स्वामी, फल तथा लक्षण

गण का संकेत चिन्ह	गण के नाम	लक्षण	स्वामी	फल	शुभाशुभ	उदाहरण
ऽऽऽ	म-गण	तीनों गुरु	पृथ्वी	लक्ष्मी	शुभ	राजाज्ञा
।।।	न-गण	तीनों लघु	सुर	शुभ	"	अमित
ऽ।।	भ-गण	आदि गुरु	चन्द्रमा	सुयश	"	पावण
।ऽऽ	य-गण	आदि लघु	जल	वृद्धि कर या आयु	"	जिनेन्द्र
।ऽ।	ज-गण	मध्य में गुरु	सूर्य	रोग	अशुभ	मदैव
ऽ।ऽ	र-गण	मध्य में लघु	अग्नि	मृत्यु	"	मालती
।।ऽ	स-गण	अंत में गुरु	वायु	भ्रमण	"	रजनी
ऽऽ।	त-गण	अंत में लघु	नभ	शून्य	"	दीनार

विशेषार्थ—गणों के नाम और लक्षण कण्ठस्थ करने के लिए **'यमाताराजभानसलगा'** इन दस अक्षरों के सूत्र को याद करना अच्छा रहता है। किहीं भी तीन वर्णों के गण की जांच करना हो तो वे जिस क्रम से लघु-गुरु के रूप में हों, उसी क्रम के तीन वर्ण उक्त सूत्र में से चुन लेना चाहिए उन तीन वर्णों में जो अक्षर प्रथम हो, उसी नाम का गण, उन जानने योग्य वर्णों का है, ऐसा समझना चाहिए। यह बात ऊपर के 'उदाहरण' कोष्ठक द्वारा सहज ही में समझी जा सकती

है। सूत्र के अन्त में जो 'लगा' यह दो वर्ण हैं, वे लघु और गुरु के लिए हैं। लघु की एक और गुरु की दो मात्राएं मानी जाती हैं। इस सम्बन्ध में एक श्लोक यह भी बहुत प्रसिद्ध एवं सरल है—

आदिमध्यावसानेषु, भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति, म नौ तु गुरु लाघवम्।।

आदि गुरु भगण (ऽ।।), मध्य गुरु जगण (।ऽ।), अंत गुरु सगण (।।ऽ) है। ऐसे ही आदि लघु यगण (।ऽऽ), मध्य लघु रगण (ऽ।ऽ), अंत लघु तगण (ऽऽ।) हैं, पुनः तीनों गुरु मगण (ऽऽऽ) और तीनों लघु नगण (।।।) होते हैं।

गणों के विषय में रचयिता के विचार –

मगन नगन भगनो यगन, शुभ कहियतु है येह।
रगन जगन सगनो तगन, अशुभ कहावत तेह।।
मनुज कवित की आदि में, करिये तहाँ विचार।
देव प्रबन्ध विषैं नहीं, इनको दोष लगार।।

मगण, नगण, भगण और यगण ये शुभ हैं। रगण, जगण, सगण और तगण ये अशुभ कहलाते हैं। मनुष्य के लिए कविता बनाते समय कविता आदि में इनका विचार करना चाहिए तथा भगवान् के चरित आदि के रचते समय इनका दोष नहीं होता है ऐसा समझना।

त्याग निरख नर कवित महं, अ-गन मनहि विलखाय।
आये सरन जिनंद के, निज-निज दोष विहाय।।
सुधा-सिंधु महं गरल कन, मिलत अमी व्है जात।
यह विचार गुरु ग्रंथ महं, गहन करी गन व्रात।।

3.4 आठ गणों के आठ छन्द—

गहत प्रतिग्या वृंद कवि, करि गुरु चरन प्रणाम।
अरथ सहित सब छंद के, परै अन्त में नाम।।
आठ गननि के छंद जे, तिनके गन जुत नाम।
छंद माहिं गर्भित रहैं, जिनमें जिन गुण ग्राम।।
स्यादवाद लच्छन सहित, जिनवाणी सुखकंद।
ताही को रस छंद में, प्रगट धरत भवि वृंद।।

इन छन्दों में यह विशेषता है कि छन्द के अन्त में छन्द का नाम तो श्लेष रूप में आया ही है, लेकिन कौन सा गण कितनी बार प्रयुक्त हुआ है, यह भी छन्द के आदि या मध्य में, कवि ने श्लेष द्वारा व्यक्त कर दिया है। समस्त छन्दों में भगवान जिनेन्द्र, दिगम्बर मुनि, जिनवाणी के प्रति हार्दिक प्रगाढ़ श्रद्धा तो निहित है ही, परन्तु यह भी प्रकट हुए बिना नहीं रहता कि कवि के इस परिश्रम पूर्ण प्रयास में कर्कशता या कर्ण-कटुता नहीं आ पाई है। सर्वत्र कोमलता, सरलता एवं आनंद की अनुभूति होती है तथा सौंदर्य का दृश्य सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

1. **तरलनयन छन्द—नगण,** सर्वलघु (।।।) वर्ण 12—

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में 12-12 वर्ण एवं चारों नगण हो उसे तरलनयन छन्द कहते हैं। जैसे उदाहरण—

चतुर नगन मुनि दरसत, भगत उमगि उर सरसत।
नुति-थुति करि मन हरषत, **तरल नयन** जल बरसत।।

2. **मोदक छन्द- भगण,** आदि गुरु (ऽ।।) वर्ण 12—

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में 12 वर्ण एवं सर्व भगण हों उसे मोदक छंद कहते हैं। जैसे—

भागन च्यार पदारथ पावत, दर्शन ज्ञान व्रतो तप भावत।
सो निहचै विवहार विनोदक, स्वर्ग पवर्ग लहै फल **मोदक**।।

3. **भुजंगप्रयात छन्द- यगण, आदि लघु (।ऽऽ) वर्ण 12—**

जिस छंद के प्रत्येक चरण में चारों यगण हों उसे भुजंगप्रयात कहते हैं। जैसे -

समौसृत्य की को कहै सर्व बातौं।
लखौ **चारु ये** ही अलौकीक जातौं।।
तहां पक्षियों का पती भी रहातौ।
तहां तैं कभी ना **भुजंग प्रयातौ**।।

4. **सारंगी छन्द तथा चित्रा छन्द-मगण,** सर्व गुरु (ऽऽऽ) वर्ण 15 -

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में पाँच-पाँच मगण हों उसे सारंगी या चित्रा छन्द कहते हैं। जैसे—

पांचों ही सौं नाता जोरे, तामैं **मग्ना** माचा है।
ताही सेती नाता तोरे, सो ही ग्याता सांचा है।।
आपा ही में सांचै राचै, आपाही को ह्वै रंगी।
सो ही वे वै आपा माहीं, **चित्रा** बाजा **सारंगी**।।

5. **मैनावली छन्द- तगण,** अन्त लघु (ऽऽ।), वर्ण 12—

जिस छन्द के चारों ही चरण में चार-चार तगण हों उसे मैनावली छन्द कहते हैं। जैसे—

च्यारों तरै के जिते देव के भेव,
जैनेंद्र ही की करैं, प्रीति सों सेव।
भैटारिवे की यही जासकी टेव,
मैं-नांव-लीनों मुझे तारि है देव।।

6. **लक्ष्मीधरा छन्द- रगण,** मध्य लघु (ऽ।ऽ), वर्ण 12—

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में चार-चार रगण हों उसे लक्ष्मीधरा छन्द कहते हैं। जैसे -

जग्ग में तग्ग जो चार घाती हरा,
राग संचार जाके न हौवे खरा ।
सो जिनाधीस निर्दोष सोभा भरा,
बाह्य आभ्यंतरे छंद **लक्ष्मीधरा** ।।

7. **तोटक छन्द-सगण,** अन्त गुरु (।।ऽ), वर्ण 12—

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में चार-चार सगण हों उसे तोटक छन्द कहते हैं। जैसे—

गन चारस भेद सभाथित ही,
तजि बैर प्रमोद भरैं हित ही।
जिन गंधकुटी जुत हैं जित ही,
मम **तोटक** लागि रह्यौ तित ही।।

8. **मोतीदाम छन्द**-जगण, मध्य गुरु (।ऽ।), वर्ण 12—

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में चार-चार जगण हों उसे मोतीदाम छन्द कहते हैं। जैसे—

जिनेसुर को मुद मंगल धाम। **जहां चहुं** देव जजंति ललाम।।
प्रलंवित द्वारनि मैं अभिराम। अमोलमणी जुत **मोतियदाम**।।

3.5 छन्द-प्रकरण—

छन्द दो प्रकार के होते है।- वर्णिक तथा मात्रिक। वर्णिक छन्दों में, प्रत्येक छन्द के प्रत्येक चरण (पाद) में कितने वर्ण होते हैं, इस बात पर विचार किया जाता है तथा गणों का प्रयोग भी इन्हीं छन्दों में किया जाता है। मात्रिक छन्दों में यह सब न होकर केवल मात्राओं पर ही विचार किया जाता है। तात्पर्य इतना ही है कि एक में वर्णों पर ध्यान दिया जाता है और दूसरे में मात्राओं पर।

इन्द्रवज्रा छन्द, वर्ण 11, प्र0 (2 त0, ज0, 2 गु0) -

नंदीश्वर द्वीप महाकहा है । चैत्यालये बावन जो तहाँ है ।।
अष्टाह्निका माहिं प्रमोद हूजै, जे **इन्द्रवज्रा** युध धारि पूजै ।।

उपेन्द्रवज्रा छन्द, वर्ण 11, प्र0 (ज0 त0 ज0, 2 गु0) -

जहाँ प्रतिष्ठादिक को अखाडो । तहां महानंद समुद्र ठाढो ।।
टालै सबी विघ्न दिगीश गाढो । **उपेन्द्रवज्रा** युध धारि ठाढो ।।

वसन्त-तिलका छन्द, वर्ण 14 प्र0 (त0 भ0 2 ज0, 2 गु0) -

श्री द्रोणजा जनकजादि रमा समानी ।
घेरें सभी भरत को रितुराज ठानी ।।
कीनों अनेक मन लोभन को उपायौ ।
तो भी **बसंत तिल**-काम नहीं हि आयौ ।।

चामर छन्द, वर्ण 15, प्र0 (र0, ज0, र0, ज0, र0) -

छत्र तीन सिंह पीठ पुष्प वृष्टि तापरं ।
अर्ध मागधी सुगी अशोक वृक्ष कावरं ।।
देव दुंदुभी अनूप देह की प्रभाव भरं ।
देखि देव देव पै ढुरंति वृंद **चामरं** ।।

नाराच छन्द, वर्ण 16 प्र0 (ज0, र0, ज0, र0, ज0, गु0)—

जजौं जिनँद चंद के पदारविंद चावसौं।
मुनिंद को सुदान दे, उमंग के बढ़ाव सौं।।
अभंग सात भंग रंग में पगो प्रभाव सौं।
सही उपाय सौं तरों **न-राच** भोग भाव सौं।।

स्त्रग्धरा छन्द, वर्ण 21, प्र0 (म0, र0, भ0, न0, 3 य0)—

तीनों रत्न त्रिवेनी-सुविमल-जल की धारा में जो नहावै ।
निश्चै घाती विघाती, करमज-मल को मूल से सो बहावै ।।
पावै चारौं अनंता, निजगुण अमलानंद वृंदा धरा है ।
ताकी काया अछाया अनुपम पग पै पुष्प का **स्त्रग्धरा** है ।।

शिखरिणी छन्द, वर्ण 17 प्र0 (य0,भ0, न0, स0, ल0, गु0)—

जहां कोई प्रानी चढत गुणथाने उपसमी।
गिराआवै नीचे सुमग महँ सम्यक्त्वहिं बमी।।
जहाँ द्वेधा धारा बहत निजभावें विपरिनी।
दही मीठाखाई वमन समये ज्यों **शिखरिनी**।।

शार्दूलविक्रीडित छन्द, वर्ण 19, प्र0 (म0, स0, ज0, स0, 2 त0, गुरु)—

मों सो जी सततं गुरुगन जती ये कर्मशत्रू टरे ।
सोई आप उपाय शीघ्र करिये, हो दीनबन्धु वरे ।।
आपी स्वर्ग-पवर्ग देत जन कों, रक्षा करो पीडितैं ।
आपी सर्व कुवादि जीति भगवन्**शार्दूल विक्रीडते** ।।

3.6 मात्रिक छन्द निरूपण

मात्रिक छन्दों में मात्राओं की ही गिनती होती है। लघु वर्ण की एक और गुरुवर्ण की दो मात्राएँ होती हैं। इस प्रकरण में वर्णों को लघु-गुरु न कहकर ह्रस्व-दीर्घ कहते हैं।

दोहा (अर्धसम)

इसके प्रथम- तृतीय चरणों में 13-13 और द्वितीय-चतुर्थ में 11-11 मात्राएँ होती हैं। यह अर्धसम वृत्त हैं -

नेमि स्वामि निरवान थल, शोभत गढ़ गिरनार।
वंदौं सोरठ देश में, **दोहाथ**-नि सिरधार।।

सोरठा (अर्धसम)

यह दोहे का उलटा होता है। इसके प्रथम-तृतीय चरणों में 11-11 तथा द्वितीय-चतुर्थ में 13-13 मात्राएँ होती हैं। यह अर्धसम वृत है—

शोभत गढ़ गिरनार, नेमि स्वामि निरवान थल।
दो हाथनि सिरधार, वंदौं **सोरठ** देश मैं।।

पद्धरी (डी) (सम)

इसके प्रत्येक चरण में 16-16 मात्राएँ होती है। अन्त में लघु होना चाहिए—

जिन-बाल छबी सचि लखी आय।
मन अडी खडी टकटकी लाय।।
उमग्यौ उमंग मन में न माय।
तब गद्द पद्द **पद्धरी** गाय ।।

रूप चौपई (चौपई) (सम)

इसके प्रत्येक चरण में 16-16 मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में जगण (।ऽ।) या तगण (ऽऽ।) कदापि न रखना चाहिए और दो गुरु ही होने चाहिए -

भवथित उघटित निकट रही है।
सुगुरु वचन जुत प्रीति गही है।।
बसत सुसंग वुरसंगत खोई।
सहज स-**रूप-चौप**-इमि होई।।

अडिल्ल (सम)

इसके प्रत्येक चरण में 21-21 मात्राएँ होती हैं—

कामिनि-तन-कांतार, काम जहां भिल्ल है ।
पंच-बान कर धरैं, गुमान अखिल्ल है।।
करै जगत जन जेर, न जाके ढिल्ल है।
शील बिना नहिं हटत, बड़ो ही **अडिल्ल** है।।

नरिन्द (नरेन्द्र) अथवा **जोगीरासा** (सम)

इसके प्रत्येक चरण में 28 मात्राएँ होती हैं तथा 16, 12 पर यति—

समकित सहित सुव्रत निरवाहैं, राजनीति मन लावै।
श्री जिनराज चरन नित पूजै, मुनि लखि भगति बढ़ावै।।
चार प्रकार दान नित देकै, सुर-पुर महल बनावै।
न्याय समेज प्रजा प्रतिपालै, सो **नरिन्द** सुख पावै।।

गीता (सम)

यह छंद 26 मात्रा का होता है । यति 14, 12 पर—

भविजीव हो, संसार है, दुख-खार-जल-दरयाव।
तसु पार उतरन को यहि, है एक सुगम उपाव।।
गुरु भक्ति को मल्लाह करि निज रूप सौं लव लाव।
जिनराज को गुन वृंद **गीता** यही मीता नाव।।

3.8 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-कविवर वृंदावन जी द्वारा रचित "छंद शतक" में कितने प्रकार के छंदों का वर्णन है ?

(क) पचास ☐ (ख) सौ ☐ (ग) डेढ़ सौ ☐

प्रश्न 2-छंद शास्त्र में गण कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) सात ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 3-भगण का स्वामी किसको बताया है ?

(क) पृथ्वी ☐ (ख) सूर्य ☐ (ग) चन्द्रमा ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मगण किसे कहते हैं ? इसका स्वामी और इसका फल क्या है ?

प्रश्न 2-सभी गणों का लक्षण बताने वाला श्लोक और उसका अर्थ लिखो ?

प्रश्न 3-भुजंगप्रयात छंद का लक्षण और उदाहरण लिखो ?

प्रश्न 4-इन्द्रवज्रा छंद में कितने वर्ण होते हैं ? उदाहरण देकर बताओ ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मात्रिक छंद किसे कहते हैं ? तीन मात्रिक छंद के नाम, लक्षण एवं उदाहरण लिखो ?

पाठ-4 – मानव क्लोनिंग

4.1 क्लोनिंग अर्थात् प्राणी प्रतिलिपीकरण—

किसी भी जीव के गुणों का निर्धारण उसकी इकाई कोशिकाओं के अंदर स्थित गुणसूत्रों के द्वारा होता है। विभिन्न विकसित प्राणी लैंगिक प्रजनन की विधि द्वारा अपनी संतानों को उत्पन्न करते हैं जिसमें नर एवं मादा की जनन कोशिकाओं के आधे-आधे गुणसूत्र मिलकर एक नयी रचना करते हैं जिसमें जनक माता-पिता के गुण मिले रहते हैं।

क्लोनिंग में मात्र नर अथवा मादा की सामान्य दैहिक कोशिकाओं के गुणसूत्र के द्वारा संतान उत्पन्न की जाती है जो कि स्वाभाविकरूप से अपने दाता (जनक) जैसी ही होती है।

अविकसित जीवों, पेड़-पौधों आदि में तो यह प्रक्रिया कायिक प्रजनन, अलैंगिक प्रजनन आदि के रूप में प्राकृतिकरूप से पायी ही जाती है परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों ने विकसित जीवों चूहों, भेड़ों एवं अब मनुष्यों तक को इस विधि से उत्पन्न करना शुरू कर दिया है।

4.1.1 क्लोन ; संतान या सहोदर—

क्लोनिंग की क्रिया में प्राणी की सामान्य कोशिकाओं को ही विभिन्न वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक पूर्ण जीव में विकसित किया जाता है अतः नया बना जीव एक तरह से उसी का एक हिस्सा अथवा जुड़वाँ कहा जा सकता है और शारीरिक उम्र के लम्बे अंतर के बाद भी उनकी (दाता एवं क्लोन) जीव वैज्ञानिक/आनुवंशकीय आयु भी एक समान ही मानी जा रही है। (सामान्य लैंगिक प्रजनन में विशिष्ट लैंगिक कोशिकायें अण्डाणु एवं शुक्राणु मिलते हैं।) इसी कारण इनके आपसी संबंध को माता-पिता से उत्पन्न पुत्र-पुत्री के स्थान पर दाता-क्लोन कहा जाता है।

4.1.2 क्लोनिंग की उपयोगिता—

इस तकनीक के द्वारा मानव के विभिन्न अंगों को प्रयोगशाला में ही विकसित किया जा सकता है जिसमें कई असाध्य रोगों को दूर करने में आसानी होगी। इसके अलावा इस तकनीक से विभिन्न बेकार जीनों को बदला जा सकेगा तथा बुढ़ापा भी रोका जा सकेगा। इसी चिकित्सकीय उपयोगिता को देखते हुये ही ब्रिटिश सरकार ने जनवरी 2001 में मानव क्लोनिंग की इजाजत दे दी है।

4.1.3 मानव क्लोनिंग के संभावित दुरुपयोग—

1. मानव अंगों का व्यापार आसान हो जायेगा। प्रयोगशालाओं में तैयार किये गये भ्रूणों में से आवश्यक अंगों को निकालकर चंद लोगों हेतु असंख्य भ्रूण असमय ही मार दिये जायेंगे। इस तरह से मुर्गीपालन, मत्स्य पालन, रेशम पालन की तरह मानव भ्रूण पालन अर्थात् मनुष्यों की खेती भी शुरू हो सकती है।

2. इस तकनीक (तथा जैव प्रौद्योगिकी) से जहाँ एक ओर अच्छे जीवों को जोड़कर महामानव बनाये जा सकते हैं वहीं दूसरी ओर बिगड़े जीवों के द्वारा महादानव भी बन सकते हैं।

3. इसके द्वारा अपराधी अपने हमशक्लों का निर्माण कर अराजकता उत्पन्न कर सकते हैं। शक्तिशाली लोग इस तकनीक से अपना और अपनों का नया साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। मनचाहे गुलामों को बनाने की नयी खतरनाक शुरुआत भी हो सकती है।

4.1.4 क्लोनिंग के दुष्परिणाम—

क्लोनिंग मूलतः एक अप्राकृतिक प्रक्रिया है। सरल जीवों से विकसित जीवों के विकास में लैंगिक प्रजनन का मुख्य योगदान रहा है अतः अलैंगिक/कायिक प्रजनन की यह अविकसित जीवों की क्षमता मनुष्य आदि विकसित

जीवों पर थोपना वैज्ञानिकरूप से प्रतिगामी क्रिया है जो नियमतः हानिकर ही होगी। क्लोनित प्राणियों (क्लोन्स) में यकृत फेफड़े और हृदयसंबंधी बीमारियाँ बहुत जल्दी पनपती हैं। ऐसा अनेक क्लोनित जीवों में देखा गया है।

चूंकि 26 दिसम्बर 2002 को जन्मी पहली मानव क्लोन की आनुवंशिक आयु दाता की उम्र 31 वर्ष के समान ही होगी अतः आशंका की जा रही है कि यह मानव क्लोन अपनी कम शारीरिक उम्र में ही अधिक आनुवंशिक आयु की होकर बूढ़ी हो जायेगी।

उपरोक्त आशंका इस समाचार से और भी पुष्ट होती है कि 14 फरवरी 2003 को दोपहर में साढ़े छह वर्ष की आयु में डॉली नामक क्लोन भेड़ असमय बुढ़ापे एवं बीमारी की चपेट में आकर काल-कवलित हो गई है। जबकि आमतौर पर भेड़ें इससे दुगुनी उम्र तक जीती हैं। इसी तरह क्लोन चूहे भी समय से पहले मर चुके हैं तथा 2 फरवरी 2003 को आस्ट्रेलिया की पहली क्लोन भेड़ भी मात्र 2 वर्ष 10 माह की आयु में अचानक मर गयी है।

4.2 सृष्टा, विज्ञान/क्लोनिंग तथा जैन धर्म—

संसार के विभिन्न धर्म यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि के विभिन्न जीवों की रचना एक विशिष्ट शक्ति भगवान के द्वारा होती है परन्तु इस क्लोनिंग क्रिया के द्वारा अब वैज्ञानिक ही विभिन्न जीवों को मनचाहा रूप देने लगा है जिससे ईश्वर के सृजन तथा लालन पालन की अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह लगता है। परन्तु इस संबंध में जैन धर्म की मान्यता अन्य धर्मों के बिल्कुल विपरीत तथा पूर्णतः वैज्ञानिक है। जैन धर्म भगवान के कर्तावाद का विरोध करता आ रहा है अतः इस नयी वैज्ञानिक घटना से जैन धर्म की मूलभूत मान्यता और भी पुष्ट ही हुई है।

4.3 जैन कर्मसिद्धांत तथा मानव क्लोनिंग—

जैन धर्मानुसार जीवन की विभिन्न क्रियाओं, रचनाओं तथा घटनाओं का नियंत्रण कर्मों के द्वारा होता है। विभिन्न जीवों को मिलने वाले अलग-अलग शरीर, आयु, गोत्र, सुख-दुख आदि का निर्धारण विभिन्न कर्म करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवन का पूर्ण संचालन कर्मों के द्वारा ही होता है। वस्तुतः कर्म तो मात्र परिस्थितियों का निर्माण करते हैं और उन कर्मों के सापेक्ष आचरण करना तो विभिन्न जीवों की आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है। आत्मा कर्मों के कारागार में बँधी अवश्य है परन्तु वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों पर नियंत्रण रख सकती है। कर्मों पर विजय पाना ही तो जिनधर्म है।

अब यहाँ सवाल यह है कि जब वैज्ञानिक ही मानव तथा अन्य जीवों के विभिन्न गुणों का निर्धारण करने लगे हैं तो फिर जैन कर्म सिद्धांत कहाँ से लागू होता है ? तो शरीर में किसी भी तरह का परिवर्तन करना किसी भी रूप में कर्म सिद्धांत को चुनौती नहीं है। उदाहरणार्थ अगर एक अपराधी किसी व्यक्ति का अंग भंग कर देता है या कोई व्यक्ति शल्य क्रिया के द्वारा अंग परिवर्तित करवा लेता है अथवा कोई मानसिक उपचार के द्वारा अपराधी प्रवृत्ति से छुटकारा पा लेता है या फिर जहर/दुर्घटना से असमय मर जाता है, तो ये सब कर्म सिद्धांत के लिये चुनौती नहीं माने जा सकते हैं। बस यही कार्य अब और भी व्यवस्थितरूप से परन्तु अप्राकृतिक, अनैतिकरूप से क्लोनिंग आदि के द्वारा वैज्ञानिक कर रहे हैं। एक समान मनचाहे जीवों को पैदा करने की बात भी बिल्कुल अधूरी है। एक जैसी शक्ल सूरत और शरीर बन जाने का यह अर्थ नहीं है कि उनका व्यक्तित्व और व्यवहार भी एक जैसा हो अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि अपराधी का क्लोन अपराधी तथा वैज्ञानिक का क्लोन वैज्ञानिक ही बने।

लोगों को लगता है कि क्लोनिंग के द्वारा किसी भी जीव को वैज्ञानिक बड़ी सुनिश्चित रीति से बना सकते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। पहली क्लोन भेड़ का जन्म इस संबध में किये गये 277 परीक्षणों की असफलता के बाद हुआ था तथा मानव क्लोनिंग के 100 में से एक या दो मामलों में ही सफलता मिली है।

जो जीव कई बार की असफलताओं के बाद बनते भी हैं तो वह दरअसल वैज्ञानिकों के द्वारा नहीं बनते हैं। वैज्ञानिक तो मात्र एक निश्चित शरीर रचना के अनुकूल परिस्थितियाँ मात्र देते हैं उनमें जीवन/आत्मा का आविर्भाव तो उनके वश के बाहर ही है।

4.4 आत्मा, पुनर्जन्म तथा क्लोनिंग—

क्लोनिंग सिर्फ शरीर के स्तर तक जुड़ी हुयी है जबकि आत्मा तथा पुनर्जन्म का अध्यात्म समझना वैज्ञानिकों और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की सीमित सीमाओं में संभव नहीं है।

आत्मा तथा पुनर्जन्म का आभास सत्यान्वेषी अहिंसक मानवों को होता है। इसे अभी वैज्ञानिक भी पूरे आत्मविश्वास तथा प्रमाणों के साथ नकार नहीं सके हैं जबकि इनके अस्तित्व के संबंध में संसार भर में असंख्य प्रमाण/घटनायें हर समय होती ही रहती हैं।

4.5 प्रौद्योगिकी तथा जैन धर्म—

जीवविज्ञान की आधुनिक विकसित शाखा जैव प्रौद्योगिकी में मानव जीनोम परियोजना, जैनेटिक अभियांत्रिकी तथा मानव क्लोनिंग आदि का अध्ययन, अन्वेषण किया जाता है। इसके नूतन अनुसंधानों के द्वारा जीवों के गुण सूत्रों पर स्थित जीवों (वंशाणुओं) के कई गुण धर्मों का पता चल रहा है। जीवों की विभिन्न प्रवृत्तियों- बुढ़ापा, अपराध, बीमारियों इत्यादि का नियमन भी इन वंशाणुओं से होता है तथा इनके परिवर्तन के द्वारा मनोवांछित जीवन बनाने का दावा वैज्ञानिक कर रहे हैं। जीनों तथा जेनेटिक कोड के इस गुणधर्म को ध्यान में रखते हुये ही सन् 1998 में जेनेटिक कोडों और कर्म परमाणुओं के बीच के संबंधों पर एक परिकल्पना दी गई थी जिस पर कुछ वैज्ञानिक व्यापक अनुसंधान कार्य भी कर रहे हैं।

पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि जीन तथा जेनेटिक कोड सर्वोपरि नहीं है तथा उन पर शारीरिक, पर्यावरणीय, आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियाँ भी नियंत्रण रखती हैं। जीवों के क्रियाकलाप उसके स्वयं के शरीर के साथ दूसरे जीवों के क्रियाकलापों तथा अन्य बाह्य पर्यावरणीय परिस्थितियों द्वारा संचालित होते हैं।

इन जीनों तथा इनको प्रभावित करने वाले उक्त अंग ही अंततः कर्म परमाणुओं की संभावना को सूचित करते हैं जिसके संबंध में वैज्ञानिक वर्ग फिलहाल पूर्णतः मौन हैं। अगर वैज्ञानिक जैन कर्म सिद्धांत को समझकर जीवों के विभिन्न कार्यों सच्चाई- झूठ, अहिंसा-अपराध, जीवदया-क्रूरता पर सतत अन्वेषण करें तो वह इस महान जैन सिद्धांत को सत्य सिद्ध पायेंगे।

4.6 निष्कर्ष—

मानव क्लोनिंग मनुष्य की उस स्वार्थी सोच की चरम परिणति है जिसमें अपने हित के लिए मिट्टी, पानी, हवा को प्रदूषित किया गया, पेड़-पौधों को खतरनाक स्तर तक काटा गया, दूसरे जीव-जन्तुओं—गाय/भैंस/बकरी/मछली/मुर्गी/कीड़े, मकोड़ों को बेरहमी से मारा गया और अब वह मुनष्यों तथा मनुष्यता को नष्ट करने पर आमादा है। यह तकनीक जैन धर्म के सिद्धांतों को तो चुनौती नहीं देती है परन्तु यह जीवों तथा मानवता के विरुद्ध होने के कारण चिन्ताजनक तथा चिन्तनयोग्य अवश्य है।

4.7 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-ब्रिटिश सरकार ने मानव क्लोनिंग की इजाजत किस सन् में दी ?

(क) सन् 1998 ☐
(ख) सन् 2001 ☐
(ग) सन् 2005 ☐

प्रश्न 2-कितने परीक्षणों की असफलता के बाद क्लोनिंग के द्वारा पहली क्लोन भेड़ का जन्म हुआ था ?

(क) 200 ☐
(ख) 100 ☐
(ग) 277 ☐

प्रश्न 3-किस सन् में जेनेटिक कोडों और कर्म परमाणुओं के बीच के संबंधों पर परिकल्पना दी गई ?

(क) सन् 1995 ☐
(ख) सन् 1998 ☐
(ग) सन् 2002 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-क्लोनिंग का अभिप्राय क्या है ?

प्रश्न 2-क्लोनिंग की उपयोगिता क्या है ?

प्रश्न 3-मानव क्लोनिंग में संभावित दुरुपयोग क्या हैं ?

प्रश्न 4-आत्मा, पुनर्जन्म तथा क्लोनिंग इनमें से वैज्ञानिकों ने किनमें सफलता प्राप्त की है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन कर्म सिद्धान्त तथा मानव क्लोनिंग के बारे में विस्तार से बताइए ?

पाठ-5 – दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता	दिगम्बर परम्परा की मान्यता
(1) महावीर पहले देवानंदा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में आये पुनः इन्द्र ने उनका गर्भपरिवर्तन करके रानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया।	(1) भगवान महावीर ने त्रिशला के गर्भ में ही अवतार लिया।
(2) बिहार प्रान्त के 'लिछवाड़' ग्राम में महावीर का जन्म हुआ था।	(2) महावीर का जन्म विदेह देश (वर्तमान बिहार प्रान्त) की कुण्डलपुर नगरी (वर्तमान नालंदा जिला) में हुआ था।
(3) वे माता-पिता एवं गुरु को नमस्कार करते थे।	(3) महावीर अपने माता-पिता, मुनि आदि किसी को भी नमस्कार नहीं करते थे। तीर्थंकर प्रकृति के नियमानुसार सभी तीर्थंकर केवल सिद्धों को नमन करते हैं और किसी को नहीं।
(4) यशोदा नामक राजकुमारी के साथ उनका विवाह हुआ और उनकी प्रियदर्शना नामक पुत्री थी। उसके पश्चात् राज्य संचालन कर वे दीक्षाधारण कर देवदूष्य वस्त्रों को पहनते थे और दीक्षा के दूसरे वर्ष में उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया था और वे अचेलक हो गये थे।	(4) महावीर ने 30 वर्ष की युवावस्था में दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की, वे बालब्रह्मचारी थे। महावीर अपनी माता के इकलौते पुत्र थे क्योंकि तीर्थंकर माता मात्र एक पुत्र को ही जन्म देती है।
(5) महावीर यत्र-तत्र ग्रामों में विहार करते रहे और सबसे वार्तालाप करते रहे। चंडकौशिक सर्प के काटने पर उनके पैरों से दूध की धारा निकल पड़ी, उनके शरीर पर कीलें ठोकी गईं।	(5) दीक्षा के बाद महावीर ने मौनपूर्वक विहार किया और 12 वर्ष की तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया।
(6) महावीर के ऊपर जगह-जगह तमाम नगरों में उपसर्ग हुआ। लोगों ने उन्हें बांधा, मारा, जेल में डाल दिया, उछालकर फेंक दिया, आग लगा दी.....इत्यादि।	(6) महावीर पर उज्जयिनी के अतिमुक्तक वन में ध्यानावस्था में रुद्र ने मात्र एक बार उपसर्ग किया और ध्यान के बल पर उपसर्ग को जीतकर महावीर तीर्थंकर बने। दिगम्बर परम्परानुसार कोई भी उपसर्गकर्ता तीर्थंकर के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता है, उपसर्ग उनके चारों ओर होता है, तीर्थंकर को कोई कष्ट नहीं हो सकता है। महावीर अपने जीवन में कभी बीमार नहीं हुए, क्योंकि तीर्थंकर के शरीर में प्रारंभ से अंत तक कोई रोग नहीं होता है।

(7) गोशालक ने भगवान महावीर पर तेजोलेश्या का प्रहार किया।	(7) गोशालक नामक कोई व्यक्ति भगवान महावीर के जीवनकाल में नहीं हुआ।
(8) भगवान महावीर ने दीक्षा के पश्चात् चातुर्मास किये।	(8) तीर्थंकर दीक्षा के पश्चात् वर्षायोग नहीं करते।
(9) श्वेताम्बर में दिगम्बर चित्र बनाते हुए उसके आगे पेड़ आड़ा कर देते हैं, सामने सर्प या आशीर्वाद का हाथ आड़ा करके नग्नता को ढक देते हैं।	(9) भगवान महावीर को दीक्षा लेने के पश्चात् नग्न दिगम्बर अवस्था में दिखाया जाता है।
(10) भगवान महावीर ने गौतम गणधर को निर्वाण जाने के समय अन्यत्र भेज दिया ताकि उनको वियोग का दुःख न हो।	(10) भगवान महावीर ने अपने निर्वाण काल की बेला में गौतम गणधर को अन्यत्र जाने का आदेश नहीं दिया क्योंकि वे तो पूर्ण वीतरागी थे।
(11) महावीर की माता ने 14 स्वप्न देखे।	(11) महावीर की माता ने 16 स्वप्न देखे जैसा कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता अपने गर्भ में तीर्थंकर के आने के पहले 16 स्वप्न ही देखती हैं।
(12) रानी त्रिशला के महावीर से पहले एक पुत्र नंदीवर्धन तथा पुत्री सुदर्शना थे अर्थात् महावीर से पूर्व उनके एक भाई और एक बहन थी।	(12) रानी त्रिशला के केवल एक ही पुत्र भगवान महावीर थे।
(13) महावीर का एक नाम वैशालिक भी माना है।	(13) किन्हीं भी ग्रंथों में भगवान महावीर का नाम वैशालिक नहीं आया।
(14) महावीर से पूर्व महाश्रमण केशी कुमार हुए ऐसा माना है।	(14) भगवान महावीर से पूर्व केशी कुमार नाम के कोई महामुनि नहीं हुए।
(15) माता त्रिशला ने महाराजा के शयनकक्ष में जाकर उनको जगाकर अपने स्वप्न बताये। उनका फल राजदरबार में विद्वान पंडितों को बुलाकर पूछा।	(15) माता त्रिशला पिछली रात्रि में स्वप्न देखकर अगले दिन प्रातः राजदरबार में जाकर महाराज सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछती हैं।
(16) गर्भ में यह जानकर कि माता को कष्ट हो रहा है महावीर ने हलन-चलन बंद कर दिया था। उनका यह नियम था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक	(16) गर्भधारण करने से माता को कोई कष्ट नहीं था, न ही गर्भ में महावीर ने ऐसा कोई नियम लिया कि माता-पिता के जीवित रहने तक दीक्षा नहीं लूंगा।

पाठ-5 – दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता	दिगम्बर परम्परा की मान्यता
(1) महावीर पहले देवानंदा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में आये पुनः इन्द्र ने उनका गर्भपरिवर्तन करके रानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया।	(1) भगवान महावीर ने त्रिशला के गर्भ में ही अवतार लिया।
(2) बिहार प्रान्त के 'लिछवाड़' ग्राम में महावीर का जन्म हुआ था।	(2) महावीर का जन्म विदेह देश (वर्तमान बिहार प्रान्त) की कुण्डलपुर नगरी (वर्तमान नालंदा जिला) में हुआ था।
(3) वे माता-पिता एवं गुरु को नमस्कार करते थे।	(3) महावीर अपने माता-पिता, मुनि आदि किसी को भी नमस्कार नहीं करते थे। तीर्थंकर प्रकृति के नियमानुसार सभी तीर्थंकर केवल सिद्धों को नमन करते हैं और किसी को नहीं।
(4) यशोदा नामक राजकुमारी के साथ उनका विवाह हुआ और उनकी प्रियदर्शना नामक पुत्री थी। उसके पश्चात् राज्य संचालन कर वे दीक्षाधारण कर देवदूष्य वस्त्रों को पहनते थे और दीक्षा के दूसरे वर्ष में उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया था और वे अचेलक हो गये थे।	(4) महावीर ने 30 वर्ष की युवावस्था में दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की, वे बालब्रह्मचारी थे। महावीर अपनी माता के इकलौते पुत्र थे क्योंकि तीर्थंकर माता मात्र एक पुत्र को ही जन्म देती है।
(5) महावीर यत्र-तत्र ग्रामों में विहार करते रहे और सबसे वार्तालाप करते रहे। चंडकौशिक सर्प के काटने पर उनके पैरों से दूध की धारा निकल पड़ी, उनके शरीर पर कीलें ठोकी गईं।	(5) दीक्षा के बाद महावीर ने मौनपूर्वक विहार किया और 12 वर्ष की तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया।
(6) महावीर के ऊपर जगह-जगह तमाम नगरों में उपसर्ग हुआ। लोगों ने उन्हें बांधा, मारा, जेल में डाल दिया, उछालकर फेंक दिया, आग लगा दी.....इत्यादि।	(6) महावीर पर उज्जयिनी के अतिमुक्तक वन में ध्यानावस्था में रुद्र ने मात्र एक बार उपसर्ग किया और ध्यान के बल पर उपसर्ग को जीतकर महावीर तीर्थंकर बने। दिगम्बर परम्परानुसार कोई भी उपसर्गकर्ता तीर्थंकर के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता है, उपसर्ग उनके चारों ओर होता है, तीर्थंकर को कोई कष्ट नहीं हो सकता है। महावीर अपने जीवन में कभी बीमार नहीं हुए, क्योंकि तीर्थंकर के शरीर में प्रारंभ से अंत तक कोई रोग नहीं होता है।

(7) गोशालक ने भगवान महावीर पर तेजोलेश्या का प्रहार किया।	(7) गोशालक नामक कोई व्यक्ति भगवान महावीर के जीवनकाल में नहीं हुआ।
(8) भगवान महावीर ने दीक्षा के पश्चात् चातुर्मास किये।	(8) तीर्थंकर दीक्षा के पश्चात् वर्षायोग नहीं करते।
(9) श्वेताम्बर में दिगम्बर चित्र बनाते हुए उसके आगे पेड़ आड़ा कर देते हैं, सामने सर्प या आशीर्वाद का हाथ आड़ा करके नग्नता को ढक देते हैं।	(9) भगवान महावीर को दीक्षा लेने के पश्चात् नग्न दिगम्बर अवस्था में दिखाया जाता है।
(10) भगवान महावीर ने गौतम गणधर को निर्वाण जाने के समय अन्यत्र भेज दिया ताकि उनको वियोग का दुःख न हो।	(10) भगवान महावीर ने अपने निर्वाण काल की बेला में गौतम गणधर को अन्यत्र जाने का आदेश नहीं दिया क्योंकि वे तो पूर्ण वीतरागी थे।
(11) महावीर की माता ने 14 स्वप्न देखे।	(11) महावीर की माता ने 16 स्वप्न देखे जैसा कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता अपने गर्भ में तीर्थंकर के आने के पहले 16 स्वप्न ही देखती हैं।
(12) रानी त्रिशला के महावीर से पहले एक पुत्र नंदीवर्धन तथा पुत्री सुदर्शना थे अर्थात् महावीर से पूर्व उनके एक भाई और एक बहन थी।	(12) रानी त्रिशला के केवल एक ही पुत्र भगवान महावीर थे।
(13) महावीर का एक नाम वैशालिक भी माना है।	(13) किन्हीं भी ग्रंथों में भगवान महावीर का नाम वैशालिक नहीं आया।
(14) महावीर से पूर्व महाश्रमण केशी कुमार हुए ऐसा माना है।	(14) भगवान महावीर से पूर्व केशी कुमार नाम के कोई महामुनि नहीं हुए।
(15) माता त्रिशला ने महाराजा के शयनकक्ष में जाकर उनको जगाकर अपने स्वप्न बताये। उनका फल राजदरबार में विद्वान पंडितों को बुलाकर पूछा।	(15) माता त्रिशला पिछली रात्रि में स्वप्न देखकर अगले दिन प्रातः राजदरबार में जाकर महाराज सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछती हैं।
(16) गर्भ में यह जानकर कि माता को कष्ट हो रहा है महावीर ने हलन-चलन बंद कर दिया था। उनका यह नियम था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक	(16) गर्भधारण करने से माता को कोई कष्ट नहीं था, न ही गर्भ में महावीर ने ऐसा कोई नियम लिया कि माता-पिता के जीवित रहने तक दीक्षा नहीं लूंगा।

दीक्षा नहीं लूंगा।

(17) पांडुकशिला पर इन्द्र भगवान को गोद में लेकर बैठता है।

(18) बाल्यावस्था में महावीर स्कूल में पढ़ने गये।

(19) माता-पिता आदि को प्रणाम करते हैं।

(20) भगवान ने अशोक वृक्ष के नीचे दीक्षा धारण की।

(21) ध्यानस्थ अवस्था में गोशालक उनके पास बैल बांध गया पुन: आने पर बैल नहीं मिले तो उस गोशालक ने महावीर स्वामी को कोड़े मारे।

(22) इन्द्र ने भगवान महावीर के दीक्षा काल में आने वाले उपसर्गों से रक्षा के लिए साथ में रहने का निवेदन किया किन्तु भगवान ने मना कर दिया।

(23) मोराक ग्राम के तापस आश्रम में चातुर्मास किया तथा कुटिया की घास गायों द्वारा खा जाने पर कुलपति ने महावीर को उपालंभ दिया। इस पर महावीर आश्रम छोड़कर अन्यत्र चले गये।

(24) भिक्षा, गवेषणा मार्ग, ज्ञान तथा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर के अतिरिक्त मौनपूर्वक रहने का नियम लिया।

(25) भ्रमण काल में अस्तिक ग्राम में एक सुनसान वैदिक मंदिर में ठहरे वहाँ के यक्ष ने घोर उपसर्ग किया। अंत में हारकर भक्त बन गया।

(26) कनखल आश्रम से श्वेताम्बी जाने के रास्ते में ध्यान

(17) जन्माभिषेक के समय इन्द्र भगवान को गोद में लेकर पांडुकशिला पर नहीं बैठता है।

(18) तीर्थंकर स्कूल में पढ़ने नही जाते हैं वे तो जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते हैं।

(19) दीक्षा के पूर्व या पश्चात् तीर्थंकर माता-पिता अथवा मुनियों को भी नमस्कार नहीं करते।

(20) भगवान ने साल वृक्ष के नीचे दीक्षा धारण की।

(21) महावीर स्वामी के दीक्षा लेने के पश्चात् किसी भी गोशालक ने कोई उपसर्ग नहीं किया।

(22) इन्द्र ने कभी भी भगवान महावीर को दीक्षा काल में यातनाओं से बचाने के लिए साथ में रहने का निवेदन नहीं किया।

(23) मुनि अवस्था में मोराक नगर के तापस आश्रम में नहीं ठहरे।

(24) दीक्षा लेने के पचात् तीर्थंकर किसी से किसी भी प्रकार का वार्तालाप, चर्चा, शंका-समाधान आदि नहीं करते। (दीक्षा लेने से केवलज्ञान होने तक)

(25) विहारकाल में अस्तिक ग्राम में किसी भी वैदिक मंदिर में नही ठहरे।

(26) भगवान के विहार में कनखल आश्रम में जाने

में खड़े महावीर पर चण्डकौशिक सर्प ने दंशा घात किया जिसमें महावीर के पैर से दूध की धारा बह निकली। सर्प शांत हो गया उसे घी शक्कर अर्पित करने लगे जिससे उस पर असंख्य चीटियाँ चढ़ गई जिससे मरकर देव बन गया।

का कोई विवरण नहीं आता।

(27) संगम देव ने दीक्षित अवस्था में कभी पत्नी बनकर, कभी रूप लावण्य स्त्री का रूप धरकर, कभी पक्षी बनकर, कभी भगवान को चोरीकला का गुरु घोषित कर, कभी हाथी आदि जंगली जानवर बनकर 6 माह तक घोर उपसर्ग किया।

(27) संगम देव ने सर्प बनकर भगवान महावीर की बाल्यकाल में मात्र एक दिन वीरता की परीक्षा ली थी।

(28) संगमदेव की पापवर्धित क्रियाओं को देखकर उसके प्रति करुणा भाव से भगवान महावीर के नेत्र सजल हो गये।

(28) भगवान महावीर दीक्षित अवस्था में कष्टों से अथवा स्नेहवश कभी भी रोये नहीं (अश्रुपात नहीं हुए)।

(29) गोकुल ग्राम में गोपी वत्सपालिका के यहाँ छह मास के उपवास के बाद पारणा हुआ।

(29) ऐसा कोई पारणा नहीं हुआ क्योंकि महावीर इस तरह यत्र-तत्र भोजन—पारणा/आहार नहीं करते थे।

(30) दीक्षा के 13वें वर्ष में घम्माणी ग्राम में एक ग्वाले ने घोर उपसर्ग किया। अपने बैल ध्यानस्थ भगवान के पास छोड़ गया। लौट कर आने पर बैल नहीं मिलने पर क्रोधित होकर उस ग्वाले ने भगवान के दोनों कानों में लकड़ी की कीलें ठोंकी, इस असहनीय कष्ट को भगवान ने मौनभावपूर्वक सहन किया। कीलें ठुकी अवस्था में मध्यमा नगरी में एक श्रावक के यहाँ भिक्षार्थ आये, यहाँ एक वैद्य ने उनकी दारुण पीड़ा को देखकर तेल आदि का लेपकर कीलें खींची जिसके कारण खून की तेजधार निकल पड़ी। जिससे भगवान को अपार वेदना हुई। फिर भी वे विचलित नहीं हुए। उपसर्गों का प्रारंभ बैलों के निमित्त से हुआ तथा उपसर्गों का समापन भी बैलों के निमित्त से हुआ।

(30) ऐसा कोई उपसर्ग नहीं हुआ।

(31) चंदनबाला से आहार वाले दिन भगवान ने 13 नियमों की विधि ली थी।

(31) चंदनबाला को भक्तिवश सहज में महावीर को आहारदान देने का योग प्राप्त हुआ था।

(32) चंदनबाला को उड़द के बाकले सूप में खाने

(32) चंदनबाला को मिट्टी के सकोरे में कोदों का

के लिए दिये जाते थे।

(33) चंदना को कौशाम्बी में नीलाम कर दिया गया सेठ ने दासी के रूप में रखा।

(34) गोशालक ने भगवान महावीर पर तेजोलेश्या फेकी।

(35) भगवान महावीर को गोदुह्य आसन से केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

(36) केवलज्ञान होने के पश्चात् भी उपसर्ग हुए।

(37) केवलज्ञान होने के पश्चात् भी तीर्थंकर भगवान महावीर भक्तों से वार्तालाप करते थे, हाथ से आशीर्वाद देते थे। 30 नगरों में चातुर्मास किये।

(38) भगवान महावीर सामान्य देहधारी मनुष्य थे।

(39) एक मदमस्त हाथी को वश में किया (दीक्षापूर्व-घर में रहते हुए)

(40) चातुर्याम (पांच महाव्रतों में से ब्रह्मचर्य को छोड़कर शेष चार महाव्रत चातुर्याम धर्म के रूप में भगवान पार्श्वनाथ तक माने गये हैं तथा अतिरिक्त ब्रह्मचर्य महाव्रत की मान्यता भगवान महावीर के समय से चली है, ऐसी मान्यता श्वेताम्बर परम्परा में है)।

(41) आम्रपाली नाम की वेश्या को वैशाली की नगरवधू के रूप में सम्मान प्रदान किया गया है।

भात दिया जाता था।

(33) इस प्रकार का कथानक नहीं है। सेठ ने पुत्री के रूप में अपने यहाँ रखा था किन्तु सेठानी ने शंकित होकर उसे कष्ट दिया।

(34) गोशालक नाम का कोई व्यक्ति भगवान के संपर्क में नहीं आया। न ही ऐसी कोई घटना हुई।

(35) भगवान को पद्मासन मुद्रा में केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

(36) केवलज्ञान होने के पश्चात् किसी भी प्रकार का कोई उपसर्ग तीर्थंकर पर नहीं होता है।

(37) केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर किसी से न तो वार्तालाप करते हैं और न ही हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं और न ही कहीं चातुर्मास करते हैं क्योंकि वे पूर्ण वीतरागी भगवान हो जाते हैं।

(38) वे सामान्य देहधारी मनुष्य नहीं थे, उनको जन्म से ही असाधारण तीर्थंकर प्रकृति का माहात्म्य था। वे दिव्य परमौदारिक देह के धारी थे।

(39) हाथी को वश में करने वाली घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

(40) अनादिकाल से पांचों महाव्रत सभी तीर्थंकरों ने पालन किये एवं बताये हैं।

(41) आम्रपाली वेश्या का कोई उल्लेख नहीं है, न ही वेश्याओं के इस प्रकार सम्मान की कोई बात ही आती है।

(42) भगवान महावीर का निर्वाण पावापुरी में भिन्न स्थान पर हुआ। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद उनके शरीर का जहाँ अग्नि संस्कार किया गया, वहाँ की भस्म नगरजनों ने मस्तक पर लगाई। जब भस्म नहीं रही तो लोग थोड़ी-थोड़ी मिट्टी ले गये जिससे वहाँ बड़ा सा खड्डा बन जाने से तालाब बन गया। अनंतर उसमें कमल खिलने लगे जिससे उसका नाम जलमंदिर पड़ गया।	(42) पावापुरी में कमल सरोवर के मध्य.....अधर आकाश से निर्वाण हुआ। वहीं पर इन्द्रों तथा देवों ने मिलकर अग्नि संस्कार किया था।
(43) कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में दिव्यध्वनि होते-होते अचानक बंद हो गई। तभी निर्वाण हो गया।	(43) कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी से दो दिन पूर्व योग निरोध किया। समवसरण विघटित हो गया। दो दिन सभी मनुष्य तथा देव जान गये कि अब भगवान का निर्वाण होने वाला है। सभी हाथ जोड़े हुए भगवान को निहार रहे थे। कार्तिक कृष्णा अमावस्या के ऊषा काल की बेला (सूर्योदय से 2 घड़ी पूर्व) भगवान मोक्ष पधार गये।

5.1 प्रश्नावली—

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-दिगम्बर परम्परानुसार महावीर भगवान का जन्म कहाँ हुआ था ?

(क) कुण्डलपुर ☐ (ख) पावापुर ☐ (ग) राजगृही ☐

प्रश्न 2-दिगम्बर परम्परानुसार भगवान महावीर ने कितने वर्ष की उम्र में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की ?

(क) 25 वर्ष ☐ (ख) 30 वर्ष ☐ (ग) 70 वर्ष ☐

प्रश्न 3-दिगम्बर परम्परानुसार भगवान महावीर ने किस वृक्ष के नीचे दीक्षा ली ?

(क) साल वृक्ष ☐ (ख) अशोक वृक्ष ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-"भगवान महावीर पर उपसर्ग हुआ" इस पर दोनों परम्पराओं में क्या मान्यता है बताइए।

प्रश्न 2-तीर्थंकर भगवान के भाई बहन होते हैं या नहीं ? इस बात को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3-भगवान महावीर को आहार किसने दिया ?

प्रश्न 4-भगवान महावीर को निर्वाण कहाँ से हुआ ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-तीर्थंकर महावीर के गर्भ, जन्म और निर्वाण के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में क्या मान्यताएँ हैं ? बताइए।

जैन दर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण

-संदर्भ ग्रंथ-

1. बहत्तर कलाएँ -आचार्य श्री कनकनंदी जी
2. श्रावक संस्कार निर्देशिका -प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी
3. भारतीय दर्शन में आत्मा एवं परमात्मा -डॉ. वीरसागर जैन
4. जैनदर्शन में नयवाद -डॉ. सुखनंदन जैन
5. अहिंसा दर्शन -डॉ. अनेकान्त कुमार जैन
6. आचार्य धर्मसागर अभिवंदन ग्रंथ
7. विश्वविद्या ग्रंथ
8. छंद शतक -कविवर श्री वृंदावन जी
9. अनेकांत पत्रिका (जनवरी-मार्च 2013)
10. अर्हत वचन् (जनवरी-मार्च 2004)
11. अर्हत् वचन (जुलाई-सितम्बर 2007)
12. अर्हत वचन् (अप्रैल-जून 2006)
13. www.encyclopediaofjainism.com

प्रश्नावली (Questions Bank)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1- जैन आगम में षड् द्रव्यादिकों का वर्णन.....कहलाता है।

(क) नव पदार्थ ☐ (ख) पंचास्तिकाय ☐ (ग) पूर्वगत ☐

प्रश्न 2- तत्त्वानुशासन ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) कुन्दकुन्दाचार्य ☐ (ख) ब्रह्मदेव सूरि ☐ (ग) आचार्य श्री रामसेन ☐

प्रश्न 3- छह द्रव्यों में से एक-

(क) आकाश ☐ (ख) आत्मा ☐ (ग) स्वाध्याय ☐

प्रश्न 4- सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

(क) महर्षि कपिल ☐ (ख) भगवान ऋषभदेव ☐ (ग) मारीचि ☐

प्रश्न 5- प्रकृति और पुरुष क्या हैं ?

(क) संसार और दु:ख के कारण

(ख) जड़ और अचेतन

(ग) सांख्य दर्शन में माने गए तत्त्वों में मूलभूत तत्त्व

प्रश्न 6- चित्त की वृत्तियाँ कितने प्रकार की हैं-

(क) 2 ☐ (ख) 5 ☐ (ग) 4 ☐

प्रश्न 7- दर्शनशास्त्र के उद्भव का मूल कारण एवं प्रयोजन क्या है ?

(क) भूतचतुष्टय ☐ (ख) विशिष्ट परिणमन ☐ (ग) आत्मज्ञान ☐

प्रश्न 8- किस अवस्था में आत्मा अपने सम्पूर्ण विकारों/दोषों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप में पूर्ण विकसित हो जाती है ?

(क) मुक्त अवस्था ☐ (ख) संसारी अवस्था ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 9- आत्मा को सर्वथा नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और निष्क्रिय कौन मानता है ?

(क) जैन दर्शन ☐ (ख) सांख्य दर्शन ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 10- जिसे आधुनिक युग में विज्ञान कहते हैं, उसे प्राचीन युग में क्या कहा जाता है ?

(क) शास्त्र ☐ (ख) प्रकृति ☐ (ग) दर्शन ☐

प्रश्न 11- दर्शन किसको ठोस आधार देने का काम करता है ?

(क) धर्म को ☐ (ख) प्राणी को ☐ (ग) किसी को नहीं ☐

प्रश्न 12- जगत में पदार्थ कितने प्रकार के हैं ?

(क) 5 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 2 ☐

प्रश्न 13-जिसके द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, उसे.....कहते हैं।

(क) करण ☐ (ख) प्रमाण ☐ (ग) साधन ☐

प्रश्न 14-"जानना या प्रमारूप क्रिया चेतन है और चेतन क्रिया में साधकतम कारण कोई अचेतन नहीं हो सकता" यह किसकी मान्यता है ?

(क) वैशेषिक दर्शन ☐ (ख) बौद्धदर्शन ☐ (ग) जैनदर्शन ☐

प्रश्न 15-'स्व' और 'पर' को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण किसने कहा है ?

(क) आचार्य श्री समन्तभद्र

(ख) आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर

(ग) आचार्य श्री अकलंकदेव

प्रश्न 16-पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं ?

(क) 2 ☐ (ख) 4 ☐ (ग) 8 ☐

प्रश्न 17-अवधिज्ञान के दो भेदों में से एक-

(क) विकल प्रत्यक्ष ☐ (ख) सकल प्रत्यक्ष ☐ (ग) गुणप्रत्यय ☐

प्रश्न 18-जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसे क्या कहते हैं ?

(क) अवधिज्ञान ☐ (ख) मन:पर्ययज्ञान ☐ (ग) मुख्य प्रत्यक्ष ☐

प्रश्न 19-"जो श्रुतप्रमाण द्वारा जाने गए अर्थ के किसी एक अंश या धर्म का कथन करता है, वह नय है" नय की नय की परिभाषा किन आचार्य ने बताई है ?

(क) श्री मल्लिषेण सूरि ☐ (ख) श्री वादिदेव सूरि ☐ (ग) श्री विद्यानंद स्वामी ☐

प्रश्न 20-नय के द्वारा किसका परिज्ञान होता है ?

(क) अहिंसा धर्म का

(ख) संसार और मोक्ष का

(ग) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का

प्रश्न 21-वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाए, वह.....है।

(क) प्रमाण ☐ (ख) तर्क ☐ (ग) नय ☐

प्रश्न 22-जैनदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु.....है।

(क) अनेक धर्मात्मक ☐ (ख) अति सुन्दर ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 23-अनेकांत किसे कहते हैं ?

(क) मिथ्या ज्ञान को ☐ (ख) सम्यक् ज्ञान को ☐ (ग) एकान्तों के समूह को ☐

प्रश्न 24-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों मिलकर ही.....है।

(क) पदार्थ का लक्षण ☐ (ख) द्रव्य का लक्षण ☐ (ग) अनेकांत का लक्षण ☐

प्रश्न 25-वेदों की संख्या कितनी है ?

(क) चार ☐ (ख) तीन ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 26-विश्व की सबसे पुरानी पुस्तक किसे कहा जाता है ?

(क) यजुर्वेद ☐ (ख) ऋग्वेद ☐ (ग) सामवेद ☐

प्रश्न 27-'सिक्खपंथ' को किसने चलाया ?

(क) ईसामसीह ☐ (ख) गौतम बुद्ध ☐ (ग) गुरु नानक देव ☐

प्रश्न 28-.....ने अहिंसा को ही परमब्रह्म कहा है।

(क) आचार्य जिनसेन स्वामी

(ख) आचार्य समन्तभद्र स्वामी

(ग) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 29-हिंसा का मूल कारण क्या है ?

(क) प्रमाद ☐ (ख) चेतना ☐ (ग) प्रमाद और चेतना दोनों ☐

प्रश्न 30-पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास.....है।

(क) द्रव्य प्राण ☐ (ख) भावप्राण ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 31-पाँच अणुव्रतों में से एक-

(क) हिंसा ☐ (ख) क्रोध ☐ (ग) अपरिग्रह ☐

प्रश्न 32-परिग्रह कितने प्रकार का है ?

(क) पाँच ☐ (ख) दो ☐ (ग) दश ☐

प्रश्न 33-मिथ्यात्व कौन सा परिग्रह है ?

(क) अभ्यंतर ☐ (ख) बाह्य ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 34-परमार्थ से जो परिणमन करता है, वह कहलाता है।

(क) कर्ता ☐ (ख) कर्म ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 35-उत्पन्न होना, विनष्ट होना और ध्रुव रहना ".....” है।

(क) पदार्थ ☐ (ख) तत्त्व ☐ (ग) उत्पाद ☐

प्रश्न 36-अन्त कहते हैं ।

(क) अंश ☐ (ख) धर्म ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 37-भारत तथा अन्य देशों में अहिंसामय सिद्धान्त को किस रूप में प्रयोग किया है ?

(क) सत्याग्रह ☐ (ख) जैन संस्कृति ☐ (ग) सभ्यता ☐

प्रश्न 38-.....के अनुसार यह अज्ञान का नाश करने वाला है ?

(क) अकलंक ☐ (ख) समन्तभद्र ☐ (ग) मानतुंग ☐

प्रश्न 39- अमरीका और कनाडा में जैन बंधु कितनी संख्या में बसे हुए हैं ?

(क) 40000 ☐ (ख) 50000 ☐ (ग) 60000 ☐

प्रश्न 40- मंगोलिया के भूगर्भ से क्या प्राप्त हुए हैं ?

(क) जैन स्मारक ☐ (ख) नगर ☐ (ग) शास्त्र ☐

प्रश्न 41- हंगरी के बुडापेस्ट नगर में भूगर्भ से कौन सी प्रतिमा प्राप्त हुई ?

(क) आदिनाथ-पार्श्वनाथ

(ख) आदिनाथ-महावीर स्वामी

(ग) नेमिनाथ-वासुपूज्य स्वामी

प्रश्न 42- ब्रह्मदेव को क्या कहा गया है ?

(क) रत्नदीप ☐ (ख) रजतदीप ☐ (ग) स्वर्णदीप ☐

प्रश्न 43- नंदवर्धन की राजधानी कौन सी थी ?

(क) पाटलीपुत्र ☐ (ख) उड़ीसा ☐ (ग) तक्षशिला ☐

प्रश्न 44- खारवेल राजा के पिता का क्या नाम था ?

(क) बुद्धिरमण ☐ (ख) क्षेत्रराज ☐ (ग) कुमारपाल ☐

प्रश्न 45- मगध के अधिपति कौन थे ?

(क) नेबुचन्द्र नेजर ☐ (ख) श्रेणिक बिम्बसार ☐ (ग) अमोघवर्ष ☐

प्रश्न 46- भगवान आदिनाथ के कितने पुत्र थे ?

(क) पाँच ☐ (ख) पचास ☐ (ग) सौ ☐

प्रश्न 47- वर्तमान संसार में प्रधान लिपियाँ कितनी प्रचलित हैं ?

(क) सौ ☐ (ख) दौ सौ ☐ (ग) चार सौ ☐

प्रश्न 48- नाटक में कितने रस होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) सात ☐ (ग) नौ ☐

प्रश्न 49- मानव जीवन निर्माण में संस्कार कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) दस ☐ (ख) बारह ☐ (ग) सोलह ☐

प्रश्न 50- प्रीति संस्कार गर्भ के दिन से कौन से महीने में दिया जाता है ?

(क) पाँचवें महीने में ☐ (ख) दूसरे महीने में ☐ (ग) तीसरे महीनें में ☐

प्रश्न 51- नवें महीने में कौन सा संस्कार किया जाता है ?

(क) सुप्रीति संस्कार ☐ (ख) भोद संस्कार ☐ (ग) धृति संस्कार ☐

प्रश्न 52- ब्रिटिश सरकार ने मानव क्लोनिंग की इजाजत किस सन् में दी ?

(क) सन् 1998 ☐ (ख) सन् 2001 ☐ (ग) सन् 2005 ☐

प्रश्न 53- कितने परीक्षणों की असफलता के बाद क्लोनिंग के द्वारा पहली क्लोन भेड़ का जन्म हुआ था ?

(क) 200 ☐ (ख) 100 ☐ (ग) 277 ☐

प्रश्न 54- किस सन् में जेनेटिक कोड़ों और कर्म परमाणुओं के बीच के संबंधों पर परिकल्पना दी गई ?

(क) सन् 1995 ☐ (ख) सन् 1998 ☐ (ग) सन् 2002 ☐

प्रश्न 55- समवसरण में कितनी भूमि होती हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) आठ ☐ (ग) छह ☐

प्रश्न 56- कल्पवृक्ष कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) दस ☐ (ख) सात ☐ (ग) बारह ☐

प्रश्न 57- श्री शांतिनाथ का दीक्षावन कौन सा है ?

(क) सिद्धार्थ वन ☐ (ख) सहस्त्रनाम वन ☐ (ग) सहेतुक वन ☐

प्रश्न 58- नंदीश्वर द्वीप कौन से नंबर का द्वीप है ?

(क) पाँचवा ☐ (ख) आठवाँ ☐ (ग) दसवाँ ☐

प्रश्न 59- भगवज्जिनसेनाचार्य किस शती के हैं ?

(क) 5वीं शती ☐ (ख) 7वीं शती ☐ (ग) 9वीं शती ☐

प्रश्न 60- पार्श्वपुराण के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य पार्श्वदेव ☐ (ख) पं. दौलतराम जी ☐ (ग) श्री भूधरदास कवि ☐

प्रश्न 61- कविवर वृंदावन जी द्वारा रचित "छंद शतक" में कितने प्रकार के छंदों का वर्णन है ?

(क) पचास ☐ (ख) सौ ☐ (ग) डेढ़ सौ ☐

प्रश्न 62- छंद शास्त्र में गज कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) सात ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 63- भगण का स्वामी किसको बताया है ?

(क) पृथ्वी ☐ (ख) सूर्य ☐ (ग) चन्द्रमा ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- आत्मा के पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 2- जीव और आत्मा में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 3- त्रस जीव कितने प्रकार के होते हैं, भेद-प्रभेद सहित बताइए ?

प्रश्न 4- आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा कितने प्रकार का है, परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 5- क्लेश कितने प्रकार का है, परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 6- योग दर्शन में योग के कितने अंग बताए हैं, उनके नाम एवं लक्षण बताइए ?

प्रश्न 7- न्यायदर्शन के अनुसार किन सोलह तत्त्वों के समीचीन ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है ?

प्रश्न 8- आत्मज्ञान की 4 प्रतिपत्तियाँ कौन सी हैं, इन चारों प्रतिपत्तियों को पूर्ण करने वाले जीव को क्या प्राप्त होता है?

प्रश्न 9- सांख्य-योगदर्शन और जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप में क्या समानताएं हैं ?

प्रश्न 10- मीमांसा दर्शन और जैनदर्शन में आत्मा का क्या स्वरूप माना है ? संक्षेप में समानता व असमानता दोनों को तीन-तीन परिभाषाओं द्वारा बताइए ?

प्रश्न 11- विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन में एवं जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप में क्या असमानताएँ हैं ?

प्रश्न 12- बौद्ध दर्शन और जैनदर्शन में आत्मा के स्वरूप के संबंध में क्या-क्या समानताएँ और क्या असमानताएँ हैं ?

प्रश्न 13- आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप क्या है ? संक्षेप में बताइए ?

प्रश्न 14- आत्मा शरीर से भिन्न एक अलग स्वतंत्र तत्त्व है, इसे किन तीन वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा सिद्ध किया गया है?

प्रश्न 15- सभी जीवों में कौन-कौन से समान लक्षण पाये जाते हैं ?

प्रश्न 16- पेड़-पौधों में भी जैविक भावनाएँ बहुत गहरी होती हैं, इसे 4 कषायों और चार संज्ञाओं द्वारा किस प्रकार सिद्ध किया है, किन्हीं 3 को बताइए ?

प्रश्न 17- विभिन्न दर्शनों द्वारा मान्य प्रमाणभेद में से किन्हीं तीन को बताइए ?

प्रश्न 18- न्याय दर्शन में प्रत्यक्षज्ञान के कितनेभेद किए हैं, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 19- इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

प्रश्न 20- दर्शन और अवग्रह में क्या भेद हैं ?

प्रश्न 21- अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 22- परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं तथा इसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न 23- प्रत्यभिज्ञान की परिभाषा उदाहरण सहित बताओ ?

प्रश्न 24- तर्क और अनुमान में भेद निरूपित कीजिए ?

प्रश्न 25- प्रमाण और नय में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 26- मति आदि पाँच ज्ञानों में कितने ज्ञान मूक और कितने ज्ञान अमूक हैं और क्यों ?

प्रश्न 27- काल के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 28- स्याद्वाद नय या सप्तभंगी नय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 29- भारतीय दर्शनों के क्षेत्र में जैनदर्शन की मौलिक देन क्या है ? सिद्ध कीजिए ?

प्रश्न 30- नय मिथ्या कैसे हो जाते हैं ?

प्रश्न 31- नयवाद हमें कौन सी कला सिखाता है ?

प्रश्न 32- जैनदर्शन के अनुसार वस्तु का स्वभाव क्या है ? और उसमें प्रतिक्षण क्या पाया जाता है ?

प्रश्न 33- 'वेद' क्या है ? इनकी संख्या कितनी है ? नाम सहित बताइए ?

प्रश्न 34- सिक्खधर्म में अहिंसा का स्वरूप बताइए ?

प्रश्न 35- यहुदियों के अनुसार ईश्वर ने अहिंसा की प्रगाढ़ भावना को अभिव्यक्त करते हुए कौन से पाँच वचन बताए?

प्रश्न 36- पारसी धर्म के मतानुसार व्यक्ति के कितने कर्तव्य बताये हैं और कौन से ?

प्रश्न 37- हिंसा किसे कहते हैं एवं इसका मूल कारण क्या है ? बताइए ?

प्रश्न 38- हमें जमीकंद एवं बाजार की वस्तुओं का सेवन क्यों नहीं करना चाहिए ?

प्रश्न 39- जैनधर्म में पदार्थ रात्रि भोजन का निषेध क्यों है ?

प्रश्न 40- स्याद्वाद का क्या अर्थ है ? बताइए ?

प्रश्न 41- अणुव्रत कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 42-परिग्रह के कितने भेद हैं एवं उनके उत्तरभेद भी नाम सहित बताइए ?
प्रश्न 43-ज्यादा परिग्रह अथवा कम परिग्रह रखने से हमें कौन-कौन गति प्राप्त होती है ?
प्रश्न 44-परिग्रह किसे कहते हैं ?
प्रश्न 45-द्रव्य का लक्षण क्या है ? बताइए ?
प्रश्न 46-द्रव्य से उत्पाद और व्यय भिन्न है या अभिन्न ? समझाइए ?
प्रश्न 47-अनेकांत का स्वरूप क्या है ?
प्रश्न 48-स्व-देश में जैनेतरों पर जैनधर्म का प्रभाव कैसे हुआ लिखिए ?
प्रश्न 49-विदेशों में जैनधर्म का आधुनिक यंग में प्रचार-प्रसार किस रूप में हुआ ?
प्रश्न 50-व्यापारियों में जैनधर्म का प्रचार कैसे किया था ?
प्रश्न 51-तिब्बत देश में जैनधर्म के प्रचार का वर्णन लिखिए ?
प्रश्न 52-नेपाल देश में जैनधर्म कहाँ तक फैला हुआ था ?
प्रश्न 53-बंगला देश एवं निकटवर्ती क्षेत्रों में जैनधर्म किस प्रकार पहुँचा था ? लिखिए ?
प्रश्न 54-मिस्र में जैनधर्म प्रभाव किस रूप में था ?
प्रश्न 55-1318-1338 विक्रम में जिन धर्म का प्रचार कैसे हुआ था ?
प्रश्न 56-इस्लाम में जैनधर्प कैसे प्रचलित था ?
प्रश्न 57-भगवान ऋषभदेव ने पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी को कौन सी विद्या सिखाई ?
प्रश्न 58-जैनधर्म, हिन्दू धर्म, यहूदी एवं इस्लाम धर्म के अनुसार ब्राह्मी लिपि के निर्माता कौन है ?
प्रश्न 59-लिखित कला या लिपि कला किसे कहते हैं ?
प्रश्न 60-शिल्पकला का लक्षण लिखो ?
प्रश्न 61-नामकर्म संस्कार जन्म के कितने दिन बाद किया जाता है ?
प्रश्न 62-अन्न प्रासन संस्कार में कब करना चाहिए और इसके मंत्र कौन से हैं ?
प्रश्न 63-यज्ञोपवीत पहनने का मंत्र लिखें ?
प्रश्न 64-यज्ञोपवीत धारने का उद्देश्य क्या है ?
प्रश्न 65-क्लोनिंग का अभिप्राय क्या है ?
प्रश्न 66-क्लोनिंग की उपयोगिता क्या है ?
प्रश्न 67-मानव क्लोनिंग में संभावित दुरुपयोग क्या है ?
प्रश्न 68-आत्मा, पुनर्जन्म तथा क्लोनिंग इनमें से वैज्ञानिकों ने किनमें सफलता प्राप्त की है ?
प्रश्न 69-जैनधर्म में वृक्ष और तीर्थंकरों का क्या संबंध है ?
प्रश्न 70-श्री चन्द्रप्रभ एवं तीर्थंकर अनंतनाथ ने किस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया ?
प्रश्न 71-वटवृक्ष के संस्कृत नाम कौन से हैं ?
प्रश्न 72-शाल्मली वक्ष किन विकारों को दूर करता है ?
प्रश्न 73-जैन मंदिर में संगीत का प्रारंभ कब से हुआ ?
प्रश्न 74-महापुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी ने संगीत के बारे में क्या लिखा है ?
प्रश्न 75-'भरतेश वैभव' में चक्रवर्ती भरत की राजसभा में कौन सा संगीत प्रस्तुत किया गया है ?
प्रश्न 76-भागवत पुराण में संगीत विद्या के बारे में क्या लिखा है ?

प्रश्न 77- मगज किसे कहते हैं ? इसका स्वामी और इसका फल क्या है ?

प्रश्न 78- सभी गणों का लक्षण बताने वाला श्लोक और उसका अर्थ लिखो ?

प्रश्न 79- भुजंगप्रयात छंद का लक्षण और उदाहरण लिखो ?

प्रश्न 80- इन्द्रवज्रा छंद में कितने वर्ण होते हैं ? उदाहरण देकर बताओ ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- आत्मा के नौ विशेष गुण कौन-कौन से हैं, सविस्तार बताइए ?

प्रश्न 2- चार्वाक दर्शन में आत्मा का क्या स्वरूप स्पष्आ किया है, सविस्तार बताइए ?

प्रश्न 3- आत्मा संबंधी विविध वादों के नाम बताते हुए किन्हीं 5 की परिभाषा सहित जैन दृष्टि से समीक्षा लिखिए?

प्रश्न 4- परमात्मा का स्वरूप क्या है ? विस्तृत वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 5- बहु आदि के भेद और लक्षण बताइए ?

प्रश्न 6- जैनदर्शन के अनुसार आगमप्रमाण की विस्तृत परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 7- नय और दुर्नय में अन्तर बताते हुए नय की उपयोगिता सिद्ध कीजिए ?

प्रश्न 8- वस्तु के वस्तुत्व को बताते हुए यह बताइए कि नयों के समन्वयवादी दृष्टिकोण से क्या लाभ है ?

प्रश्न 9- "बौद्धधर्म में आरंभ से ही अहिंसा की प्रधानता रही है" इस बात को स्पष्ट कीजिए ।

प्रश्न 10- हिंसा के कितने भेद हैं ? उनके नाम बताते हुए उनकी व्याख्या कीजिए ?

प्रश्न 11- अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप समझाइए एवं अपरिग्रह को कम करने के लिए जैनों ने कौन से चार चरण मान्य किये हैं ? बताइए ?।

प्रश्न 12- एक ही वस्तु में एक साथ परस्पर विरोधी दो धर्म रह सकते हैं। इस बात को स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 13- 20वीं सदी में विदेशों में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किस माध्यम से हुआ ?

प्रश्न 14- जैन साहित्य एवं कला के माध्यम से जैनधर्म का प्रचार कैसे हुआ ?

प्रश्न 15- कलिंग सम्राट एवं खारवेल के समय जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किस प्रकार से था, लिखिए ?

प्रश्न 16- 72 कलाओं के नाम बताते हुए किन्हीं पाँच कला का वर्णन करें।

प्रश्न 17- षोडश संस्कार के नाम बताते हुए 3 संस्कार का वर्णन करें।

प्रश्न 18- जैन कर्म सिद्धान्त तथा मानव क्लोनिंग के बारे में विस्तार से बताइए ?

प्रश्न 19- उत्तरपुराण ग्रंथ के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों के केवलज्ञान वृक्ष के नाम बताए ?

प्रश्न 20- जैन वाङ्मय में संगीत के महत्व पर प्रकाश डालिए ?

प्रश्न 21- मात्रिक छंद किसे कहते हैं ? तीन मात्रिक छंद के नाम, लक्षण एवं उदाहरण लिखो ?

नोट्स